वैदिक अर्थव्यवस्था

डा. महावीर

वैदिक अर्थ-व्यवस्था

ग्रन्थकार
डॉ. महावीर डी. लिट्
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
निदेशक, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
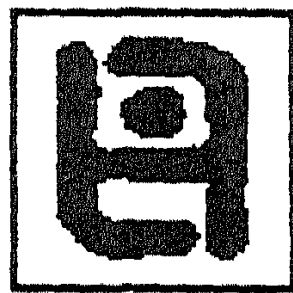
समानान्तर प्रकाशन
7/7, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

आभार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार ने शताब्दी वर्ष में मौलिक शोधपरख विशिष्ट ग्रन्थों की प्रकाशन योजनान्तर्गत हमें सुयोग्य अवसर प्रदान किया है।

❑ मूल्य : 250/- ❑ प्रथम सस्करण : 2001
❑ प्रकाशक : समानान्तर प्रकाशन, 7/7, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
❑ अक्षर संयोजन : पूर्वोदय लेज़र ग्राफिक, 7/7, दरियागंज, नई दिल्ली-2
❑ फोन : 3274956, 3244956 फैक्स : 3253796
❑ EMAIL : samanantarprakashan @ yahoo.com

VEDIC ARTH-VYAVASTHA
by Dr. Mahaveer D. LITT
ISBN : 81-86306-00-5

पुरोवाक्

वेदों की सुदृढ़ आधारशिला पर भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता का विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। अपने प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा अनुभूत तत्त्वों की विशाल विमल ज्ञानगंगा का नाम वेद है। वेद संसार की प्राचीनतम ज्ञानराशि है। वेद संतप्त और दु:खी मानव जाति को कल्याण मार्ग बताने वाला प्रकाशस्तम्भ है। मानव मात्र को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का ज्ञान कराकर उसे सुख, शान्ति और आनन्द का सच्चा मार्ग बताना वेदों का पवित्र उद्देश्य है। वेद के अमृतोपदेश हमें नीचे गिरने से बचाते हैं और ऊपर उठने की प्रेरणा देते हैं।

वेद माता संसार के कोटि-कोटि पुत्र, पुत्रियों को ***'अमृत-पुत्र'*** कह कर पुकारती है। वह स्नेह से कहती है– ***'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः'***– हे अमृत के पुत्रो। सबके सब सुनो।

वैदिक साहित्य मानव की ऐहिक और पारलौकिक उभयविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। उसमें किसी वर्ग, जाति व सम्प्रदाय को ध्यान में रखकर विचार नहीं किया गया है, अपितु मानव मात्र को लक्ष्य मानकर व्यष्टि और समष्टि के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का मार्ग प्रतिपादित किया गया है।

समस्त भारतीय साहित्य में मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष निर्धारित किया गया है। न केवल वैदिक साहित्य में अपितु लौकिक और ललित साहित्य में भी। मंज़िल बहुत आकर्षक है, किन्तु मंज़िल तक पहुंचने का मार्ग बड़ा बीहड़ है।

कुछ शरीर की आवश्यकताएँ हैं और कुछ मन व बुद्धि की है, जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य सदा प्रयत्न करता रहता है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ चाहिए। रोटी, कपड़ा और मकान तथा जीवन के समस्त सांसारिक पदार्थ इस अर्थ में समा जाते हैं।

मन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए ***'काम'*** चाहिए–स्त्री, पुरुष, पौत्रादि गृहस्थी के समस्त बन्धन इसी काम के विस्तार हैं। बुद्धि के लिए ज्ञान चाहिए– ***'बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति'***– बिना ज्ञान-विज्ञान के बुद्धि की तृप्ति नहीं होती। आत्मा के लिए ***'मोक्ष'*** चाहिए।

प्रायः वेद को अध्यात्म एवं कर्मकाण्ड का ग्रन्थ माना जाता रहा है, किन्तु आधुनिक युग-निर्माता **महर्षि दयानन्द** ने वेद को समस्त विद्याओं की गंगोत्री घोषित किया है। वैदिक चिन्तन की दृष्टि से ***'अर्थ'*** और ***'काम'*** हेय नहीं हैं–जीवन में उनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव वेद में अर्थ

विषयक चिन्तन की न्यूनता नहीं है।

वर्तमान युग अर्थ-प्रधान युग माना जाता है, संपूर्ण संसार धन की दौड़ में भागा जा रहा है, धन बढ़ रहा है और शान्ति घट रही है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री नीतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रतिदिन नये-नये विशाल कारखाने खड़े किये जा रहे हैं, किन्तु मानव को सुख प्राप्त नहीं हो रहा है। पूंजीवाद, साम्यवाद निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं, ऐसे में वेद प्रतिपादित आर्थिक चिन्तन ही मानवता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

आज विश्व में अर्थ के सम्बन्ध में जितना चिन्तन हो रहा है उतना किसी अन्य विषय में नहीं। अर्थ की आधारशिला पर ही राष्ट्रों के उन्नति के प्रासाद अधिष्ठित हैं। जिस राष्ट्र की आर्थिक स्थिति जितनी सुदृढ़ वह उतना ही महान् देश। अमेरिका, जर्मन, जापान आदि देश आर्थिक सुदृढ़ता के कारण विश्व के सिरमौर माने जाते हैं, इसलिए अर्थ-विषयक चिन्तन सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। हमारे देश भारत में भी बड़े-बड़े अर्थशास्त्री इस विषय में अहर्निश शोधरत हैं, इन अर्थशास्त्रियों की विश्व में प्रतिष्ठा है, किन्तु प्राचीन भारत का विशेषत: वैदिक वाङ्मय का आर्थिक चिन्तन सर्वथा विलक्षण है, शुद्ध है, सर्वहितकारी है, धर्म के अनुकूल है किन्तु इस विषय में वर्तमान काल में बहुत कम चिन्तन हो रहा है। इसलिए यह बहुत सामयिक प्रतीत हुआ कि विश्व के लौकिक आदि काव्य 'बाल्मीकि रामायण' पर पी-एच.डी. शोधोपाधि प्राप्त करने के उपरान्त डी. लिट्. हेतु विश्व के अलौकिक आदिकाव्य वेद पर शोध कार्य किया जाये। जैसे वेद की चार संहिताओं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान प्रतिष्ठित है वैसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय में मानव जीवन की इतिकर्तव्यता समाहित है। रम्या रामायणी कथा यदि आदि कवि का प्रथम उद्‌गार है तो वेद परमपिता परमात्मा का अमर काव्य है जो न कभी मरता है न कभी जीर्ण होता है। वेद के प्रकाश से ही रामायणादि सभी उत्तमोत्तम काव्य रत्न प्रकाशित हैं। जैसे सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि में ईश्वर का आलोक है, वैसे ही संसार के समग्र साहित्य में श्रुति का आलोक है। अत: वेद विषय में जितना शोध कार्य किया जाये उतना ही कल्याण है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'वैदिक अर्थ-व्यवस्था' इसी चिन्तनधारा का सुखद परिणाम है। चार वर्ष की अनवरत साधना तथा पूज्य माता, पिता एवं गुरुजनों की अहैतुकी कृपा का यह प्रसाद है।

धार्मिक, सत्यनिष्ठ, ईश्वरभक्त, सरल, निश्छल, स्नेह, सौजन्य की प्रतिमूर्त्ति रूप पूज्य पिताश्री ताराचन्दजी आर्य एवं सुतवत्सला, तीन नदियों

के संगम के समान परम पवित्र स्नेहमयी माँ श्रीमती त्रिवेणी देवी के असीम आशीर्वाद से देव भाषा संस्कृत के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज मेरे पास जो ज्ञान की दो-चार बून्दें हैं और संस्कृत के प्रोफेसर एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलसचिव के रूप में कार्य करने का सौभाग्य मिल रहा है वह सब इन्हीं पूज्य माता-पिता का स्नेहभरा आशीर्वाद है। पूज्य पिताजी के संकल्प के अनुरूप भले ही वेद का बहुत बड़ा विद्वान् न बन सका, लेकिन वेदोदधि के तट पर बैठे-बैठे कंकड़-पत्थर बीनने का साहस तो आ ही गया है।

शोध प्रबन्ध के ग्रन्थ रूप में प्रकाशन की सुखद वेला में अपने पूज्य गुरुजनों के चरण कमलो में प्रणामांजलि अर्पित करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति के उन्नायक, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली के प्रधान पूज्य स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती, वेदमूर्त्ति, सामवेद भाष्यकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति श्रद्धेय डॉ. रामनाथ वेदालंकार, वैदिक ज्ञानधारा को अपनी अमृत-वाणी एवं लेखनी से जन-जन तक पहुंचाने वाले, मुझे सदा पुत्रवत् स्नेह प्रदान करने वाले गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति स्वर्गीय प्रो. रामप्रसादजी वेदालंकार व्याकरण एवं दर्शन शास्त्र के उद्‌भट विद्वान् पूज्य स्वामी इन्द्रवेशजी, काव्य शास्त्र मर्मज्ञ प्रो. वेद प्रकाशजी शास्त्रीआचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री बलदेवजी आदि गुरुजनों के प्रति श्रद्धावनत होकर शत-शत वन्दन करता हूँ।

मैं पूज्य भाई श्री गोविन्द रामजी को अग्रज के रूप में प्राप्त कर स्वयं को परम सौभाग्यशाली समझता था। मेरे जीवन की प्रत्येक उपलब्धि में उनका अपार स्नेह और आशीर्वाद रहा है। संसार में किसी भाग्यशाली को ही ऐसा भाई प्राप्त होता है। उनकी छत्र-छाया में संसार की विशेषत: गृहस्थ धर्म की समस्त चिन्ताओं से मुक्त था। कभी स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं कि थी कि वे पूरे परिवारको, वृद्ध माता-पिता को, पतिव्रता पत्नी को, परम आज्ञाकारी पुत्र को, स्नेहमयी पुत्रियों को, आज्ञाकारी भाइयों को, बहनों को रोता-बिलखता छोड़कर 53 वर्ष की युवावस्था में अकस्मात संसार यात्रा पूर्ण कर ब्रह्मलीन हो जायेंगे। विश्वास नहीं होता, पूज्य भैय्या के बिना सारा संसार जीर्णा-रण्यवत् प्रतीत होता है। देवतास्वरूप अपने पूज्य भाई को कृतज्ञ श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हृदय विदीर्ण हो रहा है। अपने प्रिय भाई वेद प्रकाश, संजय कुमार तथा स्नेहमयी बहिन सौ. सुमति तथा

सौ. कान्ता के सुख, सौभाग्य के लिए प्रभु से विनम्र प्रार्थना है।

गृहस्थ जीवन का सबसे बड़ा आधार सहधर्मिणी होती है। भारत की देवियाँ अपने पति के यश, सौभाग्य, समृद्धिदीर्घायु के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा कर देती हैं। इसी भारतीय परम्परा की सम्पोषिका सहधर्मिणी डॉ. वीना अग्रवाल ने मेरी सारस्वत साधना में प्रतिपल प्रेरणा बनकर जो शक्ति प्रदान की है इस ग्रन्थ के प्रकाशन पर उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है।

अपनी गृहस्थ रूपी वाटिका के सुरभित पुष्पों की सुरभि से मन सदा प्रसन्न रहता है। उत्तम सन्तति ही सबसे बड़ा धन है। उस दयालु प्रभु का कोटि-कोटि धन्यवाद जिसने प्रिय रजत, बेटी प्रज्ञा एवं लाड़ले बेटे प्रतीक के रूप में तीन रत्न प्रदान किये और सौ. पायल के रूप में बड़ी प्यारी, सेवाधर्म परायणा, सुयोग्य पुत्रवधु प्रदान की। चारों बच्चों के सुख-सौभाग्य, दीर्घायु के लिए प्रभु से विनम्र प्रार्थना है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन अवसर पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मान्य कुलपति डॉ. धर्मपालजी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता तथा परमादर समर्पित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

ग्रन्थ लेखन में प्रारम्भ से अन्त तक श्रद्धेय डॉ. कृष्ण कुमारजी अवकाश प्राप्त संस्कृत विभागाध्यक्ष, गढ़वाल विश्वविद्यालय का स्नेह एवं मार्ग दर्शन सतत प्राप्त होता रहा है, उनके प्रति हार्दिक आदर प्रकट करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मानविकी संकायाध्यक्ष डॉ. विष्णुदत्त राकेश तथा पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. जगदीश विद्यालंकार का प्रशंसनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। दोनों विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

ग्रन्थ को सुन्दर एवं आकर्षक रूप प्रदान करने के लिए 'समानान्तर' संस्थान के संपादक-निदेशक श्री प्रदीपजी को हार्दिक धन्यवाद देना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

अन्त में परमपिता परमात्मा के प्रति विनम्र प्रणामांजलि अर्पित करते हुए वेदानुरागी सज्जनों की सेवा में यह कृति सादर समर्पित है।

रक्षाबन्धन, श्रावण पूर्णिमा, 2057
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि., हरिद्वार

विदुषां वशंवद:
प्रो. महावीर

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

वेदों की महत्ता

ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, इस सत्य को कौन नकार सकता है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि ऋग्वेद ज्ञान का वह अनुपम भण्डार है, जिसमें मानव जाति का समस्त कल्याण निहित है। ऋग्वेद के समान यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद विविध विद्याओं के अक्षय कोश हैं।

मानव जाति को अभ्युदय और निःश्रेयस-ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति का सत्य और सरल मार्ग दिखाने के लिये सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रकाश हुआ था। ब्राह्मण और उपनिषदें, दर्शन और स्मृति-ग्रन्थ, पुराण तथा रामायण और महाभारत, सबके सब वेदों के इस परम महत्त्व की ऊँचे स्वर से घोषणा करते हैं।

ब्राह्मण साहित्य का मूर्धन्य ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण वेदों के सम्बन्ध में कहता है– "ऋग्वेद आदि चारों वेद परमात्मा ने इस प्रकार अनायास उत्पन्न कर दिये हैं जिस प्रकार कि श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनायास होती रहती है।"[1] शतपथ ब्राह्मणकार महर्षि याज्ञवल्क्य एक अन्य स्थान पर लिखते हैं– "उस प्रजापति परमात्मा ने श्रम किया, तप किया, और इस आपने तप द्वारा उसने त्रयी-विद्या रूप ब्रह्म को, वेद को, सबसे प्रथम उत्पन्न किया।"[2]

इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा है कि "भरद्वाज ऋषि ने तीन जन्मों में आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करके वेदों का ही अध्ययन किया। जब वह वृद्ध होकर मृत्यु-शय्या पर पड़ा था तब इन्द्र ने उससे कहा कि अगर मैं तुम्हें चौथा जन्म और दूँ तो तुम क्या करोगे? भरद्वाज ने उत्तर दिया कि उस जीवन में भी मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहकर वेदों का ही स्वाध्याय करूँगा। इस पर इन्द्र ने उसे तीन बड़े-बड़े अज्ञात पर्वत दिखाये और हर-एक से एक-एक मुट्ठी लेकर कहा–भरद्वाज। आओ, देखो, ये वेद हैं। ये अनन्त हैं, तू तो तीनों जन्मों में भी इतना थोड़ा-सा ही पढ़ पाया है। अधिकांश तो तेरे लिये अज्ञात ही पड़ा है। आओ इसे जानो। इसमें सब विद्यायें हैं।"[3]

---

1. एवं अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्।
एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः ।। शतपथ 14/5/4/10

2. स श्रान्तस्तपानो ब्रह्मैव प्रथमसृजत त्रयीमेव विद्याम् । श. 6/1/1/8

3. भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्ण सयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच, भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानि वाज्ञातानिव दर्शयाचकार। तेषां ह एकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वै एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वै त्रिभिरायुभिरन्ववोचेथाः। अथ ते इतरदननूक्तमेव। एहि इमं विद्धि। अयं वै सर्वाविद्या इति। तै. 2/10/11/3-4

इसी ब्राह्मण में कहा गया है– "ऋग्वेद और सामवेद सरस्वती के झरने हैं।"[1] "जो वेद को नहीं जानता है वह उस महान्, परमात्मा को नहीं जान सकता है।"[2]

वेद मन्त्रों को **"छन्दः"** भी कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों के इस **"छन्दः"** नाम की व्याख्या करते हुए कहा गया, "देवों को मृत्यु से भय लगा। वे त्रयी विद्या अर्थात् वेदों में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने वेदों के छन्दों (मन्त्रों) से अपने आपको ढक लिया। छन्दों का यही छन्दस्त्व है कि देवों ने मृत्यु से बचने के लिये इनसे अपने आपको आच्छादित कर लिया।"[3] ब्राह्मण की इस कवितामयी आलंकारिक भाषा का सीधा-सा अभिप्राय है कि वेदमन्त्रों में जो ज्ञान और उपदेश दिया गया है तदनुसार जीवन-यापन करने से मनुष्य मृत्यु के भय से पार हो जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समान उपनिषद् साहित्य भी वेदों की प्रशंसा से भरा पड़ा है। उपनिषद् साहित्य भारतीय अध्यात्म चिन्तनधारा का चरमोत्कर्ष है इसलिये इन्हें वेदान्त भी कहा गया। उपनिषदों के अनुसार वेदों का अन्तिम प्रयोजन अध्यात्म विद्या का उपेदश करके ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। कठोपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य है कि 'सारे वेद प्राप्त करने योग्य जिस ब्रह्म का वर्णन करते हैं उसे प्राप्त करने के लिये सब प्रकार की तपस्यायें की जाती हैं और जिसे ही प्राप्त करना चाहने वाले अभ्यासी लोग ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं, उस प्राप्त करने योग्य ओम्-पद वाच्य ब्रह्म का मैं संक्षेप में प्रवचन करता हूँ।'[4] इस प्रकार वेदों में उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञान भरा हुआ है।

ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों के अनन्तर मनु का भारतीय समाज में असीम आदर है। वे भारतीय समाज के मार्गदर्शक हैं। **औसपैंस्की** नामक प्रसिद्ध रूसी विचारक ने मनु-प्रतिपादित वर्णाश्रम-व्यवस्था की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।[5]

ये मनु महाराज वेद को ही ईश्वर प्रणीत एवं सर्वविध ज्ञान का आकर मानते हैं।[6] मनु ने वेद को समस्त धर्म का मूल मानते हुए कहा है जो लोग धर्म को जानना चाहते हैं, उनके लिये वेद परम प्रमाण है।[7]

चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीनों लोक, भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाली समस्त घटनाएं अथवा वस्तुएं ये सब वेद से ही जाने जाते हैं।[8]

---

1. ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ। तै. 1/4/4/9

2. नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम। तै. 3/12/9/7

3. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्या प्राविशस्ते छन्दोभिरच्छादयन्, यदोभिश्छादयन्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। छान्दोग्यब्राह्मण 3/4/2

4. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति, यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते परं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। कठ. उ. 2/15

5. Auspensky's - A New Model of the Universe

6. अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुद्रोह यज्ञसिद्ध्यर्थ ऋग-यजुः-सामलक्षणम ।। मनु. 1/23
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथेक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।। मनु. 1/21

7. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु. 2/6; धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। मनु. 2/13

8. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ।। मनु. 12/97

मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि "जो द्विज वेदाध्ययन न कर, अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह शूद्र हो जाता है।"[1]

आर्यों के हृदयों में वेदों के प्रति सदा से अगाध श्रद्धा और निष्ठा रही है। वे वेदों को अनेक विद्याओं का, ज्ञान विज्ञान का गम्भीर रत्ननिधि समझते थे। यही उदात्त भाव दर्शन जगत् के सर्वोच्च शिखर पर अधिष्ठित जगद्‌गुरु शंकराचार्य के वेदान्त-दर्शन शांकरभाष्य की पंक्तियों से सुस्पष्ट हो जाता है। वे वेदों के सम्बन्ध में लिखते हैं–

"ऋग्वेदादि वेद-शास्त्र अनेक विद्याओं से युक्त हैं। दीपक की भांति सब पदार्थो का बोध कराने वाले हैं। इनमें इतना अधिक ज्ञान भरा हुआ है कि ये सर्वज्ञ जैसे दीखते हैं। इनका कारण ब्रह्म ही हो सकता है। ऐसे सर्वज्ञता के लक्षण से युक्त ऋग्वेदादि शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ से भिन्न किसी अन्य से नहीं हो सकती। हम संसार में देखते हैं कि पाणिनि आदि ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में जितना ज्ञान होता है उससे कहीं अधिक ज्ञान उनके मस्तिष्क में रहता है। तभी वे वैसे ग्रन्थ लिख पाते हैं। ऋग्वेदादि का तो कहना ही क्या? वे तो सब प्रकार के ज्ञान के समुद्र हैं। उनकी उत्पत्ति तो सर्वज्ञ से ही हो सकती है। अत: सर्वज्ञ ब्रह्म ही ऋग्वेदादि का कारण है। पुरुष के श्वास-प्रश्वास की तरह अनायास ही ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई।"[2]

मीमांसाकार महर्षि **जैमिनि** ने भी वेद की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। वे वेद को नित्य एवं अपौरुषेय मानते हैं। उनकी सम्मति में वेद के स्वाध्याय से ही धर्म का वास्तविक बोध हो सकता है। वेद के स्वाध्याय के अतिरिक्त और किसी तरह धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। उनके अनुसार 'वेद की प्रेरणा, वेद की आज्ञा, जो अर्थ, जो कर्त्तव्य बताती है वही धर्म है।'[3]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार "वेदों के प्रत्येक वाक्य की रचना बुद्धिपूर्वक है।"[4] वेद को ईश्वरीय रचना मानते हुए महर्षि **कणाद** कहते हैं– 'उसका अर्थात् ईश्वर का वचन होने के कारण वेद का प्रामाण्य है।'[5]

योगसूत्रकार महर्षि **पतञ्जलि** ने परमात्मा को निरतिशय ज्ञान वाला तथा सर्वज्ञ माना है।[6] वे ईश्वर को गुरुओं का गुरु मानते हैं।[7]

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ऋषियों को जो वेद ज्ञान प्रदान करते हैं उसमें ईश्वर का क्या प्रयोजन है इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार **व्यास** लिखते हैं–

---

1. *योऽनधीत्ये द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।*
   स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय: ।। मनु. 2/168
2. *महत ऋग्वेदादे: शास्त्रस्य अनेकविधास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिन: सर्वज्ञकल्पस्य योनि: कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य, सर्वज्ञादन्यत: संभवोऽस्ति। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य 1/2*
3. *चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म:। मीमांसादर्शन 1/1/2*
4. *बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वैशेषिक 6/1/1*
5. *तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिक 1/1/3*
6. *तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। योगदर्शन 1/25*
7. *स पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात् । योग. 1/26*

''वेदशास्त्र का उपदेश देने में परमात्मा का अपना निजी कोई लाभ न होने पर भी प्राणियों पर कृपा करना उपदेश देने में प्रयोजन है। ज्ञान और धर्मोपदेश के द्वारा कल्प प्रलय और महाप्रलयों में संसारी पुरुषों का उद्धार करूँगा। इस प्रयोजन से परमात्मा वेदशास्त्र का उपदेश देते हैं।''[1]

वेद परमात्मा की रचना है इस विषय में सांख्यदर्शन स्पष्ट शब्दों में कहता है– ''क्योंकि वेद परमात्मा की अपनी निज शक्ति से प्रकट होता है इसलिये वेद स्वतः प्रमाण है।''[2]

न केवल भारतीय दर्शनों ने वेदों की महत्ता स्वीकार की है अपितु वेदांगों में मुखरूप माने जाने वाले व्याकरणशास्त्र में भी वेद का गौरव गान किया गया है। व्याकरण महाभाष्यकार महर्षि **पतञ्जलि** लिखते हैं कि ''वेद का एक शब्द भी अच्छी तरह समझा हुआ और भली-भांति क्रिया में लाया हुआ हमारे संसार को स्वर्ग बनाकर हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु बन सकता है।''[3]

वैदिक वाङ्मय में विशेषरूप से वेद की व्याख्या की दृष्टि से महर्षि **यास्क** विरचित निरुक्त का अप्रतिभ स्थान है। वेदों को समझने के लिये यह अनोखी कुञ्जी है। महर्षि यास्क निरुक्त में वेदों के सम्बन्ध में कहते हैं– ''सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसे ऋषि उत्पन्न हुए थे जो साक्षात्कृतधर्मा थे अर्थात् जिन्हें परमात्मा की प्रेरणा से वेद-मन्त्रों और उनके अर्थो का साक्षात्कार अर्थात् दर्शन हुआ था। ये साक्षात्कृतधर्मा ऋषि असाक्षात्कृतधर्मा पश्चाद्वर्ती ऋषियों को उपदेश द्वारा वेदमन्त्रों को सिखाते रहे। पश्चात् इन पीछे आने वाले ऋषियों ने वेद को समझने के लिये वेद को तथा निरुक्त और वेदांगों को ग्रन्थ-रूप में संगृहीत किया।'[4]

चारों वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आरण्यकों का भाष्य कर भारतीय इतिहास में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित कराने वाले आचार्य सायण का स्थान विद्वन्मण्डली में प्रथम पंक्ति में माना जाता है। **सायणाचार्य** ने अपने वेदों, ब्राह्मणों और आरण्यकों के भाष्यों के प्रारम्भ में एक पद्य में मंगलाचरण के रूप में कहा है–

''वेद जिस के निःश्वास के समान हैं, जिसने वेदों से अर्थात् वेदों के ज्ञान के अनुसार सारे जगत् की रचना की है, विद्याओं के तीर्थ अर्थात् प्रवर्तक उस महेश्वर परमात्मा की मैं वंदना करता हूँ।''[5]

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है, जिसकी तुलना विश्व-साहित्य

---

1. तस्यात्माऽनुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यमीति।। योग. व्या. भा. 1/25

2. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। सांख्य 5/51

3. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति। व्याकरण महाभाष्य

4. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। निरु.

5. यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ।। सायण-ऋग्वेदभाष्य प्रस्तावना

में अन्य कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। इसे उपनिषदों का सार कहा गया।[1] यह गीता वेद के विषय में कहती है– "कर्तव्य कर्मों का बोध वेद के द्वारा होता है और वह वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है।"[2] परमात्मा के स्वरूप का बोध वेद द्वारा ही होता है इस सत्य को उद्‌घाटित करते हुए गीता कहती है– "सब वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं वेदान्तकृत् हूँ अर्थात् वेदों और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का रचयिता मैं ही हूँ और वेदों का पूर्ण ज्ञाता मैं ही हूँ।"[2]

वैदिक साहित्य के पश्चात् लौकिक साहित्य में आदि-कवि वाल्मीकि-कृत रामायण का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। यह परवर्ती महाकवियों का उपजीव्य महाकाव्य है। इस अमर-रचना में श्रीराम के गुणों के वर्णन प्रसङ्ग में वेद की महिमा वर्णित है।[3] वीर हनुमान की योग्यता का वर्णन करते हुए ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं– "जिसने ऋग्वेद को नहीं पढ़ा है जिसने यजुर्वेद को नहीं सीखा और जो सामवेद को नहीं जानता वह इस प्रकार की बात नहीं कह सकता।"[4]

रामायण की तरह व्यास-प्रणीत महाभारत भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास, राजनीति और अध्यात्म का अक्षयकोष है। महाभारतकार वेद का गुणगान करते हुए लिखते हैं–

"वेद की वाणी स्वयम्भू परमात्मा द्वारा दी गई ऐसी विद्या है जिसका न आदि है न विनाश अर्थात् जो नित्य है। ऋषियों के नामों को, वेदों में वर्णित सृष्टियों को, भूतों के नाना रूपों को और विभिन्न कर्मों के प्रवर्तन को, वह ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में वेद के शब्दों में ही बनाता है।"[5]

इस प्रकार वेदों की महिमा इस देश के समग्र वैदिक, लौकिक साहित्य में व्याप्त है। स्वयं भगवती श्रुति भी स्थान-स्थान पर इस विषय को प्रकाशित कर रही है। एक स्थान पर परमात्मा कहते हैं– "हे मनुष्यो। तुम्हारे लिये मैंने वरदान देने वाली वेद माता की स्तुति कर दी है। वह मैंने तुम्हारे आगे प्रस्तुत कर दी है। वह द्विजों को पवित्र करने वाली है। आयु अर्थात् दीर्घजीवन, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन-सम्पत्ति और ब्रह्मवर्चस् वेद-माता प्रदान करती है। इन पदार्थों को ब्रह्मार्पण कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करो।"[6]

अथर्ववेद में कहा गया– "अपूर्व गुणों वाले परमात्मा द्वारा की गई वेद की वाणियां सत्य ज्ञान का उपदेश करती हुई अन्त में जहाँ पहुँचती हैं वह महान् ब्रह्म ही है।"[7]

---

1. *सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।*
   पार्थो वत्सो सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।। गीतामहात्म्य
2. *कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् । गीता 3/15*
3. *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् । गीता 15/15*
4. *वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ।*
   सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।। वा.रा. बालकाण्ड 1/14, 15
5. *अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा, ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः ।*
   नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्, वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः ।। शान्तिपर्व
6. *स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्, आयुः प्राण प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अथर्व. 19/71/1*
7. *अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् । वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ।। अथर्व. 10/8/33*

इस प्रकार विविध शास्त्रों की छाया में वेदों की महत्ता देख लेने पर अब इस युग के महामानव, अप्रतिम विद्वान्, वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द के मन्तव्य 'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है' की युक्तियुक्त विवेचना करते हुए वेद में समस्त विद्यायें किस प्रकार विद्यमान हैं, यह देखना उपयुक्त होगा।

वेदों में विविध विद्याएँ

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है–

"**न** वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं तु विद्यते। निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्।"[1]

याज्ञवल्क्य का यह कथन अक्षरशः सत्य है क्योंकि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष् आदि वेदांग तथा सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा आदि दर्शनग्रन्थ वेदों से सीधे जुड़े हुए हैं। इन ग्रन्थों में जो कुछ विस्तार से वर्णित है उसका मूल उद्गम चारों वेद ही हैं। ब्राह्मणग्रन्थ तो वेद के व्याख्यान स्रोत ही हैं, और गृह्यसूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक ग्रन्थ हैं। उपनिषदों में वेद-मन्त्रों की ही व्याख्या है। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है, और अनेक चिन्तक अन्य उपनिषदों को ईशोपनिषद् का विस्तार मानते हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, अर्थ वेद और गान्धर्व वेद का नाम ही उपवेद हैं। आयुर्वेद के विषय में इस विद्या के आकर ग्रन्थ चरक संहिता (सूत्र स्थान अ. 30) में प्रश्न उठा– **"कस्माद् आयुर्वेदः ?"** आयुर्वेद कहाँ से आया? इसके उत्तर में चरक ऋषि ने कहा– **"चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते। वेदञ्चोपदेश्या-युर्वाच्यम्"** आयु हितार्थ चिकित्सा शास्त्र का उपदेश किया गया है, और वेद का उपदेश आयु का वर्णन करने के लिए है। पुनः प्रश्न उठा– 'चारों वेदों में कौन-सा वेद चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादक है?' महर्षि ने उत्तर दिया– **'चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदान आत्मकोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्यः।'** ऋग्., यजु., साम. और अथर्व–इन चारों वेदों में अथर्व वेद में आयुर्वेद का उपदेश है। अथर्ववेद को जहाँ ब्रह्मवेद कहा गया, वहाँ चिकित्साशास्त्र को वेद होने से **'भेषज'** पद से भी सम्बोधित किया गया। ताण्ड्यब्राह्मण इसकी स्पष्टरूप से पुष्टि करता है– **'भेषजं व अथर्वाणि।'**

वैदिक संहिताओं के विशद-व्याख्या रूप इन ग्रन्थों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी, कृषि, उद्योग, यातायात, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, गणितशास्त्र, अंतरिक्ष विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, ऋतुविज्ञान, भूगर्भशास्त्र, शिक्षा, भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र आदि कोई ऐसा विषय नहीं है जो वेदों में उपलब्ध न हो।

महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्पष्ट रूप से कहते हैं– "अत्र चत्वारो वे विषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति

---

1. *याज्ञवल्क्यस्मृति*
2. *कठोपनिषद् 2-15*

कुत:? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्य: पदार्थेभ्य: प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि–

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।

वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपराया: सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।''[1]

अभिप्राय यह है कि वेदों में मुख्य रूप से चार विषय हैं– विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। विज्ञान वह है जिसमें परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध होता है, यह विज्ञान ही चारों वेदों का मुख्य विषय है।

वेद के ज्ञान को दो रूपों में वर्गीकृत किया गया है– एक विद्या है अपरा और दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक प्रकार से कार्य सिद्ध करना, और दूसरी परा विद्या जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है क्यांकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

स्वामी दयानन्द के वेदों में विज्ञान विषयक मन्तव्य पर टिप्पणी करते हुए मनीषी प्रवर **योगी अरविन्द** लिखते हैं–

"There is nothing fantstic in Dayanad's idea that Veda contains truth's of science as well as truth of religion. I will add my own conviction that Veda contains the other truths of science which the modern world does not at all possess; and in that case, Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of Vedic Wisdom."[2]

इसी आधार पर अरविन्द ने दयानन्द को– *"First discoverer of right clues to the understanding of the Vedas"* बताया है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, गणितविद्या, नौविमानविद्या, तारविद्या आदि का वर्णन वेदों के अनेक मन्त्र उद्धृत करते हुए किया है, जिससे वेदाध्ययन में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं को स्पष्ट हो जाये कि वेद विविध विद्याओं के मूलाधार हैं–

■ ब्रह्मविद्या–

सभी वेदभाष्यकार स्वीकार करते हैं कि, वेदों में ब्रह्मविद्या सर्वाधिक विस्तार से वर्णित है। यहाँ उदाहरण रूप में दो मन्त्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्ध: स्वस्तये ।।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं– **(तमीशानम्)**

---

1. *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 32*
2. *अरविन्द : Dayanand and the Veda.*
3. *ऋग्वेद 9/89/5*

ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता (**जगतस्तस्थुषस्पतिं**) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (**धियजिन्वम्**) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता (**अवसे हूमहे वयम्**) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वायामः (**पूषा**) पुष्टिकर्ता (**नः**) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति (**यथा वेदसामसद्वृधे**) हे परमेश्वर। यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानास्ति, तथैव कृपया (**रक्षिताऽसत्**) रक्षकोऽप्यस्तु। एवं (**पायुरदब्धः स्वस्तये**) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (**अदब्धः**) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु।[1]

परमेश्वर को संपूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार मानते हुए कहा गया–

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ।।[2]

(**महद्यक्षं**) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम् (**भुवनस्य**) सर्वसंसारस्य (**मध्ये**) परिपूर्ण (**तपसि क्रान्तं**) विज्ञाने वृद्धं (**सलिलस्य**) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयान्तरं (**पृष्ठे**) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम्। (**तस्मिञ्छ्रयन्ते**) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति कस्य का इव? (**वृक्षस्य स्कन्धः परितः शाखा इव**) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव।[3]

▪ सृष्टिविद्या–

ऋग्वेद के नासदीय एवं पुरुष सूक्त में सृष्टि विद्या विस्तार से वर्णित है। वैदिक सन्ध्या में प्रतिदिन प्रयुक्त ऋग्वेद के मन्त्रों में सृष्टि-क्रम का सुन्दर विवेचन किया गया है–

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।।[1]

अर्थात्– सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु ने गत कल्प में चेतन अचेतन समस्त जगत् को ईक्षण द्वारा रचा था। उसके पश्चात् उसी ने अपनी महती सामर्थ्य से प्रलयकाल रूपी महारात्री को उत्पन्न किया। तत्पश्चात् उसी सहज स्वभाव से सकल जगत् को बनाने वाले प्रभु ने प्रकृति के मूल तत्त्वों में गति उत्पन्न करके संवत्सर-प्रजापति-हिरण्यगर्भ रूप महदण्ड को उत्पन्न किया, और उसी के भीतर प्रकाशक और प्रकाश्य रूप उभयविध लोकों का निर्माण किया। तत्पश्चात् प्रत्यक्ष दृश्यमान प्रकाशक, प्रकाश्य लोकों, मध्यवर्ती आकाश एवं क्षुद्र गतिशील उल्का-पिण्डों की रचना की।

---

1. *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 66*
2. *अथर्ववेद 10/7/38*
3. *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 67*
4. *ऋग्वेद 10/190/1-3*

हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति–

स ईं वृषाजनयत् तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति ।
सो अपां नपादनभिम्लान वर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेश ।।[1]

उस वर्षणशील अग्नि ने उन जलों में अण्ड को उत्पन्न किया। वह बालक आपों को चूंघता है, वे आपः उस शिशु को चाटते हैं। वह मानो शरीर में प्रविष्ट हो गया।

इस गर्भ के निर्माण में अपां नपात् के अतिरिक्त अग्नि और वात का भी हाथ था। आपों के प्रधान होने से गर्भ, हिरण्यगर्भ हो गया। एक संवत्सर पर्यन्त यह आपः के अन्दर तैरता रहा। इसमें तीन प्रकार की गतियाँ हो रहीं थीं। वे ही गतियाँ आगे चलकर पृथिवी ग्रहों को दांय भाग के रूप में प्राप्त हुई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं–

1. पर्यप्लवन [Rotation about its own asu's]
2. प्रसर्पण [Direct Speed]
3. समेषण [Revolution about the center of the System]

पृथिवी की उत्पत्ति–

"इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा ।"

शत. 14/1/2/10

अर्थात्– यह भूमि भुवनों में सर्वप्रथम उत्पन्न है। अण्ड के अधोभाग से इसकी उत्पत्ति हुई। आत्मनो ध्यानात् (मनु. 1/12) अर्थात्– ब्रह्म के अपने ध्यान और वायु के वेग से गर्भ दो टुकड़ों में बंट गया।

पृथिवी की नौ सृष्टियाँ–

पृथिवी पर उत्तरोत्तर नौ प्रकार की सृष्टियाँ उत्पन्न हुई।

स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत् । स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूष सिकतं शर्कराम् अश्मानम् अयो हिरण्यम् ओषधिं वनस्पतिम् असृजत् । तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत् ।

अर्थात्– इस पृथिवी पर क्रमशः फेन, मृत्तिका, शुष्कायम, ऊषर, सिकता, शर्करा, अश्मा, अय-हिरण्य तथा ओषधि वनस्पति उत्पन्न हुई। ये ही पृथिवी की नौ सृष्टियाँ हैं।

अन्तरिक्ष की उत्पत्ति–

अन्तरिक्ष शब्द पञ्चमहाभूतों में परिगणित आकाश का पर्याय नहीं है। महदण्ड की नाभि से अर्थात् मध्यभाग से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई।

'नाभ्याः आसीद् अन्तरिक्षम् ।'

ऋ. 10/90/14

अन्तरिक्ष में वायु का प्रधान स्थान है। अग्नि से वायु, वायु से सूर्य और सूर्य से चन्द्रमा

---

1. *ऋग्वेद 2/35/13*

प्रकाशित होता है। प्रश्न होता है कि अग्नि किस से दीप्त होता है? उत्तर है– **'प्राणेनवाऽग्नि दीप्यते।'** (शतपथ)

अन्तरिक्ष स्थान नहीं है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अन्तरिक्ष में (Cosmic Rays) आदि का अस्तित्व मानते हैं।

आदित्य सृजन–

सोऽकामयत। भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। स वायुनाऽन्तरिक्षं
मिथुनं समभवत्। . . . . ततोऽसावादित्यऽसृज्यत . . . .
अथ कपाले य रसो लिप्तः . . . . द्यौरभवत् ।

शत. 6/1/2/3

अर्थात्– हिरण्यगर्भ के ऊपरी भाग से आदित्य की उत्पत्ति हुई। कपाल में जो रस लिप्त था उसकी रश्मियां बनीं। और कपाल से द्यौ की सृष्टि हुई। आदित्य में पार्थिव अंश नहीं अथवा रजः के रूप में अति स्वल्प है। वायु, आपः और अग्नि परमाणुओं का आदित्य में बाहुल्य है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति–

चन्द्रमा का जन्म पृथिवी से नहीं, आदित्य से हुआ। चन्द्रमा के पार्थक्य के समय आदित्य प्रकाश और उष्णता का पूरा पुंज नहीं बना था। यदि वह वर्तमान सूर्य रूप बन गया होता तो उससे निकलने वाला चन्द्र भी उष्णता आदि गुणयुक्त होता।

स आदित्वेद दिवं मिथुंन समभवत् । . . . ततश्चन्द्रमाऽसृज्यत्
एष वै रेतः । अथ यदश्रु संक्षरितमासीत् तानि नक्षत्राणि
अभवन् । अथ य कपाले रसो लिप्त आसीत् ता अवान्तर
दिशोऽभवन्। अथ यत् कपालमासीत् ता दिशोऽभवन् ।।

शतपथ 6/1/2/4

अर्थात्– आदित्य का दिन से मिथुन हुआ। उससे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। यही रेत है। अश्रुओं से नक्षत्र बने। कपाल के रस से अवान्तर दिशाएं तथा कपाल से दिशाएं उत्पन्न हुई।

सृष्टि विद्या में ही पृथिवी आदि लोकों के भ्रमण का भी सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र की व्याख्या करे हुए **महर्षि दयानन्द** ने पृथिवी और सूर्य आदि सब लोकों का घूमना सिद्ध किया है–

'अयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः ।'[1]

महर्षि लिखते हैं– "गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का। वे सब अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है, क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं

---

1. यजुर्वेद 3/6

के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उनके प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं।"[1]

इस विषय को निम्न मन्त्रों द्वारा पुष्ट किया गया है-

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ।।[2]

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।[3]

नक्षत्र उत्पत्ति-

चन्द्रमा के सृजन के साथ ही अन्य नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई। नक्षत्रों की कुल संख्या 27 है। कुछ विद्वान् 28 भी मानते हैं।

तानि वा एतानि सप्तविंशतिः नक्षत्राणि। सप्तविंशति होप
नक्षत्राणि। एकैकं अनुपतिष्ठन्ते ।। शत. 10/4/5

अथर्ववेद में नक्षत्रों का स्पष्ट उल्लेख है-

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे, अप्सु भूमौ यानिनगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यस्येति सर्वाणि, ममैतानि शिवानि सन्तु ।।
अथर्व. 19/8/1

इससे अगले मन्त्र में कहा गया है कि जो अन्तरिक्ष में 28 नक्षत्र हैं, जिन्हें हम समुद्र, पहाड़, भूमि से देखते हैं, जिन्हें चन्द्रमा पार कर जाता है, वे दिन-रात कल्याणकारी हों-

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे ।
योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ।।
अथर्व. 19/8/2

ये नक्षत्र चन्द्रमा के लिये 'माइल-स्टोन' का काम करते हैं। वर्तमान ज्योतिष 27 ही नक्षत्र मानता है किन्तु वेद में अभिजित नामक एक और नक्षत्र माना गया है।

मासों के नामकरण में नक्षत्रों का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। जिस नक्षत्र में पूर्णमासी होती है उस मास का नाम उसी नक्षत्र से होता है, जैसे- **'अश्विनी नक्षत्रे पूर्णमासी अस्मिन् अतः अयम् आश्विनः मासः'** -आदि। वेदों में नक्षत्र को ऋक्ष कहा गया है-

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा,
नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः ।। -ऋग् 1/24/10

वेदों में गणित विद्या-

---

1. *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 100-101*
2. *ऋग्वेद 10/65/6*
3. *ऋग्वेद 8/48/13*

वेदों में अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित तीनों का स्पष्ट वर्णन किया गया है, जैसे– "एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च में . . . . चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे . . . . ."।[1]

इन मंत्रों में गुणन विद्या, जोड़ तथा सम्, विषम संख्याओं का निर्देश किया गया है। इनसे गणित के अनेक प्रयोगों को समझा जा सकता है। ज्योतिष् शास्त्र में इसी प्रकार के गणित के प्रयोग देखे जा सकते हैं।

आचार्य रामदेव जी लिखते हैं– "अंकगणित इस विद्या का भी मूल वेदों में देखकर आर्यो ने इसके नियम बनाये। रेखागणित तथा ज्योतिष् के कठिन नियमों के बनाने वाले प्राचीन आर्यो के लिए अंकगणित के नियमों को बतलाना कुछ कठिन नहीं था।"[2]

"इमेऽग्न ऽ इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं च चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मेऽस्यऽ इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुस्मिंल्लोके।"[3]

इस मंत्र की व्याख्या करते हुए **पं. रघुनन्दन शर्मा** लिखते हैं– 'इसमें इकाई से लेकर परार्द्ध तक की संख्या बताई गई है। इस मन्त्र में लम्बी संख्या का वर्णन तो है ही, पर इसमें एक बात यह भी कही गई है कि **'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु'** अर्थात्– ये मेरी ईटें यज्ञ में गौ के तुल्य लाभदायक हैं। यहाँ पर संख्या ईटों की गिनती के लिए है। ईटें हवन कुण्ड के लिए बनाई जाती थीं, इसलिए उनको धेनुरूप होकर फल देने वाली कहा गया है। ये ईटें नपी तुली होती थीं, इसलिए गणित के द्वारा यह सूचित कर दिया जाता था कि अमुक प्रकार के इतने बड़े कुण्ड के लिए ये इतनी ईटें लगेंगी। **'अग्न इष्टका'** कही गई हैं जिनका मतलब यज्ञ की ईटें ही है।'[4]

प्रो. शिवदत्त जी ज्ञानी लिखते हैं– "अंकगणित का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। उस समय छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (17/2) में इन संख्याओं का उल्लेख है– एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त व परार्द्ध। इस (यजु. 18/25) में दो और चार के पहाड़े का भी स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणन, भाजन आदि अंकगणित के मौलिक तत्त्व वैदिक काल में पूर्णतया ज्ञात थे।"[5]

यजुर्वेद में रेखागणित स्पष्ट रूप से वर्णित हैं। निम्नलिखित मन्त्र में रेखागणित का

---

1. *यजुर्वेद 18/24, 25*
2. *भारतवर्ष का इतिहास (वैदिक तथा आर्ष पर्व), पृ. 82-83*
3. *यजुर्वेद 17/2*
4. *वैदिक सम्पत्ति (द्वितीय संस्करण), पृ. 373*
5. *भारतीय संस्कृति (द्वितीय संस्करण), पृ. 307*

निर्देश इस प्रकार किया गया है–

इयं वेदि: परो अन्त: पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि: ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाच: परमं व्योम ।।[1]

इस मंत्र की व्याख्या करते हुए ऋषिवर दयानन्द लिखते हैं– "इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया गया है क्योंकि वेदों की रचना में रेखागणित का सभी उपदेश है। जैसे– तिकोन चौकोन, श्येन पक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार बनाया जाता है उसे आर्यो ने रेखागणित का ही दृष्टान्त माना था। **(परो अन्त: पृ.)** पृथिवी का जो चारों ओर का घेरा है, उसको परिधि और ऊपर से अन्त तक मिलाने वाली जो पृथिवी की रेखा है उसको व्यास कहते हैं। चन्द्र आदि भी इसी प्रकार परिधि आदि से युक्त हैं। इसी प्रकार से आदि मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखायें भी निकलतीं हैं।"[2]

गणित में शून्य का बहुत महत्त्व होता है। शून्य का ज्ञान सर्वप्रथम भारत में हुआ था। इसका मूल संकेत अथर्ववेद में है, जहां यह बताया गया है कि किस प्रकार शून्य आगे लगने से संख्या दसगुणा बढ़ती जाती है।[3]

यद्यपि इन मन्त्रों में शून्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है तथापि जिस क्रम में संख्याओं का उल्लेख है उससे शून्य का ज्ञान स्वत: अनुमेय है। इस मंत्र में दी गई दो-दो संख्याओं के योग से ग्यारह का पहाड़ा बनता चला जाता है, यथा– 11, 22, 33 आदि।

गणित में बड़ी से बड़ी संख्या बनाने के लिये केवल अंक '9' (नौ) को बार-बार लिखना होगा, इस सिद्धान्त का संकेत निम्नलिखित मन्त्रांश में देखा जा सकता है–

नव च यन्नवतिं च सवन्ती: श्येनो न भीतो अतरो रजांये।[4]

इसमें इन्द्र को सम्बोधित करके कहा गया है कि तुम भयभीत वज्र के समान नौ और नब्बे (निन्यानबे–अर्थात् बहुत अधिक) नदियों को पार कर आये।

इसी प्रकार सम, विषम संख्या, गुणन, भाग आदि का बोध वेद मन्त्रों में प्राप्त होता है।

वेदों में ज्योतिष्–

आकाश में चमकने वाले सूर्य चन्द्रादि ग्रह नक्षत्रादि को ज्योतिष्पुञ्ज कहते हैं। विश्व में इस विद्या के प्रवर्तक भगवान् वेद हैं। वेद से ही प्रेरणा लेकर सम्पूर्ण ज्योतिष् ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। पुरुष सूक्त कहता है–

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ: समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमि: दिश:श्रोत्रान् तथा लोकां अकल्पयन् ।।[5]

---

1. यजुर्वेद 23/62
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 110
3. अथर्ववेद. 5/15/1-11
4. ऋग्वेद 1/32
5. ऋग्वेद 10/90/14

यहाँ पर शिर की उपमा देकर द्यु लोक की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।[1]

प्रजापति परमात्मा ने सूर्य चन्द्रादि द्यौ लोक का निर्माण किया, यहाँ पर पृथिवी के साथ सूर्य चन्द्रादि का सम्बन्ध बताया गया है।

ज्योतिः शास्त्र से काल की गणना की जाती है किन्तु काल अनन्त है, उसकी गणना असम्भव है, सूर्यादि ग्रहों के माध्यम से हम मध्य से ही गणना करते हैं।

देवानां पूर्वे युगे सतः सदजायत ।
देवानां पूर्व्ये युगे ऽसतः सदजायत ।।

ऋग्. 10/72/1

यहाँ परयुग की चर्चा की गई है। पुनः—

या औषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ।।

ऋग्. 10/97

इस मन्त्र में युग, शत और सप्त संख्या वाची है। **जीवेम शरदः शतम्** तथा **शतं समा** आदि वाक्य आते हैं। इस प्रकार वेदों में काल गणना के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत है।

सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, नक्षत्र, दिवस, मास, संवत्सर आदि से सम्बन्धित अनेक मन्त्र वैदिक संहिताओं में विद्यमान हैं।

ज्योतिष् में प्रसिद्ध तमसासुर राहु और केतु का संकेत मन्त्रों में उपलब्ध है—

यत् त्वा सूर्यस्वर्भानुः तमसा विध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवन्यदीधयुः ।।

ऋग्. 5/40/5

यहाँ पर ग्रह नहीं अपितु छाया हैं, अथर्ववेद कहता है—

शं नो ग्रहाश्चन्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा ।
शं नो मृत्यु धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मं तेजसः ।।

अथर्व. 19/19/10

यहाँ पर ग्रहों से अतिरिक्त राहु और केतु माने जाते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों एवं सूत्रग्रन्थों में ज्योतिष् शास्त्र के प्रमुख विषयों का वर्णन है। आगे चल कर संस्कृत में स्वतन्त्ररूप से ज्योतिष् के बृहद् ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

भूगर्भ विद्या—

अंग्रेजी में भूगर्भ विज्ञान के लिये 'जियोलॉजी' शब्द का प्रयोग होता है। इसका अर्थ है पृथिवी विचार।

पृथिवी का निर्माण कैसे हुआ? किन वस्तुओं से हुआ? इन प्रश्नों से सम्बद्ध क्रमिक तथा ऐतिहासिक विचार करना ही भूगर्भ विज्ञान का विषय है।

1. ऋग्वेद 10/190/3

ऋग्वेद में इस प्रकार के अनेक मन्त्र हैं जिनमें पृथिवी के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था के विषय में मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। ये मूलसिद्धान्त ही भूगर्भ विज्ञान का आधार हैं। एक ऋचा में कहा गया है– **'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा'**[1] दृढ़ करना इस बात का द्योतक है कि इस वस्तु को दृढ़ अर्थात् ठोस किया जा रहा है, वह पूर्व में ठोस नहीं थी, तरल रूप में थी। उग्र शब्द का अर्थ है गर्म अथवा धधकता हुआ। अतः स्पष्ट है कि पृथिवी अपने निर्माण की पूर्वावस्था में तरल द्रवरूप में गर्म भी धधकती हुई थी। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है।

ऋग्वेद की दो ऋचाओं में पृथिवी की निर्माण प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट किया गया है। वहाँ कहा गया है–

इन्द्र ने पृथिवी को जो कि कम्पायमान थी (प्रथम तरल स्थिति या जलीय वाष्प के रूप में होने के कारण) को ठोस बना दिया। उसने डोलते हुए पहाड़ों को स्थिर कर दिया।[2] उसने अपने बल से मेघों को छिन्न-भिन्न करके जल को प्रवाहित किया। इस प्रकार पृथिवी की वायव्य अवस्था को तरल द्रवावस्था में परिवर्तित करके दृढ़ किया।[3]

भूगर्भ विद्या से सम्बन्धित अनेक मन्त्र चारों वेदों में विद्यमान हैं।

खगोल विद्या–

यह सृष्टि अति विस्तृत है। खगोल में असंख्य ग्रह और तारागण हैं। सौर मण्डल, जिससे कि हम सम्बद्ध हैं, वह इस विशाल सृष्टि का एक छोटा-सा भाग है। हमारे लिए सृष्टि का यह लघु भाग इतना विशाल है कि अरबों वर्षो की श्रमसाध्य गवेषणाओं के बाद भी इस विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है। वैदिक साहित्य में इस विषय में पर्याप्त विचार किया गया है।

एक मन्त्र में सूर्य तथा ग्रहों की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। मन्त्र इस प्रकार है–

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्यासुरसृगात्म क्व स्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ।।[4]

मन्त्र में यह जिज्ञासा है कि प्रथम उत्पन्न होते हुए अस्थियुक्त को अस्थिरहित धारण करता है तब किसने देखा? भूमि अथवा पृथिवी के प्राण, रक्त और आत्मा कहाँ हैं? कौन विद्वान् को यह पूछने के लिए गया?

यहाँ ग्रह निर्माण की पूर्वावस्था की ओर संकेत है। शरीर में अस्थि ठोस होती है, सूर्य को यहाँ अस्थिरहित कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सूर्य वायव्य पदार्थों से बना है और ठोस नहीं है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सूर्य गैस का गोला (उष्णवातीय पिण्ड) है। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्र में जिस अवस्था का वर्णन किया है उस समय पृथिवी

---

1. *ऋग्वेद 10/121/5*
2. *यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात् । ऋग् 2/12/2*
3. *ऋग्वेद 2/17/5*
4. *ऋग्वेद 1/164/4*

ठोस अवस्था में आ चुकी थी, अतएव उसे अस्थियुक्त कहा है। पृथिवी सूर्य के आकर्षण में बद्ध थी अथवा सूर्य ने आकर्षण शक्ति द्वारा पृथिवी को उसकी कक्षा में धारण किया हुआ था, अत: सूर्य को पृथ्वी का धारणकर्ता कहा गया है।

मन्त्र में प्रयुक्त **'प्रथम'** शब्द द्योतित करता है कि पृथिवी ही सर्वप्रथम ठोस हुई अर्थात् पृथिवी ही ठोस ग्रहों की अपेक्षा सूर्य के अधिक निकट थी।

मन्त्र में पुन: प्रश्न किया गया है कि भूमि के प्राण, रक्त व आत्मा कहाँ हैं? ऋग्वेद के अनुसार सूर्य ही निश्चित रूप से पृथिवी (भूमि) की आत्मा है।[1] क्योंकि सूर्य से ही पृथिवी को सब प्रकार की ऊर्जा मिलती है। ऊर्जा के कारण ही पृथिवी जीवन से परिपूर्ण है। अत: सूर्य को पृथिवी की आत्मा स्वीकार करना औचित्यपूर्ण है। मन्त्र में प्राण व रक्त पदों से इन दो पिण्डों की ओर संकेत किया गया है जो कि उस समय वायव्य तथा तरल अवस्था को प्राप्त थे। मनुष्य की प्राण वायु प्राण है तथा शरीर में रक्त द्रव रूप में है। रक्त के पश्चात् ही क्रमश: शरीर की ठोस अवस्था की प्रक्रिया है। इस मन्त्र में शरीर की उपमा देकर ग्रहों की उस अवस्था की ओर संकेत किया है जब ग्रह वायव्य अवस्था में से क्रमश: तरल और ठोस अवस्था में आ रहे थे। इन तीनों में सर्वप्रथम ठोस होती हुई पृथिवी को सूर्य ने देखा। उस समय बुध (Mercury) और शुक्र (Venus) क्रमश: वायव्य तथा तरल अवस्था में रहे होंगे। पृथिवी भी प्रारम्भ में वायव्य तथा तरल अवस्था को प्राप्त होते हुए ही ठोस अवस्था को प्राप्त हुई होगी। आधुनिक विज्ञान इस वेद सम्मत सिद्धान्त को पुष्ट करता है। एक अन्य मन्त्र में ग्रहों की उत्पत्ति प्रक्रिया का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है–

पाक: पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ।।[2]

मन्त्र का भाव इस प्रकार है– मैं अल्पज्ञानी मन से न जानते हुए देवों के इन निहित पदों को पूछता हूँ। कवियों ने नवयुवक वत्स पर सात तन्तुओं को विस्तृत किया।

मन्त्र में कहा गया है कि देवों ने निर्माण कार्य किया। देवों के निहित पद या आन्तरिक शक्तियां ही सूर्य तथा ग्रह आदि की निर्मात्री हैं। देवों को प्राकृतिक शक्तियाँ कहा जाता है। देव शब्द **'दिवु'** धातु से निष्पन्न है। यह धातु अनेकार्थक है। इन अर्थों में एक अर्थ क्रीड़ा भी है, अत: स्पष्ट होता है कि देव क्रीड़ा युक्त है अर्थात् इनमें विविध क्रियाएँ होती रहती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में **'देव सोते नहीं हैं'**[3] ऐसा कह कर देवों की अविरल क्रियाशीलता को पुष्ट किया है। देवों का एक अन्य गुण ध्रुव रहना[4] अर्थात् कभी समाप्त न होना भी है। अत: देव ऊर्जा में विद्यमान प्राकृतिक शक्तियाँ हैं जो कि सतत क्रियाशील रहती हैं तथा कभी नष्ट नहीं होती।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में वत्स की चर्चा हुई है। यहाँ वत्स सूर्य के लिए प्रयुक्त है। प्रारम्भिक अवस्था के कारण सूर्य वत्स है। उस पर ग्रहों की उत्पत्ति के लिए तन्तुओं के विस्तार रूप

1. *'सूर्य आत्मा जगतस्तथुषश्च'। ऋग्. 1/115/1*
2. *ऋग्वेद 1/164/5*
3. *न वै देवा: स्वपन्ति। मा. श. 3/2/2/22*
4. *देवा: धर्मणा ध्रुवा:। का. 35/7*

कार्य का उत्तरदायित्त्व है। मन्त्र में कहा गया है कि कवियों ने सूर्य पर बुनने के लिए सात तन्तुओं का विस्तार किया है। कवि शब्द गत्यर्थक है। गति अथवा क्रियाशीलता रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख रहती है, उसमें सृजनात्मक प्रतिभा होती है। प्राकृतिक शक्तियाँ ही जब कार्य करने को क्रियाशील होती हैं तो कवि कहलाती हैं। कवि तन्तुओं का विस्तार करते हैं। पूर्व में देव शब्द से दिव्य अथवा प्राकृतिक शक्तियों की ओर संकेत किया गया है। कवियों अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों ने निर्माण के लिए जो क्रिया की थी वह भी सप्त तन्तुओं का विस्तार है। चूँकि सूर्य वायव्य पदार्थो से निर्मित है। अतः इससे विस्तार पाने वाले सप्त तन्तु भी वायव्य रूप में ही अभीष्ट होंगे। सृष्टि निर्माण के लिए सूर्य रूप इस वायव्य पदार्थ के एक अंश का स्वयं विस्तार हुआ, फलतः सूर्य का यह अंश कुछ भागों में बंट गया। तन्तु शब्द तनु विस्तारे धातु से निष्पन्न है, अतः सूर्य का वह अंश विस्तृत रूप से फैलने के कारण ही तन्तु कहा गया है।

इस प्रकार खगोल विज्ञान से सम्बन्धित अनेक मन्त्रों में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

वेदों में राजनीति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक स्वर्गीय **आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति** ने **'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त'** नामक तीन खण्डों में लिखित ग्रन्थ में यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक संहिताओं में सम्पूर्ण राजनीतिशास्त्र सन्निहित है। वे आधुनिक शास्त्र की वैदिक परिकल्पना के लिए मन्त्रों का राष्ट्रयज्ञपरक अर्थ करते हैं। वेदों के एक अन्य विद्वान् **स्वामी गंगेश्वरानन्द** जी ने **'विश्वतोमुख भगवान् वेद'** नामक पुस्तक के एक निबन्ध **'वेद में विश्व का संविधान'** में कहा है कि विश्व एक महान् राज्य है, जिसमें भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारी मन्त्रिगण अपने-अपने विभागों को कुशलता से चलाते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम सूक्त के **'संगच्छध्वं'**, **'समानो मन्त्रः'** तथा **'संमानी व आकूतिः'** शीर्षक तीन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए उन्होंने काल्पनिक संविधान की चर्चा की है पर विश्वराज्य की अवधारणा, उसकी व्यावहारिक कल्पना तथा मन्त्री और उनके मन्त्रालयों के समर्थन में वे कोई मन्त्र प्रस्तुत न कर सके, जबकि आचार्य प्रियव्रत जी ने वेदमन्त्रों के प्रमाण देकर संपूर्ण राजनीति शास्त्र प्रस्तुत किया है। वेदों में स्थान-स्थान पर वर्णित देवताओं को आचार्यश्री ने राजा का मन्त्रिमण्डल माना है। वेद की इन्द्र, अग्नि, वरुण, विष्णु मित्र, अश्विनौ, पूषा, बृहस्पति, सोम, त्वष्टा और रुद्र आदि देवताओं की देवमाला पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है कि इन्द्र सम्राट् है और अग्नि, वरुण, सोम आदि उसके सहकारी विभागाध्यक्ष या मन्त्री हैं। मन्त्र संख्या की दृष्टि से इन्द्र वेद में प्रधान है। इन्द्र के लिये 14 बार सम्राट् शब्द का प्रयोग हुआ है। **'इन्द्र ज्येष्ठां उशतो यक्षि देवान्'** अथवा **'इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः देवाः'** के आधार पर भी वह ज्येष्ठ या सम्राट् है। अथर्व में **'देवानामधिराजः'** कहकर या **'अधिराजो**

राजसु राजयातै' कह कर उसके शासनाधिपतित्व को स्वीकार किया गया है। ऋक् में **'एकराडस्य भुवनस्य राजसि शचीपति इन्द्र'** कह कर उसे राष्ट्ररूप जगत् का एकमात्र राजा या एकराट् बताया गया है। इन्द्र को अधिराज् तथा अग्नि, विष्णु, मरुत्, रुद्र तथा ऋभु आदि को **'इन्द्रवन्त:'** अर्थात् इन्द्र के अधीनस्थ रह कर कार्य करने वाला बताया गया है। इन्द्र शब्द **'इदि परमैश्वर्ये'** धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है परमैश्वर्यवान् होना। राष्ट्र का सर्वोच्च प्रशासक होने के नाते उसके ऐश्वर्य सम्पन्न होने का कोई ठिकाना नहीं।

वेद में **'अग्ने यासि दूत्यम्'**, **'महि दूत्यं चरन्'** जेसे 14 बार किये गये प्रयोग से अग्नि दूत विभाग का मन्त्री है। अग्नि के दो विशेषण **'हव्य वाहन'** और **'हव्यवाट्'** भी इसी अर्थ का समर्थन करते हैं। अग्नि का दूत रूप में वर्णन करके और दूत के गुणों और कार्यो पर प्रकाश डालकर वेद ने यह उपदेश दिया है कि सम्राट् को अपने राज्य में दूत विभाग भी रखना चाहिए तथा अजिर (शारीरिक दृष्टि से सबल तथा गतिशील) चिकित्वान् (सब कुछ जानने-समझने वाला) रंसुजिह्व (मधुरभाषी) तथा सुदक्ष दूत को नियुक्त करना चाहिए।

अश्विनौ परिवहन मन्त्री है। सोम न्याय विभाग का मन्त्री तथा न्यायाधीश है। उसका **'विश्वचर्षणी'** विशेषण उसकी समझदारी तथा न्यायप्रियता को घोषित करता है। **'सत्यशुष्म:'** तथा **'सत्यकर्मा'** विशेषणों से वह सत्य का रक्षक है।

रुद्र प्रतिरक्षा मन्त्री और सेनापति है। मरुत् सैनिक हैं सैनिक लोग स्कन्धावार अथवा छावनियों में रहते हैं। अत: उन्हें गण कहा गया है। आचार्य प्रियव्रत जी ने वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त के तृतीय खण्ड में लगभग 240 पृष्ठों में प्रतिरक्षा विभाग पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

वेद के अनुसार सैनिक मातृभूमि के भक्त होने चाहिए। **'गोमातर:'** का अर्थ पृथिवी को मातृभूमि को माता समझने वाला किया जाना सर्वथा उचित है। वेदों में से मरुतों के 87 विशेषणों को चुनकर आचार्य जी ने सैनिकों के गुणों को स्पष्ट किया है।

त्वष्टा शिल्पकला तथा उद्योग-धन्धों का मन्त्री है। बृहस्पति के मन्त्रिपुरोहित तथा पूषा को अर्थमन्त्री माना गया है। सविता विधिमन्त्री, सूर्य शिक्षामन्त्री, और विष्णु प्रधानमन्त्री हैं। सरस्वती स्त्री-शिक्षा विभाग की मन्त्री और अर्यमा न्यायविभाग का मन्त्री है। पर्वत को सुरक्षा विभाग का मन्त्री, वायु को वायु प्रदूषण निराकरण विभाग का मन्त्री बताकर वन-सम्पदा रक्षा तथा प्रदूषण की समस्या के निराकरण का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

वेदों में मतपत्र के आधार पर राजा के चुनाव का निर्देश है। राजा के गुणों का वर्णन, बहुमत से राजा का चुनाव, राजा के दैवी सिद्धान्त का विरोध तथा स्वेच्छाचारी एकतन्त्र के दोषों का स्पष्ट वर्णन वेदों में देखा जा सकता है। राष्ट्र के अभ्युत्थान एवं आर्थिक समृद्धि के लिये विभिन्न उपायों का निर्देश वेदमन्त्रों में सन्निहित है। चुनाव की प्रक्रिया ऋग्वेद के मन्त्रों में वर्णित है।

▪ सभा–

राज्य की व्यवस्था के सुसंचालन के लिए राजसभाओं की आवश्यकता पर वेदों में

बल दिया गया है। ऋग्वेद में राजसमिति की यत्र-तत्र चर्चा की गई है। निम्नमन्त्र में तीन प्रकार की सभाओं का स्पष्ट उल्लेख है–

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषथ सदांसि ।
अपश्यमत्रा मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ।।[1]

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द ने राज्यसंचालन, राष्ट्रीय प्रशासन हेतु, राजसभा, विद्यासभा और धर्मसभा इन तीन सभाओं की चर्चा की है। वे लिखते हैं–

> "हे मनुष्यो! आप लोग उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले यथार्थवक्ता विद्वान् पुरुषों की राजसभा, विद्यासभा और धर्मसभा नियत कर सभी राज्य सम्बन्धी कार्यों को यथायोग्य सिद्ध कर सकल प्रजा को निरन्तर सुख दीजिए।[2]

■ प्रजापालन–

राजा का प्रथम कर्त्तव्य है कि प्रजा ने जिस आशा और विश्वास के साथ उसको चुना है, उसी आशा और विश्वास के साथ प्रजापालन में सदैव तत्पर रहे। राजा अनादि काल से वर्तमान प्रजा का पालन करते हुए राज्य का नियामक होवे–

'स यन्ता शश्वतीरिषः ।'[3]

सभापति राजा, ईश्वर के जो धारणा और पालना आदि गुण हैं, उनके तुल्य उत्तम गुणों से अपने राज्य में प्रवृत्त जनों की निरन्तर रक्षा करे।[4]

■ न्याय और दण्ड–

न्याय राज्य की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। प्रजाओं को कष्ट देने वाले जनों को दण्डादि विधान, न्याय का पोषण राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि सूर्य के समान अन्याय-रूपी अन्धकार का नाश करके श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा तथा दस्युजनों की ताड़ना करे।[5] दुष्टकर्म करने वाले मायावी जनों की माया अर्थात् छलयुक्त बुद्धियों को निरन्तर नष्ट करें।[6]

■ सेना और राज्य रक्षा–

प्रत्येक राज्य के कुछ आन्तरिक और कुछ बाह्य शत्रु होते हैं। ये समय-समय पर राज्य को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। राज्य के बाह्य शत्रु, सीमावर्ती देश होते हैं। आभ्यन्तर शत्रु जो कि बाह्य शत्रु की अपेक्षा अधिक हानिकारक होते हैं, उसी राज्य के निवासी होते हैं। इन दोनों प्रकार के शत्रुओं से राज्य की रक्षा के लिए सेना की आवश्यकता होती है। इन शत्रुओं का वर्गीकरण करते हुए वेद कहता है– जो दूसरे के पदार्थों को बलात् छीन लेते हैं वे **दस्यु**[7] जो सम्पत्ति को गुप्त रूप से छिपाकर रखने वाले हैं वे **अराति**[8] जो दोनों

1. *ऋग्वेद 3/33/6*
2. *वही, दयानन्दभाष्य*
3. *वही, 1/27/7*
4. *वही, 1/31/12 दयानन्दभाष्य*
5. *अर्याय निसव्यतः सादि दस्युरिन्द्र। ऋग्. 2/11/18*
6. *नियामिनो दानवस्य माया अपादयत्। ऋग्. 2/11/10*
7. *ऋग्वेद 1/36/8*
8. *ऋग्वेद 2/23/5*

पक्षों पर आश्रित रहने तथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से पदार्थों के हरण करने वाले हैं वे **द्वयाविन्**[1] जो विरोधी और छिद्रान्वेषी हैं वे **द्विष:**[2] जो द्रोह बुद्धि रखते हैं वे **दुर्विदत्रा**[3] जो पापाचरण करते हैं वे **अघायु**[4] आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

शत्रुनाश और राज्य रक्षा के लिए राजा को उचित है कि सेना की समुचित व्यवस्था करे। सेना में वीर पुरुषों को रखा जाय।[5] सेना के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि, राजा को नदी तरंगों की भाँति असंख्य सेना रखनी चाहिए।[6] वह सेना विभिन्न प्रकार के आयुधों से सज्जित रहनी चाहिए। उनके आयुध दृढ़ हों।[7] वे सैनिक अश्व तथा रथादिकों पर आरूढ़ होकर युद्ध करें और शत्रुओं को नष्ट करते हुए जीतें।[8] जो राजा विद्युत् के समान पूर्ण बल तथा पराक्रम युक्त सेना को बढ़ाते हैं, वहाँ उसके साठ योद्धा छह हजार शत्रुओं को भी जीतने में समर्थ होते हैं।[9]

इन सब ऋचाओं का सार यही है कि राजा को अपनी सेना विभिन्न युद्धोपकरणों से सुसज्जित रखनी चाहिए जिससे कि वह थोड़ी सेना से ही शत्रु की विशाल सेना को पराजित कर सके।

वेदों में सैनिकों के प्रयोग में आने वाले अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ऋष्टि, परशु, कृपाण, निषङ्ग, अंकुश, बाण, वज्र, धनुष आदि की चर्चा हुई है। युद्धकाल में शरीर के मर्मस्थलों को वर्म अर्थात् कवच से आच्छादित रखने तथा युद्ध से पूर्व सैनिकों के उत्साह वर्धनार्थ दुन्दुभि आदि के वादन का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[10]

▪ वेदों में समाजशास्त्र–

सम् पूर्वक अज् धातु से घञ् प्रत्यय करके समाज शब्द निष्पन्न होता है। अज् धातु गति और क्षेपण अर्थ में प्रयुक्त होती है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति भेद से तीन अर्थ होते हैं। इस प्रकार समाज शब्द का अर्थ हुआ– जहाँ मनुष्य गतिपूर्वक प्राप्त अर्थात् एकत्र हों। मनुष्यों का समुदाय समाज शब्द से तथा पशुओं का संघ समज शब्द से अभिहित होता है।

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्तियों से परिवार, परिवारों से समाज, समाजों से राष्ट्र और राष्ट्रों से विश्व का निर्माण होता है। मानव का ज्ञान और शक्ति अल्प और सीमित

---

1. *ऋग्वेद 1/42/4*
2. *ऋग्वेद 8/79/9*
3. *ऋग्वेद 10/63/12*
4. *ऋग्वेद 1/147/4*
5. *स सन्तु त्या अरातय: बोधन्तु शूर रातय:। ऋग्. 1/29/4*
6. *ऋग्वेद 4/19/8*
7. *ऋग्वेद 1/39/2*
8. *ऋग्वेद 6/75/7*
9. *ऋग्वेद 7/18/14*
10. *ऋग्वेद 6/47/31*

है। अत: इस रहस्यपूर्ण जगत् में उसका एकाकी रूप से जीवन यापन असम्भव है। समूह में रहने से सुख-समृद्धि होती है। समाज से ही मानव को शक्ति प्राप्त होती है। ऋग्वेद के संगठन सूक्त में इस रहस्य को प्रभावशाली रूप में निरूपित किया गया है।[1] प्रत्येक समाज में दो प्रकार के व्यक्ति हुआ करते हैं– अच्छे और बुरे। वेद इन्हें आर्य और दस्यु नाम से अभिहित करता है। ऋग्वेद राजा को आदेश देता है कि समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए तू आर्य और दस्यु इन दोनों को पहिचान तथा सत्य भाषणादि धर्म से रहित जो परपीड़क अधर्मी दस्यु मनुष्य हैं, उनका विनाश कर आर्य वर्ण की रक्षा कर।[2]

वर्ण व्यवस्था–

वेदों में सामाजिक संरचना को सुमर्यादित और सुदृढ़ करने के लिये दो व्यवस्थाओं का निर्देश विस्तार से दिया गया है। एक है वर्णव्यवस्था और दूसरी आश्रमव्यवस्था।

ऋग्वेद में मनुष्यों की सहज, स्वाभाविक रुचियों को ध्यान में रखते हुए समाज की रचना आदि का विशेष प्रकार से चित्रण किया गया है। इसी को वर्णव्यवस्था कहा गया।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जहाँ सहस्रशीर्षा पुरुष से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, वहाँ मनुष्य समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णो में विभक्त किया है।[3]

समाज संघटन की यह प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक है कि चाहते हुए भी कोई समाज इन वर्णो से अलग नहीं रह सकता। नामकरणदि प्रक्रिया में भेद अवश्य हो सकता है। किसी भी समाज में ब्राह्मण अर्थात् शिक्षक, क्षत्रिय अर्थात् सैनिक, वैश्य अर्थात् व्यापारी और कृषक, शूद्र अर्थात् मजदूर न हों ऐसा कैसे संभव है।

इन चारों वर्णो के स्वरूप और कर्त्तव्यादि का विशद वर्णन वेद-मन्त्रों में प्राप्त होता है।

आश्रम व्यवस्था–

वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध सामाजिक व्यवस्था को हम आश्रमव्यवस्था के नाम से जानते हैं। मानव की औसत आयु 100 (सौ) वर्ष की मानते हुए इसे चार भागों में विभाजित किया गया है– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वेदप्रतिपादित इस आश्रमव्यवस्था द्वारा समाज सुव्यवस्थित रहता था। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस आश्रमव्यवस्था की विस्तृत चर्चा की है।

शिक्षा व्यवस्था–

वर्ण और आश्रमव्यवस्था के अतिरिक्त समाज के निर्माण में शिक्षा व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता हैं। ऋग्वेद में विद्या के प्रचार-प्रसार की महत्ता दर्शाते हुए कहा गया है कि विद्या प्रचार से राष्ट्र में वसु, रुद्र और आदित्य विद्वान् उत्पन्न होते हैं। विद्या का प्रचार राष्ट्र को अदीन बना देता है। वह पराधीन नहीं हो सकता, उसमें किसी प्रकार की क्षीणता नहीं

1. *ऋग्वेद 10/191*
2. *वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्। ऋग्. 1/51/8*
3. *ऋग्वेद 10/90/2*

आ सकती। विद्या-प्रचार से लोगों को विवेकपूर्ण भाषण करना आता है, सब प्रकार के ज्ञान और कर्म राष्ट्र में सम्पन्न होने लगते हैं। विद्या के कारण राष्ट्र के लोग दिव्यगुणों से युक्त होकर नाना प्रकार के व्यवहार करने वाले बन जाते हैं।[1]

शिक्षा की उन्नति के लिए तीन बातों का होना नितान्त आवश्यक है– श्रेष्ठ आचार्य, उत्तम शिष्य और अनुशासन।

आचार्य या शिक्षक–

विद्यादान करने वाले आचार्य को सभी विद्याओं में पारंगत होना चाहिए। ऋग्वेद के अनुसार जो अत्यन्त विद्वान्, उत्तम शिल्पी, सत्य आचरण करने वाले, ब्रह्मवेत्ताजन हम लोगों को विद्या और सुशिक्षा से उन्नति देते हैं उनको हम संरक्षण देकर सदा सेवें।[2] शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह दुष्ट शिक्षा कभी न दे और न दुष्टों को ही शिक्षित करे, अपितु सत्य का वर्ताव करने वालों को सत्यशिक्षा का उपदेश करे। ऋग्वेद में दुष्ट शिक्षा प्रदान करने वाले को अघायु कहा है तथा उसका त्याग करने का निर्देश दिया गया है।[3]

शिष्य या विद्यार्थी–

विद्यार्थी शुभ गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने चाहिए, उन्हें निन्दा तथा चोरी आदि वृत्तियों से दूर रहना चाहिए। आचार्य स्वयं धार्मिक होते हुए जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से युक्त विद्यार्थी हैं उन्हें प्रीतिपूर्वक विद्यादान करे, जो निन्दक तथा चोर हैं उन्हें निकाल दें।[4]

आचार्य अग्नि के सदृश ब्रह्मचर्यव्रत से तप्त, शीतोष्ण सुखदुःख स्तुतिरूप द्वन्द्वों को सहन करने वाले अभिमान और मोह से रहित बुद्धिमान् विद्यार्थियों को पुरुषार्थ से विद्वान् करे।[5] जिनके आहार, विहार पवित्र नहीं होते हैं, जो लम्पट हैं, चुगलखोर हैं, कुसंगी हैं, उन्हें विद्या प्राप्त नहीं होती है; क्योंकि विषयासक्त मनुष्यों के हृदय जलरहित अन्धे कूए के समान होते हैं। पवित्राहारविहारी, जितेन्द्रिय, यथार्थवक्ता, सत्संगी, पुरुषार्थी-जन विद्याओं में उन्नति को प्राप्त होते हैं।[6]

अनुशासन–

ऋग्वेद के अनुसार जो शिष्य विषय का स्मरण न करे, शरारती हो, उन्हें दण्डित किया जाये। जैसे शिल्पी तीक्ष्ण उपकरणों से काष्ठ आदि को संस्कृत करके रथ निर्माण करता है, वैसे ही अध्यापक शिष्यों को ताड़नादि से गुणवान् करते हैं।[7]

अनुशासन का एक अर्थ शिक्षा भी होता है। माता, पिता, आचार्य को योग्य है कि

1. *ऋग्वेद 8/101/15-16*
2. *ऋग्वेद 1/35/15*
3. *ऋग्वेद 1/147/4*
4. *ऋग्वेद 1/129/9 दयानन्द भाष्य*
5. *ऋग्वेद 5/143/7*
6. *ऋग्वेद 6/28/4*
7. *ऋग्वेद 3/2/1*

वे अपनी सन्तान अथवा शिष्यों को इस प्रकार की शिक्षा करें कि जो हमारे धर्म के अनुकूल कार्य हैं, वे आचरण करने योग्य हैं किन्तु और कार्य आचरण करने योग्य नहीं हैं।[1]

वैदिक शिक्षा में चरित्र, श्रमनिष्ठा, तप और गुरु के प्रति श्रद्धा का कूट-कूट कर समावेश था। उनके हृदयों में मानवता के प्रति एवं अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं राष्ट्रीयता की भावना को भर दिया जाता था।

वेदों में आध्यात्मिक चिन्तन

तू कौन है, मैं कौन हूँ? तू कौन-सा है, मैं कौन-सा हूँ? तू किसका है, मैं किसका हूँ? तू क्या नाम या शक्ति वाला है, मैं क्या सामर्थ्य वाला हूँ?[2] इन प्रश्नों को अपने में सदा जागरित करते हुए इनका समुचित समाधान करना ही अध्यात्म विद्या है। संसार की अन्यान्य विद्याओं में यही सर्वश्रेष्ठ विद्या है, इसके बिना सब व्यर्थ है। यह अध्यात्म विद्या वेद का प्रमुख एवं व्यापक विषय है। वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें इसका प्रतिपादन किया गया है।

योगी **श्री अरविन्द** सामान्यतया वेद-मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। सामान्य शब्दों को भी गूढ़ार्थ या वेद के शब्दों में **'निण्या वचांसि'** कहते हैं। उनकी दृष्टि में अग्नि हृदय में प्रदीप्त इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति, गौ प्रकाश अथवा ज्ञान, अश्वप्रगति अथवा सामर्थ्य, उषा अन्धकार (निराशा) में उदित होती हुई आशा की किरण, यज्ञ या होत्र, जीवन यज्ञ, युद्ध जीवन में प्रतिपल आने वाली समस्याएँ अथवा काम-क्रोधादि के साथ मन का युद्ध या देवासुर संग्राम और ऋत प्रकृति के अटल नियम, नैतिक नियन्त्रण अर्थात् सामाजिक नियमों अथवा मानसिक यमों का अपने सामर्थ्य के अनुसार पालन है।

अध्यात्म में आत्मा और परमात्मा का विवेचन अन्तर्भूत है। आत्मा जिस अन्तःकरण चतुष्टय– मन, चित्त और अहंकार के आधार पर कार्य करता है, तथा मन, बुद्धि आदि जिन इन्द्रियों के आश्रित व्यापार करते हैं एवं इन्द्रियाँ जिस शरीर के आश्रित होकर कार्य करती हैं, सब अध्यात्म का क्षेत्र है।

■ ईश्वर, जीव, प्रकृति–

जगत् में ईश्वर की धारणा उतनी ही पुरानी है जितनी कि मानवीय चेतना और विचारधारा। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों में प्रयुक्त विभिन्न देवताओं को परमात्मा का वाचक माना है। वेदों के भाष्यकार **पं. सातवलेकर** लिखते हैं– ''जिस प्रकार एक ही पुरुष को पिता, भाई, पुत्र आदि शब्दों से भिन्न-भिन्न लोग पुकारते हैं तथापि इन अनेक शब्दों से उस एक ही व्यक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार अग्नि, वायु आदि अनेक गुणबोधक शब्दों से एक ही परमात्मा का बोध होता है।''[3]

---

1. *ऋग्वेद 1/128/7*
2. *ओउम् कोऽसि, कतमोऽसि, कस्यासि, को नामाऽसि। यजु. 7/29*
3. *एक ईश्वर की उपासना, पृ. 48*

परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली अनेक ऋचाएँ हैं। मन्त्रों में ईश्वर के सगुण स्वरूप के अन्तर्गत सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर इत्यादि गुणों का वर्णन किया गया है तो निर्गुण के अन्तर्गत अनादि, अनुपम, अजन्मा, अजर, अमर, अद्वितीय, निराकारादि गुणों की चर्चा है।

ऋग्वेद कहता है– 'हे परमेश्वर! सब में व्याप्त होते हुए आप ही सब ओर विराजमान हैं।[1]

यह संसार कितना व्यापक और महान् है किन्तु इस जगत् में व्याप्त वह परमात्मा इससे कहीं महान् है, सर्वशक्तिमान, है। सकल रचित पदार्थ इसके एक चरण के तुल्य हैं, इसके तीन चरण प्रकाशमय रूप में अनश्वर हैं।[2] वह सर्वज्ञ है। ज्ञानादि ऐश्वर्य प्राप्त करने का इच्छुक भक्त प्रार्थना करते हुए कहता है– 'हे प्रजापालक। आपके अतिरिक्त इन समस्त उत्पन्न पदार्थो को कोई नहीं व्यापता अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं।'[3] आप समस्त लोकलोकान्तरों के ज्ञाता हैं।[4] वह सम्पूर्ण जगत् का शासक है, सर्वेश्वर है। ऋग्वेद के शब्दों में– "वह ईश्वर सम्पूर्ण संसार का स्वामी है।'[5] वह परमेश्वर द्युलोक, पृथिवी, जल तथा पर्वतादि सभी का शासक है।[6]

ईश्वर को वेद में अनेक स्थानों पर शतक्रतु नाम से सम्बोधित किया है जो कि ईश्वर के अनन्त कर्मों का द्योतक है। सृष्टि की उत्पत्ति, उसका पालन तथा कालान्तर में प्रलय ये तीन ईश्वर के प्रमुख कार्य हैं। वह स्वभावत: शुद्ध, बुद्ध, नित्य तथा मुक्त है। वह स्वभाव से न्यायकारी[7] और दयालु[8] भी है।

ईश्वर के स्वरूप का विस्तृत वर्णन करने के साथ-साथ वेदों में उसकी प्राप्ति के साधन भी बताये गये हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के साधन ज्ञान, कर्म और उपासना हैं।[9] ईश्वर की प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक अज्ञान है। जब तक मनुष्य को अपने प्रकृति के तथा परमात्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञानहीन मनुष्य पशु तुल्य है। वेद में ईश्वर जीव एवं प्रकृति के स्वरूप को काव्यमयी आलंकारिक भाषा में स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है– दो सुन्दर, सुपर्ण सखा एक वृक्ष पर स्थित हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के फलों का आस्वादन करता है और दूसरा आस्वादन न करता हुआ साक्षीमात्र है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य: पिपलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाक शीति ।।[10]

1. त्वं हि विश्वतो मुख: विश्वत: परिभूरसि। ऋग्. 1/97/6
2. ऋग्वेद 10/9/3
3. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्व जातानि परिता बभूव। ऋग्. 10/121/10
4. धामानि वेद भुवनानि विश्वा। ऋग्. 10/82/3
5. विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋग्. 6/63/4
6.. इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्। ऋग्. 10/80/10
7. स राजा विश्वा वेदा जनिमा जातवेदा:। देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठ: स प्र यजतामृतावा। ऋग्. 6/15/13
8. यो मृडयति चक्रुषे चिदागा। ऋग्. 7/87/7
9. ऋग्वेद 1/164/20
10 ऋग्वेद 1/164/38

जीव के विषय में कहा गया है– मरणधर्मा शरीर के साथ अमरणधर्मा जीवात्मा प्रकृति द्वारा पकड़ा हुआ अर्थात् कर्मबन्धनों से बंधा हुआ नीचे, ऊपर विभिन्न योनियों में आता जाता है–

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीत: अमर्त्यो मर्त्येना सयोनि: ।[1]

प्रकृति का स्वरूप ऋग्वेद में काव्यमयी भाषा में इस प्रकार वर्णित है– ऋत का एक चक्र जिसमें द्वादश अरे लगे हुए हैं, इसे कभी जरा व्याप्त नहीं होती और यह चारों ओर बार-बार घूमता रहता है। इसके पुत्र रूप में सात सौ बीस युग्म हैं–

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिधामृतस्य ।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थु: ।।[2]

ईश्वर का सत्यज्ञान हो जाने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है। फिर मानव तदनुसार प्रयत्न करता है। यह कर्म ईश्वर प्राप्ति का दूसरा साधन है। ऋग्वेद में कर्महीन पुरुष की निन्दा है। उसे दस्यु कहा है।[3] मनुष्य का कर्म ही उसके बन्ध और मोक्ष का कारण है।

ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्मिलित रूप ही उपासना है। वेद में उपासना पर बहुत बल दिया गया है। सामवेद में कहा गया है– हे अग्ने! हम लोग ज्ञान और कर्म पूर्वक रात-दिन नमस्कारादि क्रिया करते हुए आपकी शरण को प्राप्त होवें।

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ।[4]

■ **मोक्ष–**

वेदों में मोक्ष को मानव जीवन का चरमोद्देश्य मानते हुए जीवन मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिये अनेक उपदेश दिये गये हैं। ऋग्वेद के नवम मण्डल के 113वें सूक्त में मोक्षस्वरूप का प्रतिपादन प्रभावशाली रूप में किया गया है। जैसे प्राणिजगत् सूर्य के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से समस्त मूर्तिमान् पदार्थों को देखता है, वैसे ही विद्वान् लोग व्यापक परमेश्वर के सब आनन्दों से युक्त परम पद मोक्ष को देखते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।[5] सत्यवक्ता, यज्ञानुष्ठाता, श्रेष्ठगुण कर्म स्वभाव वाले विद्वान् पुरुष ही उस मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं–

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ।[6]

जीवन के कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिये योग साधना की विस्तृत चर्चा वेदों में उपलब्ध है। विस्तारभय से यहाँ अधिक लिखना संभव नहीं है।

आयुर्विज्ञान

चरक में धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष के मूल में **आरोग्य** को स्वीकार किया गया

---

1. ऋग्वेद 1/164/38
2. ऋग्वेद 1/164/11
3. अकर्मा दस्यु:। ऋग्. 10/22/8
4. सामवेद। पूर्वार्चिक। 1/2/4
5. तद् विष्णो: परमं परं सदा पश्यन्ति सूरय:। दिवीव चक्षुराततम्। ऋग्. 1/22/20
6. ऋग्वेद 4/54/2

है।[1] मानव को आरोग्य कैसे प्राप्त हो? आयुर्विज्ञान इसका विस्तृत विवेचन करता है। यह विज्ञान आयुर्वेद नाम से प्रसिद्ध है।

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग का नाम आयु है।[2] आयु जिसमें है अथवा जिससे आयु का लाभ होता है वह है **आयुर्वेद**।[3]

वैदिक साहित्य में आयुर्वेद उपवेद के रूप में स्वीकार्य हैं कुछ विद्वान् इसे ऋग्वेद तथा अधिकांश अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं।

चारों वेदों में मुख्य रूप से अथर्ववेद आयुर्वेद से सम्बद्ध है। इस वेद के सैकड़ों सूक्तों में आयुर्विज्ञान भरा पड़ा है। इसमें त्रिदोषवाद, शरीर में अग्नि की स्थिति, पाचनक्रिया, शरीर के अंग-प्रत्यंग के नाम, रोगों के नाम, कृमियों के विस्तृत वर्णन, विष-विज्ञान, शल्य-शालाक्य, भूतविद्या, रसायन, वाजीकरण, द्रव्यगुण के विषय एंव वनस्पतियों का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

वेदों में अश्वमेध-यज्ञ के समय भेषज-विद्या सम्बन्धी आख्यान का ज्ञान होना भेषज-विद्या के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

अथर्ववेद के 10वें काण्ड के दूसरे सूक्त में प्रश्नात्मक शैली में मनुष्य के शरीर से लेकर पैरों तक शरीर के मुख्य-मुख्य सब अंगों और प्रत्यंगों का नाम लेकर पूछा गया है कि मनुष्य शरीर में ये अंग (केन) किसने बनाये हैं? इसी में उत्तर छिपा है कि 'केन' अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने इसकी रचना की है। इस प्रकार इस सूक्त में शरीर के अंग-प्रत्यंगों को गिनाकर संक्षिप्त रूप मे शरीर-रचना विज्ञान का वर्णन किया गया है।

अथर्ववेद में रुके हुए मूत्र को सलाई से निकालने का वर्णन आता है।[4] शल्य चिकित्सा का सम्बन्ध शरीर-शास्त्र के बाह्याभ्यन्तर अंगों के पृथक्-पृथक् करने के ज्ञान से है। शरीर-छेदक क्रिया से ज्ञान कराया जाता है। वेद ने शल्यक्रिया के प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए कहा— शरीर के छेदन-काटने के लिए अनेक प्रकार के छोटे-बड़े शस्त्रों की आवश्यकता होती है। अत: सैकड़ों प्रकार के फलक वाले कठोर एवं तेज अस्त्रों से कंधों से शिर भाग को अलग करो।[5]

ऋग्वेद में वैद्य के लिये **'भिषक्'** शब्द का प्रयोग किया गया है और उसे **'रक्षोहा'** और **'अमीवचातन'** कहा गया है।

यत्रौषधी: समगमत् राजान: समिताविव ।
विप्र: स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातन: ।।[6]

---

1. *धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। च.सू. 1/15*
2. *शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारिजीवितम्।*
   नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते।। वही 1/42
3. *आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वायुविन्दन्ति इत्यायुर्वेद: । शू.सू. 1/15*
4. *प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।*
   प्रवाते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।। अथर्व. 1/3/7
5. *(क) वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन् क्षुरभृष्टिना। अथर्व. 12/5/66*
   (ख) प्र स्कन्धान् प्र शिशे जहि। अथर्व. 12/5/67
6. ऋग्वेद *10/97/6*

वैदिक वाङ्मय में '**अश्विनौ**' को देववैद्य कहा है। इन्होंने आथर्वण दधीचि से 'मधुविद्या' प्राप्त की थी। ये आरोग्य, दीर्घायु, पौरुष, शक्ति, सन्तति और समृद्धि देने वाले कहे गये हैं।

वेदों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, मरुत, और रुद्र देवभिषक् कहलाते हैं। उनकी चिकित्सा बड़ी ही विलक्षण होती है।

वेदों में अनेक प्रकार की औषधियों का विस्तृत वर्णन है। मनुष्य चिकित्सा की तरह पशु, पक्षी-चिकित्सा आदि का बृहद् वर्णन ऋग्, यजु और अथर्व में देखा जा सकता है।

वेदों में 'मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का अर्थ है मानव-मन और मानवीय व्यवहार के सभी पक्षों का अध्ययन। इसमें मुख्य रूप से मन और मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है।[1] मनोविज्ञान प्रारम्भ से ही मानव मन की विविध दशाओं का अध्ययन करता चला आ रहा है, आधुनिक काल में इस विषय का व्यापक पल्लवन हुआ है, इन मनोवैज्ञानिक निष्कर्षो का आधुनिक स्वरूप भले ही वैदिक-संहिताओं में न हो, तथापि समस्त भारतीय चिन्तन का आदिस्रोत वेद हैं, वेद विश्व संरचना और जीवन-मीमांसा के समग्र एवं व्यापक चिन्तन से परिपूर्ण हैं और सभी प्रामाणिक मनोवैज्ञानिक तत्त्व भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के ही अंग हैं, अत: मनोविज्ञान के मूलभूत तत्त्वों के अध्ययन की सामग्री भी वैदिक संहिताओं में विद्यमान है।

भारतीय मनोविज्ञान समग्र मन, चित्त, उनके साधनों, मस्तिष्क की नाड़ियों, कुण्डलिनी चक्र आदि सहित मानव की अनुभूतियों तथा व्यवहारों का चेतन सापेक्ष गत्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने, अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करने, कैवल्य प्राप्त करने के अष्टांगयोग तथा चित्त को विकसित करके अद्‌भुत शक्तियों तथा विवेक, ज्ञान प्राप्त करने का क्रियात्मक विज्ञान है।[2]

यही कारण है कि वैदिक मनोविज्ञान मन की भद्रता और शिवता को लक्ष्य कर के उसकी शक्तियों के संवर्धन के उद्देश्य से मानसिक प्रक्रियाओं का केन्द्र बनता हुआ दिखाई देता है।[3]

वेद मन्त्रों में हमें चेतना, अन्त:करण, मन, बुद्धि, स्मृति, मनोभाव, स्वभाव, निद्रा, स्वप्न, मनोविज्ञान आदि विषय प्राप्त होते हैं, जो वैदिक मनोविज्ञान का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

यहाँ हम सूक्ष्म चिन्तन में प्रवेश न कर वेद-मन्त्रों में अभिव्यक्त मन आदि के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करेंगे।

■ **अन्त:करण**—

महर्षि दयानन्द ने कार्य की दृष्टि से अन्त:करण के चार विभाग किए हैं— मन, बुद्धि,

---

1. मनोविज्ञान-कौल तथा सिंह, पृ. 13

2. योग मनोविज्ञान की रूपरेखा, शान्तिप्रकाश आत्रेय, पृ. 6

3. 'भद्र मन: कृणुष्व वृत्रतूर्ये'। 'तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु'। यजु. 34.1

चित्त और अहंकार, जो क्रमशः संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान गुण वाले हैं।[1] उपनिषदों में भी इन चारों का उल्लेख हुआ है।[2] इसी से मिलती हुई बात अथर्ववेद में कही गई है– मन, चित्त, धी, आकूति, चिति, मति, श्रुत, चक्षु इत्यादि।[3]

▪ मन का स्वरूप–

'मनस्' शब्द ऋक्संहिता में लगभग ढाईसौ से अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। अन्य संहिताओं में भी इसका बहुत प्रयोग हुआ है। चेतना की संकल्पशक्ति का नाम 'मन' है। मन ही संकल्पों द्वारा संसार की रचना करता है। इसकी संकल्पशक्ति का ऋषियों ने इस प्रकार वर्णन किया है– 'मन एक है, मन को इन्द्रिय मानने का विचार सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही है, जहाँ श्रोत्रादि इन्द्रियों का भी प्रकाशक होने से **'ज्योतिषां ज्योतिः'** है, देव है, अपूर्वयक्ष है, सभी प्रजाओं के भीतर विद्यमान अमृत ज्योति है, जरा से रहित और हृदय में प्रतिष्ठित है।[4] यह देव है[5] क्योंकि द्योतनात्मक अन्तःकरण या सर्वेन्द्रियवृत्ति दीपक है।

मन की विलक्षणता को स्वीकार करते हुए प्रश्न किया गया है कि 'किसने इसे रखा है?'[6] ऋग्वेद में मन का इन्द्रियरूप में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। मन को दस इन्द्रियों के बाद 'एकादश' या पाँच ज्ञानेन्द्रियों के बाद षष्ठ स्थान पर बताया गया है।[7]

ऋग्वेद में मन के साथ हृदय का उल्लेख हुआ है। यम यमी संवाद में यमी कहती है– तेरे मन और हृदय को हम नहीं जानते हैं[8] यहाँ सायण ने मनः का अर्थ 'मनोगत संकल्प' और हृदय का अर्थ 'बुद्धिगत अध्यवसाय' किया है।[9] ऋग्वेद में एक बार **'मनश्चिन्मे हृदे'** (ऋ. 8.100.4) कह कर मन के हृदय में अधिष्ठित होने का संकेत किया है, तो यजुर्वेद ने स्पष्ट रूप से मन को **'हत्प्रतिष्ठ'** (यजु. 34.6) कहा है।

▪ मन की गति और शक्ति–

मानव मन की शक्तियाँ अद्भुत और गति तीव्र है। जिस प्रकार जागते हुए मनुष्य का मन दूर चला जाता है, उसी प्रकार सोते हुए मनुष्य का मन भी जाता है।[10] इसीलिए शिवसंकल्पसूक्त में **'दूरं गमम्'** और **'जविष्ठम्'** कहा गया है। दुःस्वप्न और निर्ऋति के

1. *सत्यार्थप्रकाश, पृ. 238*
2. *मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः महतः परमव्यक्तम्-कठोपनिषद् 1.3*
3. *मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये। मत्यै, श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।। अथर्व. 6.41.1*
4. *दैवम्-ज्योतिषां ज्योतिरेकम् .. यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्। यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु .. हृत्प्रतिष्ठं यदजिरम्।*
5. *पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। अथर्व. 1.1.2*
6. *केनास्मिन् निहितं मनः। अथर्व. 10.2.19*
7. *यद्येतादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि। अथर्व. 5.16.11; इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि। अर्थ. 19.9.5*
8. *नैव ते मनो हृदयं चाविदाय। ऋग्. 10.10.13*
9. *ऋग्वेद, सायण भाष्य, 10.10.13*
10. *यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। यजु. 34.1*

विनाशार्थ **'मनसस्पते'** का आह्वान मन की महती शक्ति का स्मरण करते हुए ही किया है।[1] ऋग्वेद के दशम मण्डल के 58 सूक्त का विषय **'मन आवर्तनम्'** है जिसमें स्वर्ग, पृथिवी, दिशाएँ, आकाश, समुद्र, औषधियाँ आदि विभिन्न स्थानों में गए मन को लौटाने की प्रार्थना की गई है।

मानव में मन की महत्ता सर्वोपरि है। वही समस्त कर्मों का आधार है। उसकी एकाग्रता के बिना कोई भी कर्म संभव नहीं है, चाहे वह छोटा हो या बड़ा।[2]

अथर्ववेद में अशुभ आचरण और पाप से बचने की तथा उनके नाश की अनेक प्रार्थनाएँ हैं।[3]

परिवार, समाज और राष्ट्र में जनों में सौहार्द्र, सद्भावना और सम्भावना के लिए मन और हृदय की समानता स्पृहणीय है और इस तथ्य के उद्घोषक हैं– **सांमनस्य सूक्त।** आथर्वण ऋषि का मत है कि हृदय मंगलकारी वृत्तियों से ही तृप्त होता है।[4]

मन और वाणी के अटूट सम्बन्ध की सुन्दर व्यञ्जना ऋग्वेद में उपलब्ध होती है। वहाँ पर मानवीय व्यक्तित्व के उत्कर्ष के लिए मनरूपी छलनी से छानकर वाणी के प्रयोग का निर्देश है।[5]

वेद में **'आकूति'** को चित्त की माता तथा मन या हृदय में प्रविष्ट कहा गया है।[6] आकूति मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प, इच्छा या कामना का नाम है, क्योंकि ऋक्मन्त्रों में जहाँ इसे हृदय और मन से सम्बद्ध और पृथक् बताया है।[7] वहीं मन को इसका अधि-करण भी कहा गया है।[8]

वेदमंत्रों में मानवीय स्वभाव का काव्यमय शैली में वर्णन है। मानवीय स्वभाव और गुणों की विविधता और असमानता का निर्देश भी मन्त्रों में यत्र तत्र हुआ है।[9]

▪ मूलप्रवृत्तियाँ–

मनोविज्ञान में मानव की मूल प्रवृत्तियों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। इन मूल प्रवृत्तियों में काम प्रमुख है। काम से ही वासनाओं की उत्पत्ति होती है, यही अनन्त प्रकृतिरूपी

---

1. ऋग्वेद 10/1/164

2. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञेकृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यजु. 34.2
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते। यजु. 34.3

3. परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। अथर्व. 6.45.1

4. शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयामि। अथर्व. 2.29.6

5. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो, यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। ऋग्. 10.71.2

6. आकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा। अथर्व. 6.73.2

7. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः । ऋग्. 10.191.4

8. आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। ऋग्. 10.128.4

9. यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि। ऋग्. 10.117.9, मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋग्. 10.71.7

धेनुका दूध है।[1] प्रजापति के मन में सर्वप्रथम सिसृक्षा रूप काम ही उत्पन्न हुआ, वह काम जो मन का प्रथम बीज है।[2] अथर्ववेद के एक सूक्त (3.25) में हृदय को बींधने वाले स्त्रीविषयक काम-बाणों का चित्र है तो देवों की प्रणय-भावनाओं का चित्रण भी मानव-स्वभाव के अनुरूप हुआ है। यथा- सूर्य चमकीली उषा का पीछा एक प्रेमी के समान करता है।[3]

मानव के संवेगात्मक अनुभवों में प्रेम, क्रोध, भय आदि संवेगों का विवरण वेदों में व्यापक रूप से प्राप्त होता है। अन्य संवेगों का वर्णन कहीं सांकेतिक रूप में तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप में हुआ है।

स्थायी भावों और मनोभावनाओं को मानव के नैतिक-विकास एवं चरित्रनिर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानकर उनके स्वरूप, निराकरण अथवा उद्भव के सम्बन्ध में जो उद्भावनाएँ की हैं, वे मनोविज्ञान के छात्रों के लिए महत्वपूर्ण हैं। द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, कृपणता, उत्साह, करुणा आदि स्थायी भाव मनुष्य अपनी शक्ति से बनाता है। इसलिए इन्हें मिटाने या बढ़ाने की बात की है। अपने प्रति शत्रु में द्वेष को देखकर स्वंय में भी द्वेष उत्पन्न होता है।[4] किन्तु अभ्युदय की कामना से द्वेषभाव का निराकरण ही प्रार्थनीय है।[5] ईर्ष्या मानवीय चेतना के पतन का कारण होती है इसलिए 'ईर्ष्या निवारण' एक सम्पूर्ण सूक्त (अथर्व. 16.18) का विषय है।

उत्तम और श्रेष्ठ बनने की महत्वाकांक्षा[6] उत्साह की प्रशंसा और उसे बढ़ाने की प्रार्थना[7], श्रद्धा का महात्म्य[8], अहिंसा की उदात्त भावना,[9] मैत्रीभाव की परम काम्यता[10], आदि के पीछे भाव यही है इन उदात्त भावनाओं का उद्भव और विकास चारित्रिक पूर्णता का पोषक है।

▪ स्वप्न और सुषुप्ति-

वेद मन्त्रों में स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्थाओं का सुन्दर चित्रण किया गया है। स्वप्न के दोषों और सुषुप्ति के गुणों को दर्शाया गया है। दु:स्वप्नों के निवारण के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त में प्रार्थनाएँ की गई हैं।[11]

इसी प्रकार मानवीय तनावों के निराकरण तथा मन के प्रदूषण को दूर करने के उपाय

---

1. *वत्स: कामदुधो विराज:। अथर्व. 8.9.2*
2. *कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्। अथर्व. 19.52.1*
3. *सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋग्. 1.115.2*
4. *योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म:। अथर्व. 10.5.15*
5. *अस्मन् द्वेष: वितर। ऋग्. 2.33.2 आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम। ऋग्. 5.45.5*
6. *अहं भूयासमुत्तम:। अथर्व. 6.15.1-3*
7. *मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देव:। अथर्व. 4.32.2*
8. *श्रद्धया विन्दते वसु। ऋग्. 10.151.4 श्रद्धया हूयते हवि:। ऋग्. 10.151.1*
9. *ऋग्. 6.19.4*
10. *ऋग्. 10.71.6*
11. *अथर्वे. 4.9.6*

बताकर, मनोविज्ञान के व्यावहारिक और जीवनोपयोगी पक्षों को प्रस्तुत किया है।

वैदिक ऋषि प्रबुद्ध आध्यात्मिक चिन्तक थे, उनके दर्शन का उद्देश्य मनुष्य के लिए सर्वाधिक पूर्णता की प्राप्ति था। उत्कृष्ट आध्यात्मिक चिन्तन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्वों के बोध बिना सम्भव ही नहीं है। निस्सन्देह वैदिक मनोविज्ञान जीवन के पूर्ण उत्कर्ष के लिए उत्तम मार्ग-दर्शन करता है।

इस प्रकार वेदों में विविध विद्याएँ कहीं सूत्र रूप में तो कहीं विशद रूप में निर्दिष्ट हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम सूक्ष्मेक्षिका निर्मल बुद्धि से इन विद्याओं का साक्षात्कार कर पल्लवन करें, इससे मानवजाति का महान् कल्याण होगा।

▪ वेदों में अर्थव्यवस्था–

व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र की सर्वागीण उन्नति के लिए अर्थ अत्यन्त आवश्यक है। वेद हमें अधिकाधिक ऐश्वर्यशाली बनने की प्रेरणा देता है। वेदों में स्थान-स्थान पर इस आशय के मन्त्र उपलब्ध होते हैं जिनमें प्रार्थना की गई है कि हम गौ, अश्व, हिरण्यादि अपार सम्पत्ति के स्वामी बनें। **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'**[1]

ऋग्वेद में अर्थ के लिए– मघ[2] रत्न[3] रयि[4] वसु[5] राध[6] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इन चारों वेदों में धन के लिए प्रयुक्त इन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग ही अर्थ के शुद्ध स्वरूप को द्योतित करता है। भूमि, श्रम, साधनसामग्री, व्यवस्था और साहस इन पाँच को अर्थोत्पत्ति का उपकरण माना गया है।

कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, उद्योग, शिल्पकला आदिको अर्थ प्राप्ति का प्रमुख साधन कहा गया है।

वैदिक अर्थव्यवस्था का मूलाधार है त्यागवृत्ति। वेदानुयायी अर्थ संग्रह करता है, दान के लिये। **महाकवि कालिदास** ने रघुवंशीय राजाओं का गुणगान करते हुए यही कहा था– **'त्यागाय संभृतार्थानाम्'** जैसे सूर्य भूमि से जल ग्रहण करता है, हजारों गुणा करके बरसाने के लिये– **'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'**।[7] यही वैदिक अर्थदृष्टि है। वेद के अनेक मन्त्रों में दान की महिमा प्रदर्शित की गई है। इस अर्थ-अर्जन की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि धन पाप के मार्ग से नहीं अपितु धर्मपूर्वक सत्यमार्ग से प्राप्त होना चाहिये। कहीं हम धन प्राप्ति की लगन में कुमार्ग से धन कमाने में प्रवृत्त न हो जाएं, इस दृष्टि से वैदिक स्तोता श्रेष्ठ और भद्र धनों की ही याचना करता है, पाप से कमाए गए धनों की नहीं–

---

1. ऋग्वेद 10/121/10
2. ऋग्वेद 9/75/5
3. ऋग्वेद 1/47/1
4. ऋग्वेद 1/78/8
5. ऋग्वेद 3/13/7
6. ऋग्वेद 2/9/4
7. ऋग्वेद 1/18

'इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि'[1] **'अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त'**[2] पाप-मार्ग का अनुसरण कर हम धनी न बनें, इस विषय में वेद इतना सतर्क है कि अथर्ववेद में चार मन्त्रों का एक पूरा सूक्त 7.115 इस विषय में लिखा गया है। मनुष्य को सदा निरीक्षण करते रहना चाहिए कि कहीं कोई पाप की लक्ष्मी तो मेरे पास नहीं आ गई है–

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ।।[3]

अर्थात्– जैसे कोई अपनी गौशाला में प्रविष्ट गौओं की पड़ताल करता है कि यह मेरी है या नहीं, उसी प्रकार मैं अपने समीप आई हुई लक्ष्मियों का निरीक्षण करता हूँ। जो पुण्य की लक्ष्मियां हैं उन्हें मैं.अपने पास रमने देता हूँ– किन्तु जो पाप-लक्ष्मियां हैं उन्हें दूर कर देता हूँ।

वेदों में अर्थव्यवस्था का सुस्पष्ट एवं बृहद् चिन्तन प्राप्त होता है, विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

❐

---

1. ऋग्वेद 2/21/6

2. ऋग्वेद 7/82/1

3. अथर्व. 7/115/4

द्वितीय अध्याय

लोक में अर्थ का महत्त्व

भारतीय मनीषियों द्वारा गहन चिन्तन, मनन के पश्चात् व्यक्ति और समाज के लिए सुस्थापित पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अर्थ की महत्ता किसी भी देश, काल अथवा परिस्थिति में अनिवार्य है। अर्थ के बिना लोक-यात्रा कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकती। आवास, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा आदि अर्थ के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। धर्म और काम की सिद्धि भी बिना अर्थ के नहीं होती। परोपकार और यज्ञ के लिए भी अर्थ अत्यावश्यक है। जो लोग यह समझते हैं कि अर्थ, अनर्थ का मूल है, यह तो केवलमात्र माया है– असत्य है– इसकी उपेक्षा करनी चाहिए या इसकी ओर से सर्वथा त्यागवृत्ति ही कल्याण का मार्ग है– यह नितान्त असत्य है।

वेद-मन्त्रों में परमात्मा से धन प्राप्ति की प्रार्थनायें अनेक मन्त्रों में की गयी हैं–

- **स नो वसून्याभर**[1] – वह परमात्मा से धन प्राप्ति की प्रार्थनायें अनेक मन्त्रों में की गयी है–
- **उभा हि हस्ता वसुना पृणुस्व**[2] – हे प्रभो! हमारे दोनों हाथों को धनों से अच्छी प्रकार भर दो।
- **वयं भगवन्तः स्याम**[3] – हे प्रभो! हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण होवें।
- **अग्ने नय सुपथा राये**[4] – हे ज्ञानस्वरूप अग्ने! हमें महान् धन, ऐश्वर्य के लिये उत्तम मार्ग पर ले चलिये।
- **श्रीःश्रयताम् मयि**[5] – मुझमें श्री स्थिर हो।
- **वसोर्दाता वस्वदात्**[6] – ऐश्वर्य का दाता हमको ऐश्वर्य देवे।
- **श्रेयसे वित्तधम्**[7] – धर्म, अर्थ, कामना की प्राप्ति के लिए धन धारण करने वाले को उत्पन्न कीजिए।
- **वयं स्याम पतयो रयीणाम्**[8] – हम धनों के स्वामी बनें।

इसी प्रकार बहुत से मंत्रों में धनैश्वर्य की प्रार्थना परमात्मा से की गई है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय अर्थ की महत्ता से भरा पड़ा है। किसी भी ऋचा में हमें निर्धनता या दरिद्रता की कामना दिखाई नहीं देगी।

वैदिक साहित्य के बाद रामायण, महाभारत आदि में भी अर्थ का गौरव गान किया

---

1. यजु. 15/30, 2. यजु. 5/19, 3. यजु. 34/38, 4. यजु. 7/43, 5. यजु. 39/4,
6. यजु. 4/16, 7. यजु. 30/11, 8. यजु. 10/20

गया है। मनुस्मृति में राजा के लिए अर्थ-संग्रह की बड़ी सुन्दर व्यवस्था प्रतिपादित है। मनु जी कहते हैं कि जैसे जोंक, बछड़ा और मेमना थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से वार्षिक कर लेवे।[1] अति लोभ से दूसरों के सुख के मूल को नष्ट न करे अर्थात् लोभ से कर न ले।[2] अर्थ की सुदृढ़ता के लिए मनु ने चार उपाय बताये हैं– 1. अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, 2. नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, 3. रक्षित की वृद्धि, 4. बढ़े हुए धनका व्यय।[3]

अर्थ की महत्ता पर मनु लिखते हैं कि सब पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता अति श्रेष्ठ है– **"सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।"**[4]

महाभारत में धर्म के समान अर्थ की महत्ता व्यापक रूप से कही गई है। किसी भी बलशाली राजा के लिए जैसे विशाल सेना आवश्यक होती है उसी प्रकार धन भी परमावश्यक है। अर्थहीन राजा को छोड़ कर सब चले जाते हैं। शान्तिपर्व में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा अपने तथा शत्रु के राज्य से धन लेकर खजाने को भरे क्योंकि कोश से ही धर्म की वृद्धि होती है और राज्य की जड़ें बढ़ती हैं इसलिए राजा कोश का संग्रह करे। उसकी रक्षा करे तथा उसको निरन्तर बढ़ाता रहे। यही राजा का सदा से चला आने वाला धर्म है।[5] दरिद्र मनुष्य पास में खड़ा हो तो लोग उसको इस प्रकार देखते हैं मानों वह कोई पापी या कलंकित हो, अतः दरिद्रता इस जगत् में एक पाप है। पतित और निर्धन में कोई अन्तर नहीं है। जैसे पर्वतों से बहुत-सी नदियाँ बहती रहती हैं उसी प्रकार बढ़े हुए संचित धन से सब प्रकार के शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता रहता है। धन से ही काम और स्वर्ग की सिद्धि होती है। लोगों का जीवन निर्वाह भी धन के बिना नहीं हो सकता।[6]

संसार में धनहीन लोगों के लिए सारे मनोरथ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जैसे गर्मी में छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं, उसी प्रकार धनहीन मन्दबुद्धि मनुष्य की सारी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। जिसके पास धन होता है उसी के बहुत-से मित्र होते हैं। उसी के भाई-बन्धु हैं, जिसके पास धन है वही पुरुष कहलाता है और वही पण्डित माना जाता है।[7] धन की महत्ता बताते हुए अर्जुन, युधिष्ठिर से कहते हैं– नरश्रेष्ठ। धन से धर्म का पालन,

---

1. यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यंवार्याकोवत्स षट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो गृहीतव्योराष्ट्राद् राज्ञाब्दिकः करः ।। मनुस्मृति 7/129

2. नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ।। मनु. 7/139

3. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।। मनु. 7/99

4. मनु. 5/106

5. स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राञ्च कोशं संजनयेन्नृपः ।
कोशाद्धि धर्म कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते ।।
तस्मात् संजनयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेत् ।
परिपाल्यानुतनुयादेष धर्मः सनातनः ।। शान्तिपर्व 133/1-2

6. शान्तिपर्व 8/14-17

7. शान्तिपर्व 8/18-19

कामना की पूर्ति, स्वर्ग की प्राप्ति, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की सफलता, शास्त्रों का श्रवण, अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं। धन से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है, और धन से ही धर्म की वृद्धि होती है। अर्थ-हीन के लिए न यह लोक सुखदायक होता है, न परलोक। निर्धन मनुष्य धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। जैसे पर्वत से नदी झरती है उसी प्रकार धन से ही धर्म का स्रोत बहता है।[1]

महान् नीतिनिष्णात विदुर जी ने अर्थ की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित की है– अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक हैं, अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, धनवान् मनुष्य धन के द्वारा उत्तम धर्म का पालन और अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए दुर्लभ कामनाओं की प्राप्ति कर सकता है। जिस प्रकार सभी प्राणी सदैव ब्रह्माजी की उपासना करते हैं उसी प्रकार उत्तम जाति के मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुष की कामना किया करते हैं।[2]

अर्थ की महत्ता इस बात से भी सिद्ध हो जाती है कि चाणक्य सदृश महान् आचार्यों usvEkZo9lEU/ es **'कौटिल्य-अर्थशास्त्र'** जैसे विशाल ग्रन्थों का प्रणयन किया। संस्कृत के अनेक महाकवियों ने धन के महत्त्व को स्वीकार किया है। काव्य का प्रयोजन निरूपित करते हुए आचार्य **मम्मट** यश के पश्चात् दूसरा स्थान अर्थ को प्रदान करते हैं– **'काव्यं यशसे अर्थकृते'**।[3] अर्थ-प्राप्ति का प्रयोजन सामने रखकर अनेक उत्तमोत्तम काव्यों का निर्माण होता रहा। कहा भी है **'अर्थस्य पुरुषो दासः'** – मानव अर्थ का दास है।

संस्कृत के मूर्धन्य नाटककार **शूद्रक** ने अपने नाटक **मृच्छकटिकम्** में मर्मस्पर्शी भाषा में अर्थ की महत्ता प्रतिपादित की है। अर्थ के द्वारा जहाँ मानव की समस्त सांसारिक इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, वहाँ पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का प्रमुख साधन भी अर्थ है। शूद्रक की दृष्टि में निर्धनता षष्ठ महापातक है।[4] दरिद्र पुरुष की दयनीय स्थिति का यथार्थ वर्णन कवि ने प्रस्तुत श्लोक में दिया है, जिसकी सत्यता भुक्तभोगी ही समझ सकता है–

> **दारिद्रयात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते,**
> **सुस्निग्धा विमुखी भवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः ।**
> **सत्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते,**
> **पाप कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ।।**[5]

शुक्रनीतिकार के मत में अर्थ से धर्म, काम और मोक्ष तीनों प्राप्त होते हैं। यह पुरुष अर्थ का दास है, किन्तु अर्थ किसी का दास नहीं है। अतः अर्थ की प्राप्ति के लिए मनुष्य अवश्य प्रयत्न करे।[6]

---

1. *शान्तिपर्व 8/121-23*
2. *शान्तिपर्व 167/12-15*
3. *काव्यप्रकाश 1/3*
4. *मृच्छकटिकम् 1/37*
5. *मृच्छकटिकम् 1/36*
6. *अर्थाद्धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापी भवेन्नृणाम् ।*
   अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।। शुक्र. 4/1283

किसी नीतिकार ने कितना सुन्दर कहा है–

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ।। नीति. 41

हम व्यावहारिक जगत् में यही देखते हैं कि धनवान् की सर्वत्र पूजा होती है, निर्धन को कोई अपने पास बैठाना भी नहीं चाहता। पञ्चतन्त्र कहता है कि संसार में जिसके पास अर्थ है, उसी के मित्र और उसी के बन्धु होते हैं। जिसके अर्थ है वही लोक में पुरुष है और जिसके अर्थ हैं वही पण्डित है–

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थः स पुमांल्लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः ।। पंच. 1-3

वैदिक संहिताओं में अर्थ

वैदिक संहिताओं में अर्थ के मूल आधार तीन माने गये हैं– भूमि, पशु और मनुष्य। सारा अर्थतन्त्र इनके आश्रित है। कृषि द्वारा अन्न आदि की उत्पत्ति, खनिज द्रव्यों की प्राप्ति, वृक्षादि भवन निर्माण सामग्री की प्राप्ति भूमि के आश्रय से होती है।

अथर्ववेद का संपूर्ण **भूमिसूक्त** इसका प्रमाण है। वैदिक ऋषियों ने मातृभूमि की प्रशंसा और वन्दना में जो भाव इस सूक्त में अभिव्यक्त किये हैं, वे अद्‌भुत हैं इस सूक्त में मातृभूमि के उपासक के मुख से जो उद्‌गार व्यक्त कराये गये हैं, वे विश्वसाहित्य में अन्यत्र दुर्लभ हैं। मातृ-भूमि का भक्त जानता है कि यह रत्नगर्भा वसुधा हम देशवासियों को सब प्रकार के धन, ऐश्वर्यो को प्रदान करने वाली है। वह अपनी मातृ-भूमि के वन-पर्वत और नदी-समुद्र आदि के सौन्दर्य पर मुग्ध है। देशवासियों की सुख-समृद्धि तथा उनके ऊंचे सांस्कृतिक जीवन पर भी मुग्ध है। भूमि-सूक्त के माध्यम से ऐसा सन्देश वेद माता ने दिया है कि राजा, राजकर्मचारी और प्रजाजन यदि इनके अनुसार चलें तो राष्ट्र सब प्रकार की सुख-समृद्धि से युक्त, चहुंमुखी उन्नति करने वाला और अपराजेय बन सकता है। भूमिमाता का अर्थ की दृष्टि से परम-महत्त्व प्रतिपादित करने वाले कुछ मन्त्र प्रस्तुत हैं–

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ।।
अर्थव. 12.1.4

अर्थात्– जिस मातृभूमि की चार विस्तीर्ण दिशायें हैं, जिसमें अन्न होते हैं, खेतियाँ होती हैं, मनुष्य मिलकर रहते हैं, मिलकर उन्नति करते हैं, जो प्राणधारी और चेष्टाशील प्राणिजगत् को अनेक प्रकार से भरण-पोषण करती हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें गौवें और भाँति-भाँति के अन्न प्रदान करे।

यह भूमि सबका भरण-पोषण करने वाली, सब प्रकार के ऐश्वर्य को अपने में धारण

करने वाली, सबका आधार, सबको आश्रय और प्रतिष्ठा देनेवाली, सुवर्णादि पदार्थों को अपने वक्ष:स्थल में रखने वाली, तथा सब जगत् को अपने में बसाने वाली है–

'विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।'

–अथर्व. 12.1.6

इस सूक्त में भूमि-माता को बार-बार हिरण्यवक्षा कहा गया है। एक अन्य मन्त्र में पृथिवी वंदना करता हुआ राष्ट्रभक्त कह उठता है–

शिला भूमिरश्मा पांसु: सा भूमि: संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नम: ।। अथर्व. 12.1.26

अर्थात्– राष्ट्र की भूमि शिला, पत्थर और धूल है, वह अच्छी प्रकार धारण की जाने पर मातृभूमि बन जाती है। सुवर्णादि को अपने वक्ष:स्थल में धारण करने वाली मातृभूमि के लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

यह भूमिमाता हम जिस धन की कामना करते हैं, उसे हमें सब ओर से प्रदान करती है, इस भूमि से ऐश्वर्य प्राप्त करने की कामना हमें ऐश्वर्यवर्धक कार्यों में लगाये, और इस विषय में हमारा सम्राट् मार्गदर्शक बने–

सा नो भूमिराहिशतु यद्धनं कामयावहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगव: ।। अथर्व. 12.1.40

इस भूमि में क्या नहीं है, इसी में अनेक प्रकार का अन्न उत्पन्न होता है, चावल और जौ उत्पन्न होते हैं, ये पाँच प्रकार के मनुष्य इसी के हैं, मेघ से पालन की जाने वाली, वर्षा से स्निग्ध होने वाली, उस मातृभूमि के लिए नमस्कार हो–

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा: पञ्च कृष्टय: ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ।। अथर्व. 12.1.42

यह भूमि ऐश्वर्यों की खान है। इसकी गुफायें खजानों से भरी हैं–

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ।।

अथर्व. 12.1.44

अर्थात्– अपनी गुफाओं में अनेक प्रकार से खजानों को धारण करती हुई हमारी मातृभूमि मेरे लिए धन, मणि और सुवर्ण प्रदान करे। धन देने वाली, दिव्यगुणों वाली, प्रसन्नचित्तवाली होकर, धनों को देती हुई, मातृभूमि हमें सुखपूर्वक रखे।

राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि के लिए इस सूक्त में विशेष बात कही गई है। हम राष्ट्रवासियों को गांवों, नगरों अथवा वनों में जहाँ कहीं भी सभा, समिति अथवा संग्राम में बोलने का अवसर प्राप्त हो हमें सदा सुन्दर अर्थात् राष्ट्र के लिए हितकर वचन ही कहने चाहिए–

ये ग्रामा यदरण्यं या: सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामा: समितयस्तेषु चारु वदेम ते ।।

अथर्व. 12.1.56

इस सूक्त के 63 मन्त्रों में काव्यमयशैली में समझाया गया है कि यह भूमि हमारा सर्वस्व

है, यही हमको जीवन देती है, इसी की धूल, मिट्टी में खेलकर हमारा बाल्यकाल यौवन में प्रवेश करता है। इसी पृथ्वी मां का अन्न, जल, वायु, दूध तथा औषधियों का सेवन कर यह शरीर पुष्ट होता है। यह भूमि हमें सुवर्ण, रत्न आदि सब कुछ प्रदान करती है, इसलिए हमारे हृदयों में इसके प्रति सदैव कृतज्ञता और भक्ति की भावना रहनी चाहिए।

भूमि के बिना अर्थशास्त्र का कोई आधार ही नहीं रह जाता। अर्थशास्त्र का दूसरा प्रमुख आधार है– **पशु।** हमारे जीवन निर्वाह के लिए पशुओं से अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है। कृषि में पशुओं का अनेक प्रकार का साहचर्य तथा कृषि को उपजाऊ बनाने में खादादि के रूप में सहयोग सर्वविदित है। अन्न अथवा भोजन की समस्या के निराकरण में गौ आदि पशुओ की भूमिका महत्त्वपूर्ण हैं। वेद पशुधन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है। इस पर विस्तार से विचार स्वतन्त्र अध्याय में करेंगे।

अर्थतंत्र का तीसरा प्रमुख आधार **मनुष्य** है। संसार का संपूर्ण अर्थशास्त्र मानव के चारों ओर घूमता है। ऐश्वर्यो से भरी इस वसुधा का उपभोग मानव ही तो करता है। मनुष्य की आवश्यकता एवं कामना के आधार पर ही अर्थशास्त्र का चक्र गति करता है। मानव पुरुषार्थ से संसार के ऐश्वर्यो को प्राप्त करता है। वेद कहता है– **भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वपम्।** यजु. 30/19

ऐश्वर्य के लिय आलस्य, निद्रा आदि को त्यागकर जाग्रत्, चैतन्य होकर पुरुषार्थ करने से पृथिवी का विशाल वैभव प्राप्त होता है, अकर्मण्य, आलसी बनकर सोते रहने पर तो दारिद्र्य, निर्धनता, ऋणादि की प्राप्त होती हैं।

■ अर्थ के विभिन्न नाम–

वेद में अर्थ अथवा धनवाचक अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये धनवाचक शब्द पर्यायवाची होते हुए भी भिन्न-भिन्न रूपों के वाचक हैं। इन शब्दों के रहस्यों को जान लेने पर धन की विविध अवस्थाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। यहाँ पर कतिपय शब्दों पर विचार करना उचित होगा।

1. **अर्थ**– यह शब्द व्यापक अर्थ वाला है। धनैश्वर्य सम्बन्धी जिन-जिन पदार्थों की कामना हम करते हैं, और उन कामनाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय, श्रम अथवा वस्तुओं के आदान-प्रदान द्वारा जिस प्रतिफल की आशा या याचना करके जो प्राप्त करते हैं, वह अर्थ है। **'अर्थ्यते प्राथ्यर्ते इति अर्थः'।** यह व्युत्पत्ति जिस-जिस द्रव्य-प्राप्ति में घटित होती है वह सब अर्थ है।

2. **धन**– धन बहुत व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत सुवर्ण आदि धातुएँ, भूसम्पत्ति, पशु अन्नादि, चल-अचल सम्पत्ति परिगणित होती हैं, जो कि पृथिवी पर सर्वत्र विद्यमान हैं परन्तु जब इस पर अपना, पराया स्वामित्व, स्थायित्व, गतित्व का प्रभाव पड़ता है तो उसकी विविध संज्ञाएँ हो जाती हैं। **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'** (यजु. 40/1) में धन शब्द का यही अभिप्राय है।

धन शब्द का निर्वचन वेद में 'धा' धातु से संकेतित है। 'धा' धातु का अर्थ दूसरे

के लिये धारण करना अथवा दान देना। निम्न मन्त्र में कहा गया है कि जब संग्राम होते हैं तब इन्द्र घर्षणशील वीर को धन प्रदान करता है–

"यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना ।" ऋ. 1.81.3

स्कन्द स्वामि धीयते में प्रीणनार्थक धि धातु मानते हैं। उनके अनुसार धन का मुख्य प्रयोजन प्रीणन है। जो धन प्राप्त करता है, वह उसको पाकर प्रसन्न होता है। अत: दूसरों को प्रसन्न करने के लिये उन्हें धन दिया जाता है। धन अन्यों को प्रसन्न करने के लिये दिये जाते हैं, यह भाव निम्न मन्त्र से भी स्पष्ट हो रहा है जिसमें कहा गया है कि सब जन, सब प्रजाओं का हित करने के लिए राजा को कर रूप में या उपहार रूप में धन प्रदान करते हैं–

"ददुरस्मै दधिरे कृत्नवे धनम् ।" ऋ. 2. 13.10

अथर्ववेद में धन का प्रयोजन पुन: दान ही कहा गया है–

"इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु ।" अथर्व. 11.1.28

इस मंत्र में कहा गया है कि मैं यह उत्कृष्ट धन ब्राह्मणों को, विद्वानों को देता हूँ। यह धन मन्त्र के पूर्वार्ध में **'इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यम्'** कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि धन का मुख्य उद्देश्य दान ही है। धन को हिरण्य कहा है। हिरण्य शब्द का निर्वचन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं– **'हिरण्यं हितरमणं भवति, तथा जनात् जनं ह्रियते।'** वस्तुत: अर्थतन्त्र का यही मुख्य आधार है। धन एक व्यक्ति से दूसरे के पास जाता रहे। गतिशील रहे, एक ही स्थान पर संगृहीत होकर न रहे, जिस प्रकार बहता हुआ जल स्वच्छ और जनहितकारी होता है, किसी जलाशय में अवरुद्ध एकत्रित जल दूषित हो जाता है, यही दशा धन की भी है। यदि धन एक व्यक्ति से दूसरे के पास, उससे किसी और के पास गति करता है, तब वह हिरण्य है, सच्चा धन है।

वेद के समान व्यावहारिक लोकभाषा में भी अर्थ के लिए धन शब्द का प्रयोग बहुलतया होता है।

3. **द्रव्य** – यह शब्द केवल सुवर्णादि धातु रूप धन का वाचक है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्यों, पदार्थों का विनिमय हुआ करता है।

4. **व्यवहार्य धन** – जिस धातु से प्रधान रूप से मुद्राओं का निर्माण होकर वस्तुओं के क्रय विक्रय आदि में सहायता प्राप्त होती है, वह व्यवहार्य धन कहलाता है।

5. **धेनु** – धन, द्रव्य एवं व्यवहार्य धन ये सब धेनु संज्ञक हैं। इनसे अन्य प्रकार के द्रव्यों का क्रय-विक्रय होता है और उसको पुन: पुन: इसी कार्य में लगाकर द्रव्योपार्जन होता है। अत: जिस मूलभूत पूंजी से अर्जन होता है, वह धेनु है।

6. **इष्टका** – व्यापार की मूल पूंजी का नाम इष्टका है। अपने व्यापारिक इष्ट साधन के लिए इसका प्रयोग होता है। जैसा कि– **"इमा मे अग्न इष्टका धेनव:"** (यजु. 17/2) में दोनों शब्दों का प्रयोग है।

7. **ब्रह्म** – इष्टकाओं-मूलभूतपूंजी से जब लाभ होना प्रारम्भ होता है जब वह धेनु हो जाती है, उस धेनु से बढ़ी हुई राशि **'बृहत्वाद् ब्रह्म'** कहलाती है। जैसा कि– **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्''**। (यजु. 32/16) में ब्रह्म शब्द श्री से ही सम्बन्धित है।

8. **वित्त** - ब्रह्मराशि में से जो भाग चुकाने के लिए है उसे वित्त कहते हैं। **"वित्यते त्यज्यते अनेनेति वित्तः"** अर्थात् जो भाग छोड़ा जाता है अर्थात् दिया जाता है वह वित्त है।

9. **बन्धु** - ब्रह्मराशि में से लाभांश का जो भाग पुनः इष्टका रूप में मूल पूंजी बनाकर लगाया जाता है वह बन्धु संज्ञक द्रव्य है।

10. **रेक्ण** - किसी की ओर शेष राशि जो कि संशयित है, अर्थात् जिसकी प्राप्ति की आशा कम रह जाती है, उसे 'रेक्ण' कहा गया है। रिच् धातु से अगुन् प्रत्यय करने पर यह सिद्ध होता है।[1]

11. **द्रविण** - उपार्जित राशि में से जो लाभ राशि हमारे व्यक्तिगत कार्य के लिए है उसे द्रविण कहते हैं। द्रविण प्राप्ति की प्रार्थना अनेक मंत्रों में की गई है। यथा–

"इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि देहि ।"

12. **राधः** - द्रविण में से बचकर जो भाग अपनी निधि को बढ़ाता है उसे राधः कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में इसका व्याख्यान इस प्रकार किया है– "राधसः पृथिव्यादि धनात्-अत्र 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इति असुन् प्रत्ययः (ऋ. 1.15.5), विद्यासुवर्ण-चक्रवर्ति राज्यादि धनस्य (ऋ. 1.22.7) राध्नुवन्ति सम्यङ्निर्वर्तयन्ति सुखानि येभ्यः साधनेभ्यस्तानि। यजु. 3.13

13. **रयि** - वेद में धन वाचक शब्दों में 'रयि' महत्त्वपूर्ण है। वेद मन्त्रों में रयि का प्रयोग पर्याप्त रूप में हुआ है। गतिशील धन को रयि कहते हैं। दानार्थक रा धातु से रै शब्द निष्पन्न होता है। यथा **'रास्वा रायो विमोचन'** (ऋ. 8.4.16) तथा **'राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिरुष्य'** (ऋ. 4.2.11)। यही भाव अधोलिखित मन्त्र में व्यक्त हो रहा है, जिसमें कहा गया है– "हे अग्ने! जो व्यक्ति दानशील होता है, और जिसकी तुम रक्षा करते हो, दीनहीन भावनायें उससे संयुक्त नहीं होती, और रै अर्थात् धन भी उसे छोड़कर नहीं जाते–

'न तमग्ने अरातयोमर्त्तं युवन्त रायः ।
यं त्रायसे दाश्वांसम् ।। ऋ. 4/71/4

अर्थतन्त्र के विचार प्रसंग में अधोलिखित मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें धन का प्रधान लक्ष्य दान ही बताया गया है–

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ।।

अ. 3.20.5

14. **द्युम्न** - राध संज्ञक धन-राशि से हम जिन स्वर्ण, हीरा, मोती आदि पदार्थों को क्रय करते हैं, मकान आदि बनवाते हैं, भूसम्पत्ति आदि लेते हैं, वह द्युम्न हैं। इसी को रायः, भागः, रै, विभव, विभूति, भूतिः, संभूतिः, श्री, लक्ष्मी, एवं ऐश्वर्य नामों से सम्बोधित करते हैं।

महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में 'द्युम्न' का अर्थ धन ही किया है।[2]

---

1. 'रिचेर्धने घिच्च' उ. 4.199, अनेन रिच् धातोर्धनेऽर्थेऽसुन्प्रत्ययः स च घिन्नुडागमश्च।

2. द्युम्नम् धनम् - यजु. 4.8, यशोधनं वा ऋ. 5.10.1, प्रकाशमयं यशोधनं वा 6.19.9, प्रकाशमयं ज्ञानम् 1.9.8, सुखप्रकाशयुक्तं धनम्, प्र. - द्युम्नमिति धननामसु पठितम् - निघं. 2.10

15. **वसुः** - भू-सम्पत्ति एवं भवन आदि की निवास योग्य सम्पत्ति वसु कहलाती है। वेदमन्त्रों में परमात्मा को वसोष्पति, अर्थात् वसुओं के पालक रूप में स्मरण किया गया है–

'वासोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ।'

स्वामी दयानन्द ने वसु की व्याख्या इस प्रकारकी है– 'सुखेषु वसन्ति येन तद्धनं विद्याऽरोग्यादिसुर्वणदिकं वा, प्र. - वस्विति धननामसु पठितम्। निघं. 2.10

16. **श्रवः** - जिस धन का दानादि में विनियोग हो या यज्ञादि कार्यों का जिस धन से विस्तार हो वह श्रवः कहलाता है। श्रवः यश अथवा कीर्ति को भी कहते हैं। श्रव का अभिप्राय हुआ वह धन जो यज्ञ, दानादि उत्तम कार्यों में प्रयुक्त होने से कीर्ति प्रदान करे।

17. **गयः** - जिस धन या सम्पत्ति को हम अपनी सन्तानों के लिये, प्रजा के कल्याणार्थ या राजा के विस्तार के लिए लगाते हैं, वह गय संज्ञक है। गय का अर्थ सन्तान भी किया गया है - अपत्य धनं गृहं वा, प्र. - गय इति अपत्यनाम, निघं. 2.2, धननाम, निघं. 2.10, गृहनाम निघं. 3.4

18. **रिक्थ** - जिस सम्पत्ति को हम दायभाग के रूप में प्राप्त करते हैं, या दायभाग के लिए रखते हैं वह रिक्थ[1] संज्ञक है। स्वामी दयानन्द ने भी रिक्थ शब्द का प्रयोग दायभाग में प्राप्त सम्पत्ति के रूप में किया है।

19. **वृत** - जो राशि हम उधार रूप में किसी से प्राप्त करते हैं, उसे वृत कहते हैं।

20. **श्वात्र** - जो धन अनेक प्रकार के व्यापारों में लगाया जाये अथवा अल्प समय के लिए दिया जाये, उसे श्वात्र कहते हैं।

21. **मेधा** - बिना पूंजी के अपने बुद्धि-कौशल से अर्जित धन को मेधा कहा जाता है।

22. **वरिवः** - अपने व्यापारिक वर्चस्व को स्थापित करने के लिए अथवा व्यापार की वृद्धि के लिए विज्ञापन आदि पर जो धन व्यय किया जाता है, उसे वरिवः कहते हैं।

ये सभी शब्द धन अथवा अर्थ के वाचक होते हुए भी उसकी विभिन्न दशाओं के प्रतिपादक हैं अनेक वेद-मन्त्रों में इनका अन्य अर्थों के साथ-साथ धन के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

वर्तमान आर्थिक चिन्तन में और वैदिक अर्थचिन्तन में मौलिक अन्तर है। आज की चिन्तनधारा मानव को अर्थ का दास बनाती है। वेदानुयायी यह मानता है कि **रयि** अथवा **श्री** या **लक्ष्मी** प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न कर दी थी। मानव का जन्म इसके बाद हुआ। अत्ता से पहले अन्न और भोक्ता से पहले खाद्य सामग्री विद्यमान होनी ही चाहिए। सामग्री तो विद्यमान है पर भोक्ता उसका कैसा उपयोग करता है, यही चिंतन का विषय है।

धन की तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं– दान, **भोग** और **विनाश**। धन प्रभु का दिया हुआ है, यह मानकर त्यागभाव से ही उसका भोग करना चाहिए।[2]

अधिक धन नाश का कारण–

धनसंग्रह और उपभोग के बीच कई स्थितियाँ आती हैं। किसी समय धन की मात्रा

---

1. *रिक्थमिति धननाम, निघं. 2.10, 3.31.2 (रिचिर्, विरेचने -रुधा-) धातोः पातृतुदिवचि. उ. 2.7 सूत्रेण थक् ।*
2. *ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।*
   तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। यजु. 40.1

अधिक हो जाती है, इतनी अधिक कि वह मानव के उपभोग में भी नहीं आ पातीं। ऐसी स्थिति में धन का उपयोग क्या होना चाहिए? अनुपयोग की अवस्था में धन मानव के पतन का कारण बन सकता है। वेद कहता है–

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा अभिचस्कन्द वंदनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितोधाः हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ।।

अथर्व. 7.115.2

प्रभु हिरण्यहस्त हैं। ऐश्वर्य, स्वर्ण हितकर और रमणीय रूप में उनके हाथों में चमक रहा है। वे ही इसका वितरण और विभाजन प्राणियों में कर रहे हैं। किन्तु जो धन प्राणियों के पास अजुष्ट अर्थात् असेवित है तथा उपयोग के बाहर है और परिणामतः पतन की ओर ले जाने वाला है, उसे मानव के स्वयं अभीप्सित व्यक्ति और स्थान के पास पहुँचा देना चाहिए। ऐसा न हो कि एक व्यक्ति भूख के मारे तड़प-तड़प कर प्राण दे दे और दूसरे व्यक्ति के पास पड़ा हुआ अतिरिक्त धन उसके विनाश का कारण बने।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्रभु को वसु का ईशान अर्थात् धन का स्वामी कहा गया है। धन पर जिसका स्वामित्व है, वशित्व है, वह धन से नहीं स्वतः अपनी शक्ति से चमकता है।[1] हम इस धन के स्वामी न होकर दास बन जाते हैं और उसके सहारे चमकना चाहते हैं। यह अवस्था निर्माण नहीं, विनाश की सूचक है। जब धन हमारे ऊपर राज करने लगता है तब हम उठते-बैठते, सोते-जागते उसी के सपने लिया करते हैं। हमारा अपना स्वत्व नष्ट हो जाता है, अतः हमें धन का दास नहीं स्वामी बनना चाहिए। मैं धन के लिये नहीं, धन मेरे लिए है– यह भावना ही मानव को विनाश से बचा सकती है। वेद में ऐसे धनवानों की निन्दा की गई है, जो धन के नशे में मतवाले बने हुए पर-पीड़न में निरत रहते हैं और हिंसक तथा शोषक का रूप धारण करते हैं। ऐसे रेवन्तों, आसुरी सम्पदा वालों को प्रभु का सख्य प्राप्त नहीं होता। ये मूढ़ निम्न से निम्न योनियों को, कृच्छ्रापत्तियों को भोगते हुए अधम से अधम गति के भाजन बनते हैं।[2] क्षुधित, भूख से तड़फड़ाता व्यक्ति तो मृत्यु के मुख में जाता ही है, वे व्यक्ति भी उसके आखेट बनते हैं जो खूब खाते-पीते हैं तथा भोगविलास में आपाद-मस्तक मग्न रहते हैं।[3]

अथर्ववेद में इसी हेतु पुण्य लक्ष्मी के रमण तथा पापीयसी लक्ष्मी के विनष्ट हो जाने की प्रार्थनायें की गई हैं।[4] ऋग्वेद में द्यूत से प्राप्त धन को पापीयान् तथा कृषि से प्राप्त धन को पुण्य माना गया है।[5]

---

1. एतो न्विन्द्रं स्तवामेशानं वस्वः स्वरातम्। न राधसा मर्धिषन्नः । ऋ. 8.81.4

2. न की रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुरासुराश्वः ।
यदा कृणोषि तदनुं समूहस्यादितपितेव हूयसे ।। ऋ. 8.21.14

3. न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ।। ऋ. 10.117.1

4. एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव। रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।। अथर्व. 7.115.4

5. अक्षैर्मा दिव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ।। ऋ. 10.34.13

दान की महिमा–

वेद में दान की महिमा स्थान-स्थान पर वर्णित है। ऋग्वेद में अदान वृत्तियों के शयन तथा दानवृत्तियों के जागरण की प्रार्थना है।[1] ऋ. 1.1.6 के अनुसार दान देने वाले का सदैव कल्याण होता है तथा 10.117.1 के अनुसार उसकी सम्पत्ति कभी क्षीण नहीं होती। अथर्ववेद में आज्ञा दी गई है कि सौ हाथों से धन इकट्ठा करो और हजारों हाथों से उसका दान करो। स्फाति या फसल को बढ़ाने का यही उपाय है।[2] अन्य एक मन्त्र में धन को सतत प्रवाहित करते रहने का आदेश है। जो सरिताएँ सतत प्रवाहित रहती हैं, वे अपने अक्षय स्रोत से सम्बद्ध रहती हैं।[3] इसी प्रकार धन का सतत प्रवाह, निरन्तर दान उस महादानी से सम्बन्ध स्थापित कर देता है। सामाजिक कर्तव्य की भी यही पुकार है कि जहाँ धन की अनिवार्य अपेक्षा है, वहाँ उसे बिना मांगे भी पहुँचा देना चाहिये। वेद में **केवलादी** को जो अपने आप खाता है, दूसरों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, केवल पाप रूप कहा गया है।[4]

धन का सत् प्रयोग–

प्रभु के ऐश्वर्य का, उसकी साधिका सम्पत्ति का अन्त नहीं है। उसकी पल-पल में नूतन रूप धारण करने वाली ऐश्वर्यमयता को हम समझ भी नहीं पाते। यह सम्पत्ति किसी एक की नहीं, हम सबकी साझी सम्पत्ति है। पिता के इस अपार धन पर हम सब पुत्रों का अधिकार है। अधिकार समान होते हुए भी हमारे कर्मों से उसमें वैषम्य आ जाता है। वह सबको दे रहा है। सबको उसी से पुष्टि प्राप्त हो रही है। वह धनद विश्वभर को धन बांट रहा है। उस **तुविदेष्ण** तथा **तुवीमघ** का वैभव सबके पास पहुँच रहा है जो इसे अपना नहीं, उसी दाता का धन समझ कर उपयोग में लाता है, जैसे भोजन को दांतों में ही बाँध कर नहीं रखा जाता, उसे दाँतों से पेट में और पेट से समग्र शरीर में भेजा जाता है। अन्न का यही सत प्रयोग है। इसी प्रकार समस्त भौतिक धन का प्रयोग करना चाहिये।

वेद ने बाह्य सम्पत्ति के अतिरिक्त मानव का ध्यान आन्तरिक सम्पत्ति की ओर भी आकर्षित किया है। ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे परमैश्वर्य संपन्न प्रभो! जो धन घोर विपत्तियों के बीच दृढ़, अविचल तथा स्थिर रहने वाले धीर पुरुष में होता है और जो धन द्रष्टा, विवेकशील ऋषि के पास है, वही धन स्पृहणीय है, वही धन तू मुझे भी दे–

यद्वीलाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ऋ. 8-45-41

---

1. *ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः ।*
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ऋ. 1.29.4
2. *अर्थ. 3.4.5*
3. *ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।*
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ अथर्व. 1.15.3
4. *मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।*
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ऋ. 10.117.6

इन शब्दों में वेद बाह्य वैभव की अपेक्षा अन्त:वैभव की प्रशंसा करता है और उसे अधिक श्रेय प्रदान करता है।

वेद का यह सन्देश प्रत्येक मानव के लिए विचारणीय है कि जो मनुष्य खाता तो है पर खाद्यान्न को उत्पन्न नहीं करता, धन का उपभोग तो करता है, पर अर्जन नहीं करता, जो खाऊ तो है पर कमाऊ नहीं है, उसे अग्निदेव सन्तप्त करते हैं–

ये भक्षयन्तो न वसूनि आनृध्र: यानग्नयोऽभ्यतप्यंताधिष्ण्या: ।
या तेषामवयादुरिष्टि: स्वष्टिम् नस्तांकृणवद् विश्वकर्मा ।।
अथर्व. 2.35.1

अर्जन-रहित उपभोग दुर्यज्ञ है, पर जो खाता है और साथ ही कमाता भी है, उपभोग से जो न्यूनता आ जाती है, उसकी अर्जन द्वारा पूर्ति करता रहता है, वह सुयज्ञ करता है। इस भावना को हृदय में धारण कर लेने पर न तो श्रमजीवियों और पूंजीपतियों में संघर्ष होगा, न कृषकों और राजस्व-समाहर्ताओं में द्वन्द्व चलेगा। सभी अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देंगे और जब कर्तव्य की ओर ध्यान जायेगा तो अधिकार, ऐश्वर्य, प्रभुत्व सभी अपने आप खिंचे चले आवेंगे।

वेद का यह स्पष्ट निर्देश है कि वसु का, धन एवं ऐश्वर्य का सच्चा सम्राट् परमैश्वर्य स्वरूप परमदेव ही है। वही हमें क्रतु से - पुरुषार्थ से, कर्मशीलता से सम्पन्न करके ऐश्वर्य लाभ के लिए समर्थ बनाता है। उसके रक्षण के बिना ऐश्वर्य कहाँ, धन कहाँ, अन्न कहाँ? कृषक दिन-रात परिश्रम करके अन्न उत्पन्न करता है। इस क्रिया में उसे प्राय: दैवी शक्तियों पर अवलम्बित रहना पड़ता है। वर्षा इनमें प्रमुख है। वर्षा का सम्बन्ध सूर्य, वायु और जल के साथ है। सूर्य प्राणों का भी प्राण है, शक्ति का भण्डार है। इसके अभाव में जीवन पनप नहीं सकता। कृषक के खेत में उगे हुए पौधे भी जीवन रखते हैं। यह जीवन उन्हें सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु सभी से मिलता है।

व्यापक दृष्टि से शक्ति और प्राण भी धन के ही अपर नाम हैं। जैसे अन्न धन है, वैसे ही शक्ति भी। जैसे अन्न हमारे बसने, आयु धारण करने के लिये आवश्यक है, वैसे ही शक्ति भी। अत: दोनों की वैदिक संज्ञा वसु हैं दोनों ही बसाने वाले हैं।

वेदों में लोक और परलोक दोनों को सुखी बनाने के उपदेश दिये गये हैं। अर्थ के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। वेद कहता है– इस लोक को अच्छा बनाने के लिए खूब धन कमाओ, ऐश्वर्य एकत्र करो और परलोक सुधारने के लिए उसका दान भी अच्छी प्रकार करो। इस लोक से ही परलोक बनता है, अत: यह लोक जितना अच्छा बनाया जायेगा, उतना ही अपना कल्याण हो सकेगा।

वेदों में मानव समाज को सुव्यवस्थित एवं मर्यादित रूप से चलाने के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान किया गया है। मनुष्य की स्वाभाविक चार प्रवृत्तियों के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। वेद के पुरुष सूक्त में जहाँ विराट् पुरुष से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है वहाँ मानव सृष्टि को चार भागों में विभक्त किया है।[1]

---

1. ऋग्. 10.90.12, यजु. 31.11

निम्न मन्त्र में वर्ण-व्यवस्था का रूप दर्शनीय है-

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै ।
विसदृशा जीविताभि प्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ।।

ऋ. 1.113.6

मन्त्रार्थ इस प्रकार है-

(त्वं) एक को (क्षत्राय)[1] बल और राष्ट्र सम्बन्धी (श्रवसे)[2] यश के लिये (त्वं) एक को (महीयै) बड़े-बड़े (इष्टये) यज्ञों के लिए (त्वं) एक को (अर्थम्) धन के (इव)[3] लिये (त्वं) एक को (इत्यै) चलने फिरने के लिए- इस प्रकार (विसदृशा) असमान स्वभाव वाले (जीविता) प्राणियों को (अभिप्रचक्षे) अपने-अपने काम करने के लिए प्रकाशित करने के लिए (उषा:) उषा ने (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (अजीग:) उगल कर अन्धकार से बाहर कर दिया है।

सब जगत् में अन्धकार फैला हुआ था। प्रात:काल उषा आई और उसने जगत् को अन्धकार से बाहर कर दिया। उषा ने जगत् को अन्धकार से बाहर क्यों कर दिया? इसलिए कि विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके जिससे वे अपने-अपने कामों को भलीभांति कर सकें- कोई क्षत्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म कर सके, कोई धन-सम्पादन के कर्म कर सके और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कर्म कर सके।

इन चारों प्रकार के मानवों में राष्ट्र की अर्थव्यवस्था का मूलाधार वैश्य को माना गया है। यद्यपि अपने-अपने ढंग से चारों वर्ण अर्थव्यवस्था के आधार हैं, किन्तु अर्थ का केन्द्र बिन्दु वैश्य है। पुरुष सूक्त में वैश्य को शरीर के मध्यभाग से उपमित किया गया है। शरीर का मध्यभाग उदर- जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग के लिए रस-भोजन-तैयार करके देता है उसी प्रकार जनता का जो भाग राष्ट्र के लिए भोजन-वस्त्रादि सामग्री तैयार करता है उसे वैश्य कहते हैं। भोजन-वस्त्रादि सामग्री, खेती, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, लेन-देन आदि के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है और सब जनता तक पहुँच सकती है। इसलिए कृषि, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, लेन-देन आदि सब काम वैश्य के कहे जाते हैं। संस्कृत में 'विश्' प्रजा को कहते हैं। यह शब्द प्राय: अपने 'विश:' इस बहुवचनान्त रूप में प्रयुक्त होता है, जो विश: अर्थात् प्रजाओं के लिए साधु हो, हितकारी हो, उसे वैश्य[4] कहते हैं। वैश्य भोजन-वस्त्रादि सब प्रजा तक पहुँचाने के द्वारा उसका हित करता है, इसलिए वह वैश्य है। राष्ट्र का बहुत बड़ा वर्ग इस श्रेणी में आता है, इसलिए प्रजावाचक विश् शब्द इस वर्ग के लिए रूढ़ हो गया। यजुर्वेद में कहा गया है- **'मरुद्भ्यो वैश्यम्'**[5] अर्थात् परमात्मा ने वैश्य को मरुतों के लिये बनाया है। वेद में सैनिकों को विशेष रूप से मरुत् कहा जाता है। किन्तु इस वाक्य में मरुत् का अर्थ सैनिक न करके सामान्य मनुष्य ही करना

---

1. ओज: क्षत्रम्। ऐ. 8/2, 3, क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ. 7/22

2. श्रवो यश: - श्रयते इति श्रव: । ऋग्. 1.126.2, मन्त्रभाष्ये श्रव:। कीर्तिमिति सायण:।

3. अर्थमिव अर्थं प्रति इति सायण: ।

4. विशि साधु: विश्य: विश्य एव वैश्य: ।

5. यजुर्वेद 30.5

होगा। क्योंकि जिस मन्त्र का यह वाक्य है उसमें **'ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्'** - कह कर चारों वर्णों के कर्तव्यों की ओर संक्षिप्त निर्देश किया गया। क्षात्र, सैन्य, राष्ट्ररक्षा के लिए पृथक् से क्षत्रिय का उल्लेख किया गया है, इसलिए मरुत् का अर्थ - सैनिक न लेकर सामान्य मनुष्य करना होगा। वैश्य को मनुष्यों के लिए बनाया गया है– का तात्पर्य यह है कि वैश्य को मनुष्यों की पालना के लिए बनाया है। मनुष्यों की पालना जिन भोजन-वस्त्रादि के द्वारा होती है उनको उत्पन्न करना और व्यापार द्वारा उनको प्रजा के मनुष्यों तक पहुँचाना वैश्य का कर्त्तव्य है।

वैश्य का कर्त्तव्य व्यापार आदि करना है ऐसा उपदेश वेद में स्थान-स्थान पर दिया गया है। उदाहरण रूप निम्न दो मन्त्र विचारणीय हैं–

– **यया वण्ग्विङ्कुरापा पुरीषम् ।**   **ऋग् 5/45/6**

– **याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत् ।**
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं ताभिरुषु ऊतिभिरश्विनागतम् ॥

ऋग् 1/112/11

अर्थात्– हे अश्विनौ (यया) जिस बुद्धि से (वङ्कुः) सर्वत्र गति करने वाला (वणिक्) व्यापारी (पुरीषम्) लोगों का पालन पोषण करने वाले अन्न आदि को (आपा) प्राप्त करता है, उस बुद्धि को हमें प्राप्त करें।

यहाँ पर पालन-पोषणार्थक 'पृ' धातु से निष्पन्न पुरीष शब्द के योगार्थ के आधार पर अनेक अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इसके अन्न आदि अर्थ किये गये हैं–

1–	**अन्न - पुरीषम् ।**	**शत. 8/1/4/5**
2–	**पशवः पुरीषम् ।**	**शत. 8/7/4/16**
3–	**गोष्ठः पुरीषम् ।**	**तां. 13/4/13**
4–	**पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति ।**	**शत. 2/3/37**

इन स्थलों में अन्न, पशु, गोष्ठ (पशुओं के रहने का स्थान) को पुरीष कहा गया है। अन्तिम वाक्य में जो पुरुष श्री अर्थात् धन-सम्पत्ति को प्राप्त करता है उसे पुरीषम् कहा गया है। मन्त्र में व्यापारियों का वर्णन है, इसलिए यहाँ पुरीष का अर्थ विविध प्रकार के अन्न, अनेक प्रकार के पशु, भवन और अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति होगा। व्यापारी के लिये प्रयुक्त वणिक्[1] शब्द पण् धातु से बनता है जिसका अर्थ व्यवहार करना होता है। मन्त्र में वणिक् का विशेषण वङ्कुः है इसे आचार्य सायण ने 'वञ्चु' धातु से निष्पन्न माना है।[2] जिसका अर्थ गति करना है। जो व्यापार के लिए देशदेशान्तर में गति करे– वह वङ्कु है। सायण ने प्रकृत मन्त्र में वङ्कु का अर्थ वन-गामी किया है। वन का अर्थ अरण्य और पानी है। व्यापारियों को वनगामी होना चाहिए। उन्हें विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ, ओषिधियाँ और दूसरे पदार्थ जंगलों में से लाकर उनका व्यापार करना चाहिए। साथ ही उन्हें जलमार्गो से भी गमनागमन करना चाहिए। उन्हें पानी के जंगलों में बैठकर, समुद्र-पार के देशों से

---

1. पणेरिज्यादेश्च वः । उणा. 2.70 पणायति व्यवहारतीति वणिक् ।

2. वङ्कुः । वञ्चु गतौ । औणादिक उ प्रत्ययः । बहुलवचनात् कुत्वम् । इति सायणः ऋग्. 1.51.11 भाष्ये ।

आयात-निर्यात का कार्य करना चाहिए। साथ ही समुद्रों से प्राप्त मोती-मूंगे आदि सामुद्रिक पदार्थों का व्यापार भी करना चाहिए।

दूसरे मंत्र का आशय है-

हे (सुदानू) उत्तम रीति से दान देने वाले हे अश्विनौ (याभिः) जिन तुम्हारी रक्षाओं के कारण (औशिजाय) मेधावान् और (दीर्घश्रवसे) जिसने दीर्घकाल तक विद्याओं का श्रवण किया है ऐसे (वणिजे) व्यवहारी वैश्य के लिये (कोश) धन-कोश (मधु) मधु को (अक्षरत्) बहाता है, और (याभिः) जिन अपनी रक्षाओं से (कक्षीवन्तं) हस्तकौशल में रहने वाली शिल्पक्रियाओं वाले (स्तोतारं) स्तोता की (आवतं) तुम रक्षा करते हो (ताभिः) उन (ऊतिभिः) अपनी रक्षाओं के साथ (अश्विना) हे अश्विनौ तुम (उषु) भलीभाँति (आगतम्) आओ।

मन्त्र में वणिक् को औशिज कहा है। यह शब्द ऊशिज् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर बनता है। इस प्रकार उशिज् और औशिज् का एक ही अर्थ होता है। निघण्टु में यास्काचार्य ने उशिज् का अर्थ मेधाशाली किया है। उशिज् शब्द उणादि कोश में (उणा. 2.71) वशु धातु से निष्पन्न माना गया है। इस धातु का अर्थ कान्ति अर्थात् इच्छा करना और प्रकाश करना होता है। इसलिये ऊशिज् उन मेधावी विद्वानों को कहेंगे जो भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों को जानने की इच्छा रखते हैं। यहाँ यह शब्द वणिक् का विशेषण होकर आया है। जो वणिक् नई-नई बातों को सीखने के इच्छुक और नये-नये व्यापार-व्यवसायों को करने की इच्छा वाले होंगे उन्हें उशिक् या औशिज कहा जायेगा।[1]

मन्त्र में कहा गया है कि अश्विनी की रक्षा में रह कर, वैश्यों का कोश मधु बहाने लगता है। अश्विनी राज कर्मचारियों को कहते हैं वैश्य लोग व्यापार में अपना कोश कमाते हैं- अपना धन खर्च करते हैं। अश्विनी की उन्हें रक्षा प्राप्त होती है। इस रक्षा का परिणाम यह होता है कि उनका व्यापार खूब फलता है। व्यापार में लगाये हुए उनके कोश से उन्हें खूब मधु अर्थात् फल-लाभ और तज्जन्य सुख-मंगल प्राप्त होता है। जैसे कि किसी को कोश अर्थात् मधुमक्खियों के छत्ते से मधु-शहद प्राप्त हो जाये। उनके परिश्रम की कमाई उन्हें शहद सा मीठा स्वाद देती है।

■ देशवासियों की मूल आवश्यकताएँ-

प्रत्येक मानव की सुखमय जीवन यापन के लिये मुख्य रूप से पाँच आवश्यकताएँ हैं- **भोजन, वस्त्र, घर, औषधि** और **शिक्षा**। इन्हें पाँच आलम्बन पदार्थ कहा जाता है। इन पाँचों पर मनुष्य का जीवन अवलम्बित है। इन्हें कोई अकेले प्राप्त नहीं कर सकता। परस्पर सहयोग से ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। इनकी प्राप्ति के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णो की अपरिहार्यता है। इन्हें प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध कराने का दायित्व राष्ट्र का है। यही वैदिक राष्ट्र का आदर्श है। इसी में वैदिक अर्थ-व्यवस्था का रहस्य भी छिपा हुआ है। मनुष्यों की समस्त भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सभी का पूर्ण सहयोग रहेगा, ऐसी स्थिति में सम्पत्ति पर एकाधिकार की प्रवृत्ति स्वतः क्षीण होती चली

---

1. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, खण्ड-2, पृ. 424

जायेगी। **'मा गृधः' 'कस्य स्विद् धनम्'** - का वैदिक सन्देश राष्ट्र जीवन में स्वतः चरितार्थ होने लगेगा। वैश्य धन-अर्जन अपने लिए न कर मानव-समाज के लिए करेगा किन्तु उसमें सहयोग सभी का होगा इसलिये उसे न धन का अभिमान होगा और ना ही धन का दुरुपयोग। वह समाजरूपी संपूर्ण शरीर को अर्थरूपी रस और रक्त उचित मात्रा में देता रहेगा, तब ब्राह्मण को तप, शिक्षा और ब्रह्म का मार्ग छोड़कर धन के पीछे दौड़ना नहीं पड़ेगा। राष्ट्र उसकी एवं परिवार के भरण-पोषण की पूर्ण-व्यवस्था करेगा। क्षत्रिय भी राष्ट्र रक्षा के महान् दायित्व का परित्याग कर अर्थ-लिप्सु नहीं होगा, वह छोटे से अर्थ के प्रलोभन से राष्ट्र की सुरक्षा को विपत्ति में नहीं डालेगा। असीमित धन-संग्रह की प्रवृत्ति का वैदिक अर्थव्यवस्था में सर्वथा अभाव है, क्योंकि 50 वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थ ग्रहण करते समय संपूर्ण धन-वैभव का परित्याग कर तपस्वी जीवन व्यतीत करना ही है। इसी व्यवस्था से **'इदं राष्ट्राय इदन्न मम'** की उदात्त भावना जन्म लेती है। वैदिक वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण को सम्मान सबसे अधिक दिया गया है। क्षत्रियों को राज-शक्ति प्राप्त होती है। सब वर्णो पर - सारे राष्ट्र पर - शासन करने का काम क्षत्रियों को सौंपा जाता है। जबकि वैश्यों को वर्ण मर्यादा में धन-सम्पत्ति का अधिकार औरों की अपेक्षा अधिक दिया गया है। वैश्य राज्याधिकारी नहीं हो सकते उन्हें मान-प्रतिष्ठा भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों जितनी नहीं मिल सकती। सभा-उत्सव और राजकीय समारोहों में वैश्यों का आसन तीसरी श्रेणी में होता है। अतः सम्पत्ति का वैभव ही उनके पास अन्य वर्णो से अधिक होगा।

किसी भी राष्ट्र में जब कोई एक वर्ग, सम्मान, शासन और धन इन तीनों पर अधिकार कर लेता है तो अत्याचार बढ़ता है। आज की अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यही है कि सभी वर्णो के लोग धन की अन्धी दौड़ में सम्मिलित हैं, अर्थ को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त है कि धन से ही सम्मान और इसी से राज्यशक्ति प्राप्त की जा रही हैं वैदिक वर्ण-व्यवस्था में जो व्यक्ति वैश्य बनकर धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य करता है वह राज्याधिकार प्राप्त ही नहीं कर सकता और न ही उसे मान-प्रतिष्ठा सबसे अधिक मिल सकती हैं जो कोई इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा उसे दण्ड मिलेगा। इस प्रकार इस व्यवस्था में एक वर्ण दूसरे पर अत्याचाार नहीं कर सकेगा। फलतः संपूर्ण समाज अत्यन्त सुखी रहेगा।

प्राचीन अर्थशास्त्र और वर्तमान अर्थशास्त्र दोनों में यद्यपि अर्थ का तात्पर्य धन अथवा सम्पत्ति से ही है, तथापि दोनों में अर्थ के उपयोग करने के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। प्राच्य विद्याओं में निहित अर्थशास्त्र धर्म, अध्यात्म एवं भौतिकता का समन्वयात्मक स्वरूप है तो पाश्चात्य अर्थशास्त्र केवल भौतिक आवश्यकताओं का ही अध्ययन करता हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री वाकर का कथन है– "अर्थशास्त्र ज्ञान की वह राशि है जो धन से सम्बन्ध रखती है।"[1]

अर्थोपार्जन के विभिन्न रूप

वेदों में अर्थोपार्जन के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं– प्रथम वर्ग में उत्पादन से

---

1. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पाण्डेय, पृ. 6

सम्बन्धित रूप को दिया जा सकता है–

1. **कृषि**– भूमि से धन प्राप्ति का सबसे प्राचीन, सरल एवं मुख्य साधन कृषि है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ प्रारम्भ से ही कृषिकर्म धनोत्पादन का मुख्य उपाय रहा है। वेदों के अनुसार कृषि-कर्म अत्यन्त पवित्र कर्म है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर खेत जोतने, हल चलाने और फसलों से हरे-भरे खेतों का उल्लेख है। अनेक मन्त्रों में वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति की गई है।[1] पृथ्वी को गो नाम से सम्बोधित कर पूजनीय माना गया है।[2] ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र-युद्ध के वर्णन में यह स्पष्ट किया गया है कि कृषि प्रधान भारत में वृष्टि की कितनी आवश्यकता रहती थी तथा अनावृष्टि से कितनी हानि होती थी। वेद में गेहूँ, चावल, जौ, तिल, मूंग आदि अनेक खाद्यान्नों के नाम आये हैं जिनकी खेती की जाती थी। खेती करने के औजार[3] खाद [4] एवं सिंचाई के साधनों[5] आदि का विस्तृत वर्णन वेदों में किया गया है। वेद यह आदेश देता है कि कृषि की उन्नति के लिए राज्य पूरा प्रयत्न करे।[6]

2. **पशुपालन**– वैदिक युग के आर्थिक विकास में पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उन्हें धन के रूप में माना जाता था। पशुपालन और पशुरक्षण पर अनेक मन्त्र वेद में आये हैं। वैदिक काल में गाय के उपकारों को ध्यान में रखकर उसे पूज्या माना गया था। वैदिक ऋषियों ने उसे **'अघ्न्या हि गौः'** कह कर सम्बोधित किया। गोपालन प्राचीन आर्यों का पवित्र कर्म समझा जाता था। आर्थिक दृष्टि से समाज में गाय का इतना अधिक महत्त्व था तथा उससे लोग स्वयं को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग के देवताओं के निवास स्थान की कल्पना की जाती थी, तब उसमें बड़े-बड़े सींगवाली गायें विशेषरूप से रहती थी, जैसा कि ऋग्वेद [7] में विष्णुलोक के सम्बन्ध में कहा गया है। वेद ने गौ-दुग्ध को अमृत कहा है।[8] गौ के साथ अन्य पशुओं के महत्त्व को भी वेदों में बताया गया है। भेड़, बकरी, अश्व आदि के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र विद्यमान हैं। इन सभी पशुओं को उच्च धन की श्रेणी में रखा गया है।

3. **शिल्प-उद्योग**– वेदों में अर्थोपार्जन के मुख्य आधार रूप में कृषि और पशुपालन का वर्णन किया गया है, साथ ही अनेक प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों का स्पष्ट उल्लेख भी वेदों में प्राप्त होता है। वेदमन्त्रों में वस्त्र बुनने वाले, कपड़े धोने वाले, लकड़ी और धातुओं का काम करने वाले विभिन्न प्रकार के उद्योगों एवं कार्यों का विवरण दिया गया है।

---

1. ऋग्वेद 1/32, 2/12, 7/83

2. ऋग्वेद 5/59/3, यजुर्वेद 3/6

3. ऋग्वेद 10/101/3, 4 यजु. 12.67.68, 71

4. यजु. 12.69, 70

5. ऋग्वेद 10/101/5

6. अथर्व. 6/30/1

7. ता वां वास्तुन्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि। ऋ. 1/154/6

8. अथर्व. 3.14.3

वेद में वस्त्र उद्योग का विस्तृत वर्णन है। 'वैदिक काल का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग-धंधा सूत कातना व कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखे द्वारा सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख आता है।[1] ऋग्वेद में कपड़ा बुनने वाले को **'वय'** कहा गया है।[2] पूषा को ऊन का कपड़ा बुनने वाला कहा गया है। **'सिरि'** शब्द भी कदाचित् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने, आभूषण बनाने, हथियार बनाने और ऐसे अन्य कितने ही उद्योग-धन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। युद्ध के लिए रथ यातायात व खेती के लिए गाड़ी बनाने की कला से सम्बन्धित बहुत-सी उपमा व रूपक के प्रयोगों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल में बढ़ई का उद्योग धंधा बहुत विकसित था। वह लकड़ी का सब प्रकार का काम करता था।[3] धातुओं का काम करने वाला भट्टी में कच्ची धातुओं को गला कर उनसे बहुत-सी आवश्यक वस्तुएँ बनाता था। धातु के बर्तनों के अतिरिक्त लकड़ी व मिट्टी के बर्तन भी बनाये जाते थे, जिनका उपयोग भोजन आदि के लिए किया जाता था। चमड़े को कमाने व उससे विभिन्न वस्तुओं को बनाने का उद्योग भी विकसित हुआ था।[4] बैल के चमड़े से धनुष् की रस्सी, घोड़े की लगाम की रस्सी, कोड़े की रस्सी आदि अनेक वस्तुएँ बनायी जाती थीं।[5] बैल के चमड़े की थैलियाँ भी बनायी जाती थीं।[6] इसके अतिरिक्त इस युग में बहुत-से घरेलू व कुटीर उद्योग भी विकसित हुए थे, जैसे कपड़े सीना, घास आदि से चटाई बनाना आदि।

यजुर्वेद में वैदिक काल के विभिन्न उद्योग-धंधों का वर्णन किया गया है।[7]

▮ व्यापार :

अर्थ प्राप्ति का एक प्रमुख आधार है व्यापार। जब कृषि और उद्योग उन्नत दशा में आ जाते हैं, तो श्रम विभाग का भी विकास हो जाता है, और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने लगता है। शिल्पीजन अपने शिल्प द्वारा तैयार किये गये माल का विक्रय करके ही कृषि जन्य अन्न आदि प्राप्त करते हैं। वैदिक युग में वस्तुओं का क्रय-विक्रय प्रारम्भ हो गया था। खरीदने-बेचने का काम खूब चलता था, किन्तु मर्यादा के अनुसार। एक वेदमन्त्र में कहा गया है कि कोई चाहे दीन हो और चाहे दक्ष, सबको सौदे पर दृढ़ रहना चाहिए।[8]

यह व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों से होता था। स्थल मार्गों से माल को लाने-ले

---

1. *ए.सी. बासु - इन्डो आर्यन पॉलिटी, पृ. 116*
2. *ऋग्वेद 2/3/6*
3. *ऋग्वेद 1/161/9, 3/60/2, 10/86/5*
4. *ऋग्वेद 8/5/38*
5. *ऋग्वेद 6/75/11, 1/121/9, 6/47/26, 6/46/14, 6/53/9*
6. *ऋग्वेद 10/106/10*
7. *यजु. 30/6, 7, 11, 17, 20*
8. *भूयसां वस्नमचरत्कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन् ।*
   स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा विदुहन्ति प्र वाणम् ।। ऋ. 4.24.9

जाने के लिए गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था, जिनमें बैल, घोड़े और गधे जोते जाते थे। सामुद्रिक व्यापार का स्पष्ट निर्देश भी वेद-मन्त्रों में उपलब्ध होता है। सामुद्रिक व्यापार का स्पष्ट निर्देश भी वेद-मन्त्रों में उपलब्ध होता है। नदियों और समुद्रों से दूसरी ओर जाने-आने के लिए छोटी-बड़ी नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। ये नौकाएँ यात्रियों को पार लगाती थी, साथ ही व्यापारी अपने माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने में इनका प्रयोग किया करते थे।

इन प्रमुख साधनों के अतिरिक्त अर्थ-प्राप्ति के अन्य बहुत से उपाय थे, जैसे चिकित्सा व्यवसाय, शिक्षक बनकर अध्यापन करना, सेना में भर्ती होकर राष्ट्र सेवा के साथ-साथ परिवार का भरण पोषण आदि विभिन्न प्रकार की सेवा वृत्तियों से तत्कालीन प्रजाजन आज के समान अपनी जीविका चलाया करते थे।

❑

तृतीय अध्याय

वैदिक संहिताओं में कृषि

वैदिक साहित्य में कृषि का महत्त्व–

मानव समाज के लिए आहार अनिवार्य है। अपनी आवश्यकतानुसार समाज को अपनी खाद्यपूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। पृथिवी से अन्न, फल, कन्दादि की उत्पत्ति करना कृषि कर्म है। कृषि विद्या की कुशलता से उत्तम उत्पत्ति, अधिक उत्पत्ति तथा ऐच्छिक उत्पत्ति की जा सकती है।

वैदिक संहिताओं का अध्ययन करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि चारों वेदों में जिस प्रकार यज्ञों की महिमा वर्णित है और उस आधार पर वैदिक संस्कृति को यज्ञ संस्कृति कहा जाता है उसी प्रकार कृषि-कर्म की व्यापक महत्ता को देखकर वेदों की संस्कृति को यदि कृषि-संस्कृति भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन मात्र नहीं, अपितु पशुपालन आदि सब इसमें समाहित हो जाता है। उत्तम कृषि के लिए पशुओं का विशेष रूप से गाय एवं बैल का पालन आवश्यक है। इनका रक्षण, पालन एवं संवर्धन जो देश करेगा वह समृद्ध होगा– ऐश्वर्यशाली होगा।

ऋग्वेद में जूए में पराजित द्यूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है कि जूआ खेलना छोड़ दो और खेती करने का अभ्यास करो।[1] ऋग्वेद के अनुसार अश्विन् ने सर्वप्रथम आर्यों को हल के द्वारा बीज बोने की कला सिखाई।[2]

यजुर्वेद में **'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्'** आदि वैदिक राष्ट्रगीत में कृषि संस्कृति का मनोहारी वर्णन है। यहाँ तक कि **'त्र्यम्बकं यजामहे'** आदि मृत्युञ्जयमन्त्र में **'उर्वारुकमिव बन्धनात्'** से खेतों में पक कर अपनी लता से अलग होते उर्वारुक का चित्र आंखों के सामने आ जाता है। अथर्ववेद का निम्न एक मन्त्र इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है–

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।।[3]

यहाँ पृथिवी को गौ की तरह दुधारू कहा गया है। उसके सहस्र स्तन हैं, जिनसे वह अन्न, औषध आदि दुग्ध के माध्यम से बिना किसी भेदभाव के अनेक प्रकार की भाषा

---

1. *'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'। ऋ. 10/34/7*
2. *दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यव वृकेण कर्षथः। ऋ. 8/22/6*
   वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।। ऋ. 1/117/21
3. *अथर्ववेद 12-145*

और विचार वाली समस्त जनता का पोषण करती है।

अथर्ववेद के जिन सूक्तों के देवता वायु (2-30), सूर्य (1-12, 2-21), चन्द्र (2-22), आप: 2-23), त्वष्टा (2-27), औषधि (2-27), अग्नि (2-28), बृहस्पति (2-29), आदित्य (2-32), विद्युत्, सिन्धु (1-15) आदि हैं। इनमें कृषि सम्बन्धी संकेत स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद के दशम काण्ड के षष्ठ सूक्त का देवता फालमणि है। यह फालमणि कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न ही है।

अथर्ववेद के यम, अग्नि, भूमि, इन्द्र आदि देवता कृषि कर्म से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार औषधि सूक्त तथा जहाँ-जहाँ भी वनस्पतियों का वर्णन है वे सब कृषि से ही सम्बन्धित हैं।

अथर्व. में कहा गया है कि वैवस्वत मनु शिशु था और पृथिवी दूध दोहने का पात्र था, उस शक्ति का दोहन वैन्य प्रभु ने किया। उसका दोहन करके उसने धान्य आदि प्राप्त किया।[1] उसी कृषि और धान्य पर मनुष्य जीवित रहते हैं।

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के सत्रहवें सूक्त का देवता कृषिवल है। इस सूक्त में स्पष्ट रूप से विधिपूर्वक कृषि कर्म का उल्लेख है।

इसी वेद के सप्तम काण्ड के 75वें सूक्त का देवता अघ्न्या: है। इसमें कहा गया है **'इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान् समुक्षत'**। यहाँ अभीष्ट कार्य पशुपालन है। इसी प्रकार के अन्य स्थल हैं जिनमें प्रकारान्तर से कृषि का संकेत मिलता है।

कतिपय सूक्तों के देवता सीधे कृषि से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। जैसे– वृषभ (अथर्व. 7.111), दूर्वा(6.106.2, 3), अनड्वान, गौ आदि। देखने में लगता है कि इनमें भी कृषि का वर्णन होगा। परन्तु सूक्तों में झाँकने से ब्रह्मविद्या अथवा वाणी सम्बन्धी विचारों का प्रकाशन हृदय को आनन्दित करता है। हाँ, इनसे ऐसी झलक अवश्य मिलती है कि वैदिक-संस्कृति कृषि संस्कृति है।

यजुर्वेद में निम्न मन्त्र दर्शनीय है–

'मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्य: ।
माध्वीर्गावो भवन्तु न: ।।[2]

वनस्पति हमारे लिए मधुमय हो, सूर्य हमारे लिए मधुमान् हों, भूमियाँ हमारे लिए मधुमती हों, यह कहता हुआ वेद सूचित करता है कि सूर्य और भूमि से वनस्पतियों में मधु उत्पन्न होता है, जिससे वे हमारे लिए लाभदायक होती हैं।

व्यक्ति सुवर्ण व पशुधन के साथ कृषि की भी तीव्र कामना करता है। वह चाहता है कि खेती करके मुझे बहुत धन-धान्य प्राप्त हो। वह प्रार्थना करता है–

'कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।'[3]

मेरी खेती वृष्टि, विजय और उन्नति यह सब यज्ञ से बढ़ें – ''सुसस्या: कृषीस्कृधि'।[4] अर्थात् 'उत्तम फल से अथवा धान्य से युक्त कृषि करों' में भी यही भाव विद्यमान है।

---

1. अथर्व. 8.13.9-12

2. यजुर्वेद 13.29

3. यजुर्वेद 18.9

4. यजु. 4.10

वेद् में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें यह निर्देश मिलता है कि राष्ट्रवासियों को कृषि की उन्नति करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, यथा–

'रयिं वीरवतीमिषम् (अग्ने आभर)'[1]

हे अग्नि। तू हमें इष[2] अर्थात् अन्न प्रदान कर जिसके सेवन से हमारे पुत्र वीर हो जायें।

'द्रविणोदा वीरवतीमिषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः ।'[3]

द्रविण अर्थात् धन देने वाला यह अग्नि ऐसा अन्न देता है जिसका सेवन कर हमारे पुत्र वीर हो जाते हैं। इस अन्न द्वारा अग्नि हमें दीर्घायु प्रदान करता है। हमें ऐसे उत्तम अन्न उत्पन्न करने चाहिए जिनको खाकर लोग वीर और दीर्घायु वाले बनें।

ऋग्वेद में ऐसे कृषि-विशेषज्ञों की चर्चा है, जो खेती की उपज बढ़ाना जानते हैं। ये ऋभु नामक विद्वान् एक को चार गुणा बनाने में सिद्धहस्त होते हैं। ऋभुओं से कहा गया–

'एक चमसं चतुरः कृणोतन।'[4]

अर्थात् हे ऋभुओ। तुम एक अन्न (चमसम्[5]) को चार गुणा बना देते हो।

कतिपय ऐसे विशेषज्ञों का संकेत भी मिलता है जो भूमि को उपजाऊ बनाना जानते थे। इन विशेषज्ञों से प्रार्थना की गई है–

'याभिः शचीभिश्चमसां अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः ।'[6]

हे ऋभुओ! तुम अपनी जिस बुद्धि से (शचीभिः[7]) अन्नों (चमसाम्) को बनाते हो (अपिंशत[8]), और जिस बुद्धि से भूमि को (गाम्) ऊपर के कठोर छिलके से (चर्मणः) बाहर निकालते हो (उन बुद्धियों के कारण ही तुम देव कहलाते हो) ऋभु अर्थात् सम्राट् के क्रिया-कुशल विद्वान्लोग अपनी बुद्धियों से अन्नों को बनाते हैं। इसका भाव यह है कि वे वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा, कृषि के पदार्थों के पारस्परिक योग विभागों द्वारा अनेक नये अथवा अधिक परिष्कृत अन्न बनाते रहते हैं।

वे कठोर छिलके को तोड़कर भूमि को बाहर निकालते हैं। इसका भाव यह है कि जो भूमियाँ ऊपर से इतनी कठोर हैं कि उनमें किसी प्रकार का अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता उन्हीं में से क्रिया-कुशल लोग वैज्ञानिक उपायों द्वारा उपजाऊ कोमल भूमि निकाल लेते हैं। यहाँ अन्न (चमसम्) के साहचर्य से गौ का अर्थ भूमि करना होगा। चमड़े का अर्थ भूमि के ऊपर की कठोर पपड़ी या छिलका करना चाहिए।

'सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः'[9]

अर्थात् ये ऋभु लोग खेतों को उत्तम बना देते हैं, नदियां (सिन्धून्) अर्थात् नहरें चला

---

1. *ऋग्. 1.96.11*
2. *इषमिति अन्ननामसु पठितम्। निघ. 2.7, अन्नं वा इषम् कौ. 28.5*
3. *ऋग्. 1.96.8*
4. *ऋग्. 1.161.2*
5. *3.60.2*
6. *चमु अदने। वेदेषु बहुधान्नार्थे चमस शब्दः प्रयुज्यते।*
7. *शचीति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं. 3.9*
8. *पिशि अवयवे। किसी वस्तु को बनाने - रूप देने में इसका प्रयोग होता है।*
9. *ऋग्. 4.33.7*

देते हैं, इनकी महिमा से रेगिस्तानों (धन्व) में अनाज (ओषधी:) उत्पन्न होने लगते हैं और जलाशय पानी से भर जाते हैं। राज्य को ऐसे कुशल शिल्पी रखने चाहिए। जो राष्ट्र के खेतों को और अधिक उत्तम बनाते रहें, पानी देने के लिए नहरें निकलवाते रहें और रेगिस्तानों को भी बसाकर अन्न और जल से युक्त करने के उपाय सोचते रहें।

वैदिक युग के आर्यो का आर्थिक जीवन बहुत कुछ कृषि पर निर्भर था, अत: उन्होने 'क्षेत्रपति' नाम से एक ऐसे देवता की भी कल्पना कर ली थी, जिसकी कृपा से उनके खेत फलते-फूलते थे, और जिससे वे यह प्रार्थना किया करते थे कि उनके खेत 'सुफल' बनें और उनसे उसी प्रकार धनधान्य का प्रवाह बहता रहे जैसे कि गौ से दूध की धाराएँ बहती हैं। क्षेत्रपतिदेवता की स्तुति में ऋग्वेद में अनेक मन्त्र विद्यमान हैं, जिनका ऋषि वामदेव है।[1]

कृषि के प्रमुख अंग

▪ भूमि–

कृषि के लिए भूमि और जल की मुख्य रूप से आवश्यकता होती है। सम्पत्ति के निर्धारण में भी भूमि का परिगणन किया जाता है। अर्थशास्त्रियों ने सम्पत्ति का वर्णन करते हुए पृथिवी (भूमि), श्रम, और पूंजी को सम्पत्ति का स्वरूप माना है।[2] वेद ने भूमि को माता कह कर उसकी महत्ता को स्वीकार किया है, और मानव को उसका पुत्र कहा है।[3]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषि भूमि के महत्त्व से सुपरिचित थे। वेद ने कहा है–

'भूमिरावपनं महत्'[4]

बोने का - कृषि का - महान् स्थान भूमि ही है। भूमि माता की सेवा करने का नाम ही कृषिकर्म है। कृषि द्वारा भूमि से अन्न उत्पन्न करने का उल्लेख वेद में सुगमता से उपलब्ध होता है। यजुर्वेद में कर्षण के द्वारा उप्त और पक्व अन्न के लिए **'कृष्टपच्या'** शब्द का प्रयोग तथा बिना कृषि किये उप्त और पक्व अन्न के लिए **'अकृष्टपच्या'** शब्द का प्रयोग मिलता है।[5]

अथर्ववेद में अकृष्टपच्य धान्य का उल्लेख है। वहाँ प्रार्थना की गई है– अकृष्टपच्य धान्य में विद्यमान जो कृमि मुझे दबाता है वह कृमि अपनी संतति के साथ दूर हट जावे और पुरुष निरोग हो जावे।[6] ऋग्वेद के अरण्यानि सूक्त में कहा है 'वनों से सुस्वादु फलों की और बिना खेती के ही बहुत से अन्नों की प्राप्ति होती है।'[7] इस प्रकार अकृष्टपच्या वह

---

1. ऋग्वेद मण्डल 8 सूक्त 57

2. वैदिक सम्पत्ति - रघुनन्दन शर्मा, पृ. 606-607

3. माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:। अथर्व. 12.1.12

4. यजु. 23.46

5. कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। यजु. 18.14

6. क्षीरे मा मन्यं यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये य: ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यात यन्तामगदोऽयमस्तु ।। अथर्व. 5.29.7

7. स्वादो: फलस्य जग्ध्वाय यथा काम निपद्यते ।
आञ्जनगन्धिं सुरभि बह्वन्नामकृषीवलाम् ।। ऋग्. 10.146.5-6

वन्यभूमि कहलाती है जिसमें कर्षण आदि के बिना अन्न उत्पन्न होता है। अकृष्टपच्या अन्न नैरोग्य और दीर्घायुष्य को प्रदान करने वाले होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सोम को अकृष्टपच्यों का राजा बताया है।[1]

अकृष्टपच्या भूमि को ध्यान में रखकर ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में विभिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। शतपथ ब्राह्मण ने एक स्थान पर मनुष्य को मेधा सम्पन्न बनाया, तदुपरान्त घोड़ों, गौओं, भेड़, बकरियों से (मनुष्य) बुद्धि शक्ति के आधार पर काम लेने लगे, तब उनकी मेधा इस पृथ्वी में प्रविष्ट हो गई अर्थात् उन्होंने पशु-पालन के उपरान्त भूमि के उपयोग पर विचार किया। उन्होंने भूमि को उर्वरा बनाकर उससे व्रीहि एवं यव उत्पन्न किये।[2]

वैदिक आश्रम व्यवस्था में वानप्रस्थी को मात्र वन्य कन्दमूल वनस्पति आदि स्वाभाविक भोजन पर निर्वाह करने का विधान है। आज भी व्रतोपवास करने वाले फलाहार करते हैं जो उसी परम्परा का प्रतीक है। 'तपस्वी' ब्राह्मण को **'शिलोञ्छ'** भोजन करने का निर्देश दिया गया है। यह शिलोञ्छ' भी स्वाभाविक भोजन में आता है। ब्राह्मण को शिलोञ्छ भोजन करने के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है– 'अपनो जीविका से निर्वाह न होने पर ब्राह्मण जहाँ कहीं से भी शिल तथा उञ्छ भोजन स्वीकार करे।'[3] यह शिलोञ्छ भोजन स्वतः उत्पन्न होता है, इसके लिए भूमि पर कृषि कार्य नहीं होता है। ऐसी अकृष्टपच्या भूमि महत्त्व और उपयोगिता की दृष्टि से कृषि कर्म जिस पर होता है अर्थात् कृष्टपच्या भूमि से कम उपयोगी नहीं है। ऐसी भूमि में अनेक प्रकार के वृक्ष, औषधियाँ तथा स्वाभाविक वन्य अन्न उत्पन्न होते है, जिससे अनेक प्राणियों का निर्वाह होता है। व्यक्ति और समाज का जीवन बहुत कुछ वनों पर आश्रित है। वनस्थली जीवन एवं राष्ट्र की महान् सम्पत्ति है। जिस राष्ट्र में वृक्ष, वन, अरण्य आदि का अभाव होता है वहाँ का समुचित विकास नहीं होता। भारत में कृषि की प्रधानता का यह भी एक कारण है कि यहाँ वृक्ष, वन, अरण्य आदि की बहुलता है। कृषि के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने में वृक्ष, वन आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। वनों से भूमि के ऊपर की मिट्टी के स्तरों की रक्षा होती है जिससे भूमि कृषियोग्य बनती है।

वेद में अनेक प्रकार के वृक्षों और औषधियों का वर्णन है, जो बिना वन के प्राप्त नहीं की जा सकती। अथर्ववेद में औषधियों का विशद वर्णन है। वहाँ ऐसे अनेक सूक्त हैं जो केवल औषधियों का ही वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में भी वृक्ष, औषधि, वन, अरण्य के लिए तथा उनके स्वामियों के लिए आदर व्यक्त किया गया है।[4]

इस वन, उपवन की भूमि को अकृष्टपच्या ही कहा जायेगा क्योंकि यह स्वाभाविक रूप में ही रहती है। अकृष्टपच्या भूमि कृष्टपच्या भूमि की अपेक्षा बलवती मानी गयी है, क्योंकि जिस भूमि में बार-बार बोया जाता है वह शनैः शनैः शक्तिहीन हो जाती है।

ऋग्वेद में खेत के लिए 'उर्वर' तथा 'क्षेत्र' शब्द साधारणतया प्रयुक्त हुए हैं। खेत शब्द क्षेत्र का ही अपभ्रंश है। भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े ही खेत 'क्षेत्र' कहलाते हैं, इन्हीं

1. *सोम्यं श्यामाक चरुं निर्वपति। सोमो वा अकृष्टपच्यस्य राजा। तै. ब्रा. 1.1.1-11*
2. *शत. ब्रा. 1.2.3.6-7*
3. *शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः।*
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयास्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते॥ मनु. 10.112
4. *यजुर्वेद 16.17, 18, 19, 20, 34*

खेतों में कृषि कर्म किया जाता है। क्षेत्र का माप करने से क्षेत्र की सम्यग् कल्पना होती है।[1] राज्य शासन द्वारा क्षेत्रों का मापन होता है और इसकी भूमि इतनी है और उसकी उतनी है, इसका निश्चय किया जाता है। इस प्रकार अपने स्वामित्व की भूमि 'क्षेत्रसंज्ञा' से जानी जाती है। इसका जो स्वामी होता है, उसका नाम क्षेत्रपति होता है। क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रहित् आदि विशेषण ऐसे लोगों के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं जिसको भूमि का ज्ञान नहीं वह भूमि के विषय में ज्ञान रखने वाले से पूछता है और उसके कथानुसार आगे बढ़ता है[2]

वेद में भूमि के तीन भेद बताये गए हैं– 1. आर्तना, 2. अप्नस्वती, और 3. उर्वरा।[3]

आर्तना भूमि– जो पत्थरीली जलहीन और उपजाऊ नहीं होती, जिसमें कृषि करने से किसान बहुत दुःखी होते हैं। बलवान् पुरुष ही हल चलाकर ऐसी भूमि में अभीप्सित अन्नादि प्राप्त करते हैं।

अप्नस्वती भूमि– जो भूमि अत्यन्त उपजाऊ होती है। थोड़े परिश्रम से ही जिसमें धान्य उत्पन्न होता है।

उर्वरा– जिसमें प्रतिवर्ष हल चलाया जाता है, और जो प्रतिवर्ष धान्य देती है।

भूमि का कुछ भाग 'खिल' अथवा 'खिल्य' कहा गया है। यह 'खिल' अथवा 'खिल्य' भाग कौन सा है? इसका उत्तर वेद ने अपने शब्दों में स्वयं दिया है। 'जैसे गौवें खिल भूमि में विशेष प्रकार से रहती हैं या बैठती हैं।[4]

यह भूमि खिल्य नाम से भी प्रसिद्ध थी। यह भूमि गौ आदि पशुओं की चराई के लिये रखी होती है, जिससे उत्पन्न हुई घास आदि गौएं खाती हैं और पुष्ट होती हैं।

यह खिल भूमि गोचर भूमि ही है। यह भूमि बोये जाने वाले खेतों के मध्य या आस-पास मानी जानी चाहिए। यह खिल या खिल्य शब्द वर्तमान में प्रयुक्त होने वाले खलिहान शब्द से साम्य रखता है। खलिहान उस भूमि को माना जाता है जिसको जोता अथवा बोया नहीं जाता, वह वैसे ही खाली रहती है। उस भूमि में अनाज काट कर साफ करने के लिए रखा जाता है। यह भूमि भी वस्तुतः 'खिल' भूमि ही है जिसमें बैल आदि पशु गाड़ी आदि से पृथक् करके खड़े किये जाते हैं।

कृषि योग्य उर्वरा भूमि तथा जलहीन उर्वरा भूमि में क्या अन्तर है अथवा किसका महत्त्व अधिक है, इससे वैदिक समाज भलीभांति परिचित है। ऋग्वेद में कहा गया है– 'हे क्रियाशील सुख वर्षक समीपस्थ घरमें जाकर निवास करो। जल से हीन मरु-भूमि और कृषियोग्य उर्वराभूमि में कितने योजनों का अन्तर है, इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है।[5] उर्वरा भूमि की सार्थकता के कारण ही ऐसा कहा गया है। उर्वरा भूमि से जल रहित मरुभूमि की कोई तुलना नही। उर्वरा भूमि की प्राप्ति के लिए संग्राम करना भी वेद में उचित माना गया है।[6]

---

1. क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनम्। ऋग्. 1.110.5

2. अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः। ऋग्. 10.32.7

3. स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वाणिरप्तस्वतीषूर्वराश्चिष्टनिरार्तनास्विष्टनिः ॥ ऋग्. 1.127.6

4. खिले गा विष्ठिता इव . . . . । अथर्व.7.115.4

5. धन्व य यत्कृन्तत्रं च कति स्विता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहा उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तर॥ ऋग्. 10.86.20

6. द्यौर्न य इन्द्राभि भूमार्यस्तस्थौ रयिः शवसा पृत्सु जनान्।
त नः सहस्रभरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम्॥ ऋग्. 6.20.1

वैदिक समाज में भूमि के प्रति जो आकर्षण दिखायी पड़ता है, वह भूमि से उत्पन्न होने वाले अन्न रूप धन के कारण तथा भूमि के प्रति असीम श्रद्धा का द्योतक है। यही कारण है कि उन्होंने भूमि को माता कहा है। जैसे माता के रक्त, मांसादि से बालक के देह का निर्माण होता है, वैसे ही भूमि से उत्पन्न होने वाले अन्न, जल, वायु, तथा वनस्पतियों से वहाँ रहने वाले प्राणियों का निर्माण होता है। यदि माता अपने दूध से बच्चे का पालन करती है तो यह भूमि रूपी माता भी अपने धान्य रूप दूध से मनुष्य का पोषण करती है। भूमि से प्रार्थना की गई है कि वह हमारी भूमि माता मुझे अर्थात् अपने पुत्र को बहुत दूध देवे।[1]

इस अन्न रस रूपी दूध के कारण भूमि को माता माना है। गाय को गोमाता मानने का यही कारण है कि गौ से दूध प्राप्त होता है और इस दूध से मनुष्य का पालन होता है।

प्राचीनकाल में प्रचलित गोमेध यज्ञ एक प्रकार का कृषि महोत्सव था। वेद में मुख्य रूप से पृथिवी के लिये गो शब्द का प्रयोग हुआ है। गाय पशु को भी गो कहा जाता है। इस प्रकार गो-पृथिवी, गो-पशु ये दोनों कृषि के प्राण हैं। इनकी वृद्धि के निमित्त किया जाने वाला यज्ञ और कुछ नहीं अपितु कृषि-महोत्सव ही है।

अथर्ववेद के बारहवें कांड का प्रथम सूक्त जो भूमि अथवा मातृभूमि सूक्त कहा जाता है वह भूमि पर उन्नत कृषि कर्म के दर्शन कराने में पूर्ण सक्षम है। कतिपय उदाहरण दर्शनीय हैं–

– जिस भूमि पर चावल, जौ आदि अन्न बहुत उपजते हैं, खाने के पदार्थ जिस भूमि मे बहुत हैं, पाँच प्रकार के लोग जहाँ कृषि कर्म करते हुए रहते हैं, बरसात होने से जहाँ अन्न आदि बहुत उपजते हैं। पर्जन्य अर्थात् वर्षा होने से जिस भूमि का पालन होता है उस भूमि अथवा मातृभूमि को नमस्कार है।[2]
– हे भूमे! तुम्हारे में हल जोतकर हम जो बोयें वह शीघ्र उगे और बढ़े।[3]
– जिस भूमि अथवा मातृभूमि के खेत में विशेष परिश्रम किया जाता है।[4]
- जिस भूमि पर हम अन्न उत्पन्न करने वाले हुए वह भूमि हमें गायें और अन्न देवे।[5]

भूमि सूक्त की इन पावन ऋचाओं से यह प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन भारतीय भूमि को कृषि कर्म में श्रद्धापूर्वक प्रयुक्त करते थे। भूमि में परिश्रम करके कृषि द्वारा विभिन्न अन्नों का उत्पादन करने वाले वैदिक जन भूमि को खाद्य सामग्री की उत्पादनकर्तृ समझ कर उससे सदैव समृद्धि की कामना करते थे।

वेद में भूमि पर निवास करने वाले जन भूमि माता को सम्बोधित करके कहते हैं कि

---

1. सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ अथर्वे 12.1.10
2. यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यैं पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ अथर्व. 12.1.42
3. यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्र तदपि रोहतु । अथर्व. 12.1.35
4. यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। अथर्व. 12.1.43
यस्यांमन्न कृष्टयः सम्बभूवुः । अथर्व. 12.1.4
5. सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु । अथर्व. 12.1.4

हे भूमिमाता! तुम हमारी हिंसा मत करो, हम तुम्हारी हिंसा न करें।[1] वेद मनुष्य को प्रेरित करता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक तत्त्व प्रदान कर, भूमि को दृढ़ कर, भूमि की हिंसा मत कर।[2]

भूमि की हिंसा करने का अभिप्राय है उसके पोषक तत्त्वों को लगातार फसलों द्वारा इतना अधिक खींच लेना कि फिर वह उपजाऊ न रहे। भूमि पोषक तत्त्व विहीन न हो जाए एतदर्थ एक ही भूमि में बार-बार एक ही फसल को न लगाकर विभिन्न फसलों को अदल-बदल कर लगाना उचित विधि से पुष्टिकर खाद देना आदि उपाय हैं। आजकल अनेक ऐसे रासायनिक खाद प्रयोग में लाए जा रहे हैं, जो भूमि की उपजाऊ-शक्ति को चूस लेते हैं या भूमि की मिट्टी को दूषित कर देते हैं। कीटनाशक दवाओं के अनुचित प्रयोग से, उद्योग-धंधों के ठोस तथा जलीय दूषित पदार्थों की भूमि में निकासी से एवं कूड़ा-करकट, मल-मूत्र आदि के अनियन्त्रित विसर्जन से भूमि प्रदूषित हो रही है। इस प्रकार वेद की परिभाषा में हम भूमि की हिंसा कर रहे हैं। भूमि की हिंसा का दूसरा अभिप्राय भूमि का अनुचित कटान लिया जा सकता है। आज पहाड़ों पर एवं मैदान में नदी-तटों पर, वृक्षों तथा जंगलों के काटे जाने के कारण भूमि की दृढ़ता समाप्त हो रही है। परिणामस्वरूप वर्षा के साथ या नदी की बाढ़ों के साथ वह कट-कट कर बह रही है। यदि हम वृक्षों को नहीं काटते हैं तथा नवीन वृक्ष उगाते हैं, तो भूमि दृढ़ रहती है, यही इसका अहिंसन है।

भूमि में या भूतल की मिट्टी में यदि कोई कमी आ जाए तो उस कमी को पूर्ण किये जाने की ओर भी वेद ने ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रजापति राजा विभिन्न उपायों द्वारा उस कमी को पूरा करे।[3] वेद की दृष्टि में भूमि को ऐसा बनाये रखना भूमिवासियों का कर्त्तव्य है कि वह अन्नादि को उत्पन्न करने वाली, औषधियों की माता एवं विश्वधात्री बनी रहे।[4] वेद कहता है कि भूमि की गोद अर्थात् उसका धरातल एवं अंदर के अवयव हमारे लिए कीटाणुयुक्त तथा रोगोत्पादक न हों।[5]

यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि उत्तान लेटी हुई भूमि का हृदय यदि क्षतिग्रस्त हो गया है तो मातरिश्वा वायु उसमें पुनः शक्ति संधान कर दे।[6] प्रथम तो जड़ भूमि में चेतना का आधान करके वेद के कवि ने एक सुन्दर काव्य की सृष्टि कर दी है, दूसरे इससे यह सूचित होता है कि भूमि की उपजाऊ-शक्ति यदि न्यून या समाप्तप्राय हो गयी है, तो कुछ समय उसमें खेती न करके उसे खाली छोड़े रखने से शुद्ध वायु, सूर्य रश्मि, वर्षा आदि के द्वारा उसमें पुनः शक्ति आ सकती है। मातरिश्वा वायु का अर्थ है अंतरिक्ष संचारी पवन जो जल, तेज आदि अन्य प्राकृतिक तत्त्वों का भी उपलक्षक है।

▪ भूमि-कर्षण-विलेखन (भूमि की जुताई)

---

1. *पृथिवी मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम् । यजु. 10.23*
2. *पृथिवीं यच्छ, पृथिवीं दृंह, पृथिवीं मा हिंसी । यजु. 13.8*
3. *यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्यं । अथर्व. 12.1.61*
4. *विश्वस्वं मातरमोषधीनाम् पृथिवीं विश्वधायस धृतामच्छ वदामसि । अथर्व. 12.1.17, 27*
5. *उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा । वही 12.1-62*
6. *स ते वायुर्मातरिश्वा दधातु-उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम् । यजु. 11.30*

कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने के लिए भूमि पर जो प्रथम क्रिया की जाती है, वह है भूमि-कर्षण अर्थात् भूमि की जुताई। अन्नोत्पादन बिना जुती भूमि पर नहीं किया जा सकता। उत्तम अन्न की पैदावार के लिए यह आवश्यक है कि भूमि को जोतकर उसे कृषि कर्म के योग्य बनाएँ। जुताई के पश्चात् ही भूमि बीज को धारण करने तथा उत्पन्न करने में पूर्णतया समर्थ होती है।

ऋग्वेद के अनुसार खेती के लिए हल द्वारा भूमि को जोतने की शिक्षा सर्वप्रथम अश्विनौ द्वारा दी गई।[1]

अथर्ववेद में कहा गया है कि पृथी-वैन्य ने सबसे पहले खेती करना और खेती द्वारा 'सस्य' उत्पन्न करना प्रारम्भ किया था।[2] अश्विनौ से शिक्षा प्राप्त कर आर्यो ने जब एक बार खेती करना शुरू कर दिया, तो उसमें निरन्तर उन्नति होती गई।

यह कर्षण क्रिया जिस यन्त्र अथवा उपकरण द्वारा होती है उसे हल कहा जाता है। वेद में इस हल के लिए **'लांगल'**, **'वृक'**, **'सीर'** आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस हल में नीचे की ओर लोहा अथवा लोहे जैसी धातु से बनी हुई फण के आकार की एक नुकीली वस्तु जुड़ी रहती है, जो भूमि को उपाटने का कार्य करती है, इसको वैदिक भाषा में **'फाल'** कहते हैं। इस हल को जुताई के लिए जिस पर रखते हैं, उसे जुवां कहा है। वेद में इसके लिए युग शब्द का प्रयोग हुआ है।

हल से भूमि की जुताई का वर्णन वेदों में किया गया है। हल के फाल से भूमि को खोदने किंवा जोतने का वर्णन इस प्रकार है– कृषि जोतने का हल बड़ा तेज, कल्याण करने वाला और मूठ से युक्त होता है। भूमि में प्रविष्ट होकर जमीन उखाड़ने वाले उपकरण का नाम वेद में फाल है।[3] वेदों में कामना की गई है कि 'फाल' उत्तम प्रकार से भूमि की कृषि करे। कृषि करने वाला ही अन्न उत्पन्न करता है। जैसा फाल कृषि करता हुआ अन्न उत्पन्न करता है उसी प्रकार आत्मा रूपी किसान इस शरीर रूपी खेत में पुरुषार्थ से धान्य उत्पन्न कर सकता है।[4]

अथर्ववेद में भी कहा गया है कि जिस प्रकार फाल से उपजाऊ भूमि में डाला हुआ बीज उगता है और बढ़ता है उसी प्रकार मेरे आधार से संतान, पशु और अन्न बढें।[5]

हल का सुन्दर फार भूमि की जुताई में परम सहायक होता है। इस फार के लिए एक शब्द और भी आया है, जिसे 'स्तेग' कहा है। जैसे फार भूमि में प्रविष्ट होकर खोदता है।[6] संभवत: फाल और स्तेग के आकार में कुछ अन्तर रहा हो किन्तु इस समय इस अन्तर को समझने के लिए कोई साधन नहीं है।

---

1. 'यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।
अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरू ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।। ऋग्. 1.117.21

2. 'तां पृथी वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ।। अथर्वे. 8.10.11

3. शुनं नः फाल वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा. शुनमस्मासु धत्तम् ।। ऋग्. 4.57.8

4. कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति, यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः । ऋग्. 10.117.7

5. यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फाले न रोहति । एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ।। अथर्व. 40.6.33

6. स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीं । ऋग्. 10.31.9
स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवी । अथर्व. 18.1.39

भूमि पर जब हल चलता है तब हल के द्वारा एक रेखा बनती जाती है, वही जुताई का स्वरूप है। इस रेखा को सीता कहा गया है। इस रेखा के विषय में कहा गया है– 'इन्द्र हल की रेखा को पकड़े अर्थात् इन्द्र जुते हुए खेत को वृष्टि द्वारा संसिक्त करे। पूषा (सूर्य) उसकी रक्षा करे। वह हल की रेखा रसयुक्त होकर हमें आगे आने वाले वर्षों में रसों को प्रदान करे।[1] जुती हुई भूमि की वन्दना की गई है– 'हे जुती हुई भूमि तेरा वन्दन करते हैं, ऐ ऐश्वर्यशालिनी भूमि हमारे सम्मुख हो, जिससे तुम हमारे लिए उत्तम मन वाली होओ तथा हमें उत्तम फल देने वाली होओ।[2]

जुती हुई भूमि को घृत एवं शहद से सिंचित करने का वर्णन भी है– 'घी और शहद से उत्तम प्रकार से सिंचित की हुई जुती भूमि सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई है। ऐ जुती हुई भूमि वह घी से सिंचित हुई तू हमें चारों ओर से दूध से युक्त कर।'[3]

घृत एवं शहद से भूमि को सींचने की बात विस्मित करने वाली है। क्योंकि भूमि के बड़े-बड़े क्षेत्रों को पानी के समान घृतादि से सींचने का कार्य दुष्कर और असंभव सा जान पड़ता है। किन्तु इसे कोरी कल्पना भी नहीं कहा जा सकता। पौष्टिक एवं मधुर अन्न प्राप्ति की प्रार्थना वेद में अनेक स्थानों पर की गई है। इसलिए पौष्टिकता एवं माधुर्य के आधारभूत घृत एवं मधु से सिंचन का कोई न कोई स्वरूप अवश्य रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि हल से भूमि का विलेखन करने के बाद लकड़ी के पाटे से भूमि को समतल किया जाता था। घी अथवा मधु से सींचने का कार्य इस पाटे को चलने से पूर्व अथवा पश्चात् किया जाता होगा। हल के पीछे उभरने वाली रेखा (सीता) में बीज डालने के बाद सम्भव है कोई फुवारे जैसा उपकरण (यन्त्र) होगा, जिससे उस रेखा अथवा लकीर पर बीज के साथ-साथ घृतादि की धारा बरसाई जाती हो। यद्यपि इसकी कोई स्पष्ट चर्चा नहीं है, केवल अनुमान ही किया जा सकता है। यह भी संभव है कि जुती भूमि पर पाटा फेरने से पूर्व पाटे को घृत-मधु आदि से संसिक्त कर लिया जाता होगा। यह क्रिया बीच-बीच में अनेक बार की जाती रही होगी।

हल द्वारा भूमि को जोतने का कार्य करने वाले कृषकों को वेद मूर्ख नहीं मानता अपितु उन्हें विद्वान, शिक्षित और कवि कहता है। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा है– देवों में बुद्धि रखने वाले कवि लोग सुख प्राप्त करने के लिए हलों को जोतते हैं और जोतने के बाद जुओं को अलग-अलग करते हैं।[4]

इस कथन का अभिप्राय यह है कि सुशिक्षित जन कृषिकर्म को हेय दृष्टि से न देखें अपितु हल-चलाने में गौरव अनुभव करें। जिसदिन मेरे देश के पढ़े-लिखे उच्चवर्गीय लोगों में यह भावना आ जायेगी, तब यह देश अन्न-धान्य से पुष्ट होकर परम गौरव को प्राप्त कर लेगा।

---

1. इन्द्रःसीतां निगृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु । सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ।। अथर्व. 3.17.4

2. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा । यथा नः सुभगासति यथा नः सुफला भव ।। ऋग्. 4.57.6
धृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वै देवैरनुमता मरुद्भिः ।

3. सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वतींघृतवत् पिन्वमाना ।। अ. 3.17.9

4. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ।। अथर्व. 3.77.1

▮ कृषि के अन्य साधन–

कृषि की जुताई-बुवाई करने सम्बन्धी उल्लेख वेदों तथा वैदिक साहित्य में प्रचुर रूप में विद्यमान हैं। ऋग्वेद (1.23.15) में जोत कर बोए हुए बीज और उससे उत्पन्न अन्न को 'यंवकृत' तथा 'सस्य' कहा गया है। कृषि के लिए उपयोग में लाये जाने वाले अनेक साधनों का उल्लेख वेदों में हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण (1.6.1.2) में जोतना, बोना, काटना, दवाई करके अन्न अलग करना (कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः) आदि विभिन्न कृषि-क्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इन सारी क्रियाओं के लिए अनेक साधन थे, जो इस प्रकार हैं–

▮ हल–

कृषि के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में हल का उल्लेख कृषि-विलेखन कर्म में किया गया है। वेदों के भाष्यकार **पं. सातवलेकर जी** ने अनुसन्धान करके अनेक प्रकार के हलों का वर्णन किया है।

उनके अनुसार हलों के आकार का अनुमान हल को खींचने वाले बैलों की संख्या से विदित होता है। वेद में हल के बैलों की संख्या कम से कम 6 कही गई हैं।

(क)	षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ।	अ. 8.9.16
(ख)	षड्गवेन कृषति।	तै. सं. 5.2.5.2
(ग)	सीरं युनक्ति। षड्गवं भव।	श.ब्रा. 13.8.2.3
(घ)	इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।	अथर्व. 6.91.1

इन मन्त्रों में छह बैलों से चलाये जाने वाले हलों का वर्णन है। जौ का खेत छह बैलों वाले हलों से कर्षित करना चाहिये, यह बात अथर्ववेद के उक्त मन्त्र में देखने योग्य है।

इसी मन्त्र के अष्टा-योग शब्द का अर्थ 'षड्-योग' शब्द के समान ही करना उचित है। जिसको आठ बैल जोते जाते हैं, वह हल अष्टा-योग है।

इससे भी बड़े बारह बैलों से जोते जाने वाले हल का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

(क)	द्वादशंगवं सीरं।	तै. सं. 1.8.7.1
(ख)	द्वादश गवेन कृषति।	तै.सं. 5.2.5.2
(ग)	सीरं वा द्वादशायोगं।	काठक. सं. 15.2

ये मन्त्र स्पष्ट हैं। इन मन्त्रों को देखकर योरोपीय विद्वान् कहते हैं–

"**Sira** (plough) is mentioned in the Rigveda and often later. It was large and heavy as is shown by the fact that six oxen, or eight or twelve or even twenty four, were used to drag it." [1]

बड़ा हल भूमि में बहुत गंहरा जाता है, इसलिये उसको खींचने के लिये अधिक बैल आवश्यक होते हैं। इस हल से अन्न की उत्पत्ति भी अधिक होती है।

'सीर, सील, लांगल' ये तीन नाम वेद में हल के अर्थ में प्रयुक्त हैं। इस हल को

---

1. Vedic Index

पकड़ने के दस्ते अथवा मूठ को वेद में '**त्सरू**' कहा गया है–

लांगलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु । अथर्व. 3.17.3

2. **युग**–

वेद मन्त्रों में **युग** अर्थात् जुवा और वाह अर्थात् बैल आदि से जोती गई भूमि में बीज के वपन करने तथा हल चलाने वाले **कीनाश** (किसान) का साथ-साथ वर्णन किया गया है।

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वम् । यजु. 12.68

इनमें युग लकड़ी और उसके गले में लटकाये जाने वाले दो-दो डण्डों में बंधी हुई डोरियों वाले उस जुवे की ओर संकेत करता है जो हल को खींचने वाले दो बैलों के कंधों पर इस प्रकार से रखा जाता है, जिससे उन्हें कठोर से कठोर भूमि को हल के फाल से विदीर्ण करते हुए आगे बढ़ने में कोई कठिनाई न हो। वेदों में 'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते', 'युक्त सीता वि युगा तनोत' इन मन्त्रों में 'युगा' शब्द द्वितीया बहुवचन नपुंसकलिंग 'युगानि' का ही वैदिक संक्षिप्त रूप है और वह हल, आदि को खींचने के अवसर पर बैलों के कन्धों पर रखे जाने वाले जुवे का ही बोधक है। अत: यह 'युग' (जुवा) भी कृषि का अन्यतम साधन है, क्योंकि उसके बिना हल जोतने का कार्य हो ही नहीं सकता।

3. **वाह**–

यह शब्द हल आदि में जुते हुए बैल आदि पशुओं के लिये प्रयुक्त है। 'वहन्ति हलादि भारं, ये ते वाहा:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार हल इत्यादि के भार को खींचने वाले पशुओं को वाह कहा गया है। उनके बिना भी कृषि सिद्ध नहीं हो सकती। सम-विषम भूमि में जितनी आसानी से हल में जोते गये बैल चल सकते हैं, उस आसानी और उस प्रकार से आधुनिक पैट्रोल के इंजन से युक्त ट्रैक्टर भी नहीं चल सकता। पहाड़ों की ऊंची-नीची विषम भूमि में आज भी कृषि बैलों से ही होती है, न कि ट्रैक्टर से।

4. **कीनाश**–

कृषक या किसान के लिए वेदों में **कीनाश** और **सीरपति** शब्दों का प्रयोग किया गया है।[1] आज लोकभाषा में प्रयुक्त किसान शब्द वैदिक 'कीनाश' शब्द का ही आद्यन्त विपर्यास से अपभ्रंश रूप है।

5. **सीता**–

वेद में सीता शब्द किसी स्त्री के नाम विशेष या जनकपुत्री सीता के लिये न प्रयुक्त होकर हल की फाली और उससे विदीर्ण की हुई भूमि की रेखा के लिये प्रयुक्त है।[2]

ऋग्वेद 4.57.6, 7, यजुर्वेद 12.70 तथा अथर्ववेद 3.17.4, 8, 9 मन्त्रों में सीता शब्द इन्हीं अर्थो में प्रयुक्त है। हल की रेखा का उपयोग बीजों को उसमें बोने के लिए होता है।

---

1. शुन सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुन कीनाशा अभियन्तु वाहै: । यजु. 12.69

2. ईषा लागलदण्ड: स्यान् सीता लागलपद्धति: । अमरकोष 2.19.14

ऋषि दयानन्द ने यजु. 12.70 के भाष्य में सीता का अर्थ काष्ठपट्टिका अर्थात् पटेला भी किया है।

6. **सृण्यः –**

यह सृणि शब्द का प्रथमा का बहुवचन रूप है। भाष्यकारों ने विभिन्न विभक्तियों में इसका प्रयोग माना है। जैसे उव्वट ने द्वितीयान्त पद मानकर उसका अर्थ 'दात्रान्' किया है। महीधर ने इसे तृतीया विभक्ति के अर्थ में लिया है– 'सृणिशब्दोऽत्र दात्रार्थः । सृण्या लवनसाधनेन दात्रेण लूनमिति शेषः । (यजु. 12.68, महीधरभाष्य) स्वामी दयानन्द ने इसे प्रथमा बहुवचन का ही रूप मानकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में 'उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेश हन्त्र्य एवं भवन्ति', यह अर्थ तथा यजुर्वेद 12.68 के भाष्य में– 'याः क्षेत्रयोगान्ताता यवादिजातयः' यह अर्थ किया है। अभिप्राय यह है कि कृषि कर्म में वैदिक सृणि शब्द अंकुश के आकार की बनी दराती का वाचक है जो पकी हुई फसल को काटने का एक मात्र साधन है।

7. **खनित्र–**

उक्त लांगलादि विविध कृषि साधनों के साथ वेद में खनित्र का वर्णन भी मिलता है। ऋग्वेद में खनित्र शब्द का प्रयोग दर्शनीय है। यथा–

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः ।
उभौ वणर्यवृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषोपजगाम ।।[1]

इस मन्त्र में 'खनमानः खनित्रैः' पदों से खनन अर्थात् खोदने के साधनभूत कुदाल, फावड़ा आदि का प्रयोग खोदने वाले मनुष्य के द्वारा किये जाने का अति स्पष्ट संकेत है। जहाँ हल की जुताई, बड़े-बड़े खेतों के लिए आवश्यक है, वैसे ही जहाँ पर कम खोदना हो अथवा बैलों और हल या हलवाह के अभाव में खुदाई का कर्म करना आवश्यक हो वहाँ पर कुदाल, कुटेला, फावड़ा आदि नाम के कृषि उपकरणों का प्रयोग पुरातन काल से आज तक होता आ रहा है।

8. **अष्ट्रा–**

इसका उपयोग बैलों को हांकने में किया जाता था। 'शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय'।[2] वर्तमान समय में भी इसका प्रयोग होता है। इसका ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख हुआ है। यह अधिकतर लकड़ी तथा कभी-कभी लोहे का बना होता था।[3]

शतपथ ब्राह्मण में फसल को हंसिया (दात्र, सृणि) से काटे जाने, उसे गठ्ठरों में बांधे जाने (वर्ष) और अन्न को 'अन्नागार' में रखने आदि अनेक कार्यों का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद (5.31.5) में 'अन्नागार' को 'शाल' और गृहस्वामी को 'शालापति' कहा गया

---

1. ऋग्. 1.179.6

2. अथर्व. 3.17.6

3. तैत्तिरीय ब्रा. 2.7.9.2 पर सायण का भाष्य

है। अथर्ववेद (10.71.2) के एक अन्य सन्दर्भ में अन्न को चलनी (तितउ) और सूप (शूर्प) से साफ करने का भी उल्लेख है।

▪ उर्वरक: (खाद) : कृषि का भोजन–

खाद से कृषि की पैदावार बढ़ती है इसमें सन्देह नहीं, यह खाद कृषि का भोजन है। पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने निम्न मन्त्रों के आधार पर कृषि के लिए खाद का वर्णन किया है–

1.	**अस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।**	अ. 3.14.3
2.	**इहैव गाव एते नेहो शकेव पुष्यत ।**	अ. 3.14.4
3.	**शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।**	अ. 3.14.5
4.	**यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति ।**	अथर्व. 12.4.9
5.	**आ निभ्रुचः शकृदकोअपाभरत् ।**	ऋ. 1.161.10

अर्थात् गौशाला में ये गौएं (करीषिणीः) खाद उत्पन्न करने वाली हैं, गौंए यहां आ जायें और (शकेव) खाद से जैसे खेत पुष्ट होता है वैसी पुष्ट हों, हमें गौशाला लाभदायक होवें और गौएं ऐसी पुष्ट हों जैसे (शारिशाकेव) शालि का खेत खाद से पुष्ट होता है। इसका पोषक गोबर दासी दूर फेंकती है।

इन मन्त्रों में करीष, शकृत्, शकन्, शक, शाक ये शब्द खाद के वाचक हैं। गौओं के गोबर का खाद ही उत्कृष्ट खाद है। वेद मनुष्य को प्रेरित करता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक तत्व प्रदान कर। गौओं को खाद उत्पन्न करने वाला कहा गया है। वेदों में गौओं के वर्णन के साथ ही अधिकांशतः खाद का वर्णन आया है। गोबर शब्द अपने आपमें अत्यन्त पवित्र है। गाय के मल को मल न कह कर वर अर्थात् श्रेष्ठ कहा गया है। यह न केवल कृषि के लिए अपितु पर्यावरण एवं मानव-स्वास्थ्य के लिए परमहितकारी है।

वैदिक काल में गोबर के साथ कूड़ा-करकट ग्राम अथवा गोशाला से दूर एक स्थान पर एकत्रित करने की परंपरा थी, जिससे कृषि के लिए विपुल मात्रा में खाद उपलब्ध हो, गोबर फेंकने के लिए दास अथवा दासी हुआ करती थी।[1] यदि गोबर की मात्रा कम होती तो अलग से दास, दासी की आवश्यकता न होती। वेद में गौओं के वर्णन के साथ ही अधिकांशतः खाद का वर्णन यह बताता है कि उस-समय गाय के गोबर से निर्मित खाद का प्रयोग श्रेष्ठ माना जाता था।

वेद में गोबर के अतिरिक्त अन्य रासायनिक खाद का वर्णन नहीं है। उस समय यह स्पष्ट धारणा रही होगी कि वही खाद प्रयोग में लाना चाहिए जिससे अन्न रोग रहित (अनमीवाः) एवं पौष्टिक उत्पन्न होवे। इसके लिए गोबर की खाद ही उत्तम मानी गयी है जो आज भी मानी जाती है। भूमि में जैसी खाद दी जायेगी उत्पादन भी वैसा ही होगा।

---

1. यदस्याः पल्पूलन शकृद् दासी समस्यति। ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः । अथर्व. 12.4.9

यदि बोये जाने वाली भूमि में दूध, घृत आदि का प्रयोग किया जायेगा तो उस भूमि से उत्पन्न अन्न में भी दूध, घृत का प्रभाव पहुंचेगा। प. सातवलेकर ने एक स्थान पर पंचामृत के खाद से तैय्यार किए गए आम्रवृक्षों का वर्णन किया है– 'पूना के पेशवाओं के समय में कई आम्रवृक्ष पंचामृत खाद देकर तैय्यार किए गए थे, उनमें से एक आम्रवृक्ष इस समय तक जीवित है, और ऐसे मधुर स्वाद फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दों में हो नहीं सकता।'[1]

रासायनिक खाद भूमि की उत्पादन क्षमता को धीरे-धीरे कम कर देते हैं जबकि गोबर की खाद में वह सामर्थ्य है कि पृथ्वी की क्षीणता पूर्ण हो जाती है।

■ यज्ञीय खाद–

गोबर की खाद से भी श्रेष्ठ एक अन्य खाद है, जिसे यज्ञीय खाद कहा जाता है। यह ऐसी खाद है जिसके निर्माण के लिए बड़े-बड़े कारखानों की आवश्यकता नहीं होती और ना ही उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की समस्या होती है।

यज्ञीय खाद यज्ञों से बनती है। कृषि की उत्पत्ति में सहायक वनस्पति एवं अन्नादिकों की तथा घृत, मधु आदि की यज्ञों में जब आहुति दी जाती है तो वे सूक्ष्म एवं शक्तिशाली होकर वायु में प्रसारित हो जाते हैं। वायु में प्रसारित वह खाद वृक्ष वनस्पतियों को सर्वत्र प्राप्त हो जाती है। एक छोटे से स्थान में किये गये यज्ञ से उत्पन्न धूम्र वायु में मिलकर पृथिवी मण्डल में विचरण करता है। इस प्रकार वायु के माध्यम से कृषि को लाभ मिलता है। वायु में मिले उस अंश का मेघमण्डल से सम्पर्क होता है और मेघों से वर्षने वाले जलों में घुलकर वह जल के साथ, पृथिवी पर तथा पृथिवी के भीतर भी पहुँचता है। इस प्रकार यज्ञीय खाद वायु एवं वृष्टि-जल के साथ सर्वत्र प्रसारित हो जाती है। इस यज्ञ प्रणाली से खाद निर्माण और वितरण मे बहुत कर्म व्यय, बहुत कम समय, बहुत कम परिश्रम और बहुत कम भूमि की आवश्यकता पड़ती है और लाभ अधिक होता है।[2]

■ जल-सेचन (सिंचाई) –

उत्तम कृषि के लिए खाद से भी अधिक आवश्यक जल है। यदि खेत में उचित समय पर जल उपलब्ध न हो तो कृषि-निमित्त किया गया संपूर्ण परिश्रम निरर्थक हो जाता है। खेत में खड़ी फसल की वृद्धि के लिये पानी पहुँचाना ही सिंचाई कहलाती है। वेद में - इस सिंचाई के सम्बन्ध में बड़ी व्यापकता से विचार किया गया है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कृषि के लिए कई स्रोतों से जल प्राप्त करने का निर्देश है। 1. आकाश से वृष्टि द्वारा प्राप्त होने वाला जल, 2. खोदकर लाया हुआ नहरों आदि का जल। वर्षा से प्राप्त होने वाला जल नैसर्गिक कहलाता है। वैदिक काल में प्रमुख रूप से वर्षा के जल पर निर्भर रहा जाता था। वर्षा के लिए देवों से स्थान-स्थान पर प्रार्थनाएँ की गई हैं। वर्षा के निमित्त बड़े-बड़े वर्षेष्टि यज्ञ किये जाते थे। **यास्काचार्य** ने अपने ग्रन्थ **निरुक्त** में वृष्टियज्ञ द्वारा वर्षा कराये जाने के सम्बन्ध में एक कथानक दिया है। देवापि और

---

1. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, चतुर्थ भाग, तृतीय संस्करण, पं. सातवलेकर कृत

2. वैदिक सम्पदा, पं. वीरसेन वेदश्रमी, पृ. 443

शन्तनु दो कुरुवंशी सगे भाई थे, जिनमें देवापि बड़ा था। नियमानुसार पिता के बाद देवापि को राज्य मिलना चाहिए था। किन्तु शन्तनु छोटा होते हुए भी स्वयं राजा बन बैठा। यह देख देवापि तप करने जंगल चला गया। तब बारह वर्ष तक शन्तनु के राज्य में वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणों ने उसे कहा कि तूने यह अधर्म किया है कि बड़े भाई के होते हुए स्वयं राजा बन गया है, इस कारण तेरे राज्य में वर्षा नहीं हो रही है। यह सुनकर शन्तुन बड़े भाई देवापि के पास पहुँचा और उससे राजा बनने की प्रार्थना की। पर देवापि ने राजा बनना स्वीकार नहीं किया और कहा कि राजा तो तुम ही रहो। मैं तुम्हारा पुरोहित बन जाता हूँ और वृष्टियज्ञ कराता हूँ, तब वर्षा अवश्य होगी। देवापि ने बृहस्पति को ब्रह्मा बनाकर वृष्टियज्ञ कराया। जिससे प्रचुर वर्षा हुई।[1] यह कथानक ऋग्वेद के एक सूक्त (10.98) के आधार पर रचा गया है, जिसे निरुक्तकार ने वर्षाकामसूक्त नाम दिया है। इस वृष्टिसूक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि–

1. यज्ञ द्वारा वर्षा कराना एक विज्ञान है।
2. इस विज्ञान का पण्डित इस विज्ञान द्वारा वर्षा कराने में सफल हो सकता है।
3. यदि आकाश में विद्यमान बादल किसी बाधा के कारण बरस न रहे हों, तो यज्ञ द्वारा उस बाधा को दूर करके प्रचुर मात्रा में वर्षा करायी जा सकती है।
4. अनावृष्टि से उत्पन्न रोग, महामारियों आदि को भी यज्ञ द्वारा दूर किया जा सकता है।

इस वृष्टि सूक्त के अतिरिक्त वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र पाये जाते हैं, जिनमें अग्नि को वर्षा करने के लिए कहा गया है। महर्षि दयानन्द ने इसके प्रमाण में शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन प्रस्तुत किया है–

— **'अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः,**
अग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ।'

श.क. 5, अ. 3

महर्षि ने अपेन वेद–भाष्य में अनेक मन्त्रों की व्याख्याओं में यज्ञ द्वारा वर्षा का स्पष्ट उल्लेख किया है–

"वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान करके नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करना चाहिए।"[2]

"मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छी प्रकार पदार्थो को इकट्ठा करके उनसे यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए, जोकि वृष्टि व बुद्धि का बढ़ाने वाला है।"[3]

वर्षा और अग्निहोत्र विषय पर पं. वीरसेन वेदश्रमी तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर स्व. मीहीलाल गोयल प्रभृति विद्वानों ने पर्याप्त अनुसन्धान करके यह सिद्ध कर दिया है कि यज्ञों द्वारा इच्छानुसार वर्षा करायी जा सकती है।

---

1. निरुक्त 2.3
2. यजु. 1.14 महर्षि दयानन्द भाष्य (भावार्थ)
3. यजु. 1.19 " " "

यजुर्वेद का यह कथन– ''निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'' (यजु. 22.22) इच्छानुसार वर्षा कराने का स्पष्ट प्रमाण है। यज्ञों द्वारा होने वाली वर्षा का जल सुसंस्कारित होता है। यजुर्वेद में प्रार्थना की गयी है– ''इस पृथिवी को यज्ञ के जल से अच्छी प्रकार चारों ओर से आवृत कर दो।''[1] ''हमारी वृष्टि, मेघों की वर्षण क्रिया, यज्ञ के द्वारा सम्पन्न हो।''[2] वर्षा के जल को दिव्य कहा गया है, यज्ञ द्वारा उसकी दिव्यता की और भी अधिक वृद्धि की जाती है। इस प्रकार की वर्षा अति दिव्यगुणों से संस्कारित जलों द्वारा पृथिवी, द्यौ एवं अन्तरिक्ष को पूर्ण करके विश्व को शुद्ध एवं पुष्ट करती है, तथा ऐसे जलों से उत्पन्न अन्न, रस, दूध, धृत, फल आदि सभी उत्तम सुसंस्कारित एवं दिव्य ही होंगे। वे जल रोगनाशन में भी अपूर्व सामर्थ्य रखेंगे। इसीलिए वेद ने कहा–

दिव्या वृष्टिः सचताम्''। यजु. 13.30

वैदिक वृष्टि विज्ञान में जहाँ अवर्षा के समय यज्ञों द्वारा वर्षा कराने का विधान है, वहाँ अति वृष्टि को रोकने के सार्थक उपाय भी हैं। समय पर वर्षा कराने के लिए प्राकृतिक नियमों का अनुपालन अत्यावश्यक है। प्रकृति में जितना संतुलन होगा, वह उतनी ही संसार के लिए कल्याणकारिणी होगी। प्रकृति के विनाश से वर्षा का संतुलन भी गड़बड़ा गया है।

साधारणतः सिंचाई का जल दो प्रकार का माना गया है–

1. **स्वयंजा** (अपने आप होने वाला) अर्थात् वर्षा का पानी, और
2. **खनित्रिमा** (खोदने से उत्पन्न होने वाला)[3]

वर्षा के बाद कृषि के समुचित उत्पादन में सिंचाई के लिए नदियों, नहरों, तालाबों एवं कुओं के जलों का योगदान रहता है।

वैदिक साहित्य में लगभग 31 नदियों का उल्लेख है। जिनमें 25 नदियाँ ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।[4] नदियों से ही कुल्या (नहरें) निकाली जाती थीं। वर्षा में नदियों के प्रवाह का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि ये नदियाँ इस प्रकार सिन्धु की ओर बहती हैं, जैसे रंभाती गायें अपने बछड़े की ओर दौड़ती हैं।[5] **डॉ. रामनाथ वेदालंकार** ने आर्ष-ज्योति नामक ग्रन्थ में वेदों के आधार पर जलों के निम्न प्रकार बताये हैं–

(1) हिमालय के जल (**हैमवतीः आपः**) - ये हिमालय पर बर्फ-रूप में रहते हैं अथवा चट्टानों के बीच में बने कुण्डों में भरे रहते हैं, अथवा पहाड़ी झरनों के रूप में झरते रहते है। इनमें पर्वतों के खनिज द्रव्य तथा औषधियों के रस मिश्रित रहते हैं।

(2) स्रोतो के जल (**उत्स्याः आपः**) - ये पहाड़ी या मैदानी भूमि को फोड़कर चश्मों के रूप में निकलते हैं। इनमें भूमि के अन्दर विद्यमान खनिज पदार्थ मिले रहते हैं।

---

1. अभ्यावर्त्तस्व पृथिवी यज्ञेन पयसा सह। यजु. 12.103

2. वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। यजु. 18

3. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति। खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजा ।। ऋ. 4.49.2

4. ऋग्. 10.75.5, 6, 7, 8

5. ऋग्. 10.75 सूक्त

(3) सदा बहते रहने वाले जल **(सनिष्यदा: आप:)** - ये सदा बहते रहने के कारण अधिक प्रदूषित नहीं हो पाते हैं।

(4) वर्षा जल **(वर्ष्या: आप:)** - वर्षा से मिलने वाले जल शुद्ध तथा औषधि-वनस्पतियों एवं प्राणियों को जीवन देने वाले होते हैं।

(5) मरुस्थलों के जल **(धन्वन्या: आप:)** - मरुस्थलों की रेती में अभ्रक, लोहा आदि पाये जाते हैं, उनके संपर्क से वहाँ के जलों में भी ये पदार्थ विद्यमान होते हैं।[1]

नदियों का जल नहरों द्वारा कृषि के प्रयोग में लाया जाता था। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है– "हे नदियों! उत्तम अन्न को पैदा करके ऐश्वर्य बढ़ाने वाली तुम नहरों को पानी से भरपूर कर दो, अच्छी तरह पूर्ण कर दो और बहो।[2] यहाँ पर नहर के लिए 'वक्षणा' शब्द का प्रयोग हुआ है। नहर के लिए एक शब्द 'कुल्या' भी वेद में मिलता है। राजा को उपदेश दिया गया है कि वह राष्ट्र में नहरों को बनाये - "हे राजन्, अपने राष्ट्र में जल की नहरों का प्रसार कर और सत्य मार्गो का अनुसरण कर।"[3] मन्त्र में प्रयुक्त घृत शब्द जल का वाचक है। निरुक्त ने घृत का अर्थ जल किया है।[4]

ऋग्वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें राजा की ओर से नहरें खुदवाने की प्रेरणा दी गई है–

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ।। ऋ. 1.321

जिन प्रकृष्ट कर्मो को यह इन्द्र करता है उन पराक्रमयुक्त कर्मो का मैं वर्णन करता हूँ, यह शिला, भूमि आदि जल के गति-रोधक पदार्थो को काट कर नष्ट कर देता है, और फिर जलों को उनके लिए मार्ग खोद कर बहा देता है, यह पर्वतों में से नदियों को खोद निकालता है।

'इन्द्रो या वज्री वृषभो-रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु । ऋ. 7.49.1

वज्रधारी सुखों का वर्षक इन्द्र (सम्राट्) जिन्हें खोदकर बहाता है, वे कृष्यादि व्यवहारोपयोगी जल मेरी अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करें।

त्वं सिन्धूर सृजस्ततस्भानान् त्वमपो अजयो दासपत्नी: । ऋ. 8.96.18

हे इन्द्र। तू जलाशयों में चुपचाप पड़े हुए जलों को नहरों में बहने वाला बना देता है, और इस प्रकार जल न मिलने से क्षीण हो रही कृषि आदि के पालक जलों को जीत कर लाता है।

वेद में अनेक प्रकार की नहरों का उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से अथर्ववेद का 3.13 सूक्त महत्वपूर्ण है। इस सूक्त में नदियों और नहरों में प्रवाहित होने वाले जलों से प्रार्थनाएँ की गई हैं। ये प्रार्थनाएँ स्पष्ट संकेत करती हैं कि वैदिक काल में नहरों से

---

1. अथर्व. 19.2.1-2

2. प्र पिन्वध्वमिषयन्ती: सुराधा आ वक्षणा: पृणध्व यात शीभम् । ऋ. 3.33.12

3. घृतस्य कुल्या उप घृतस्य पथ्या अनु। यजु. 6.12

4. घृतमित्युदकनामसुपठितम् । निरुक्त

जल-सिंचाई की व्यापक व्यवस्था की जाती थी। यथा–

– **यददः संप्रयतीर हावनदता हते ।**
तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ।। अथर्व. 3.13.1

अर्थात् हे सिन्धुओं! (जलो) तब तुम अहि के भर जाने पर बहती हो और बहती हुई नाद करती जाती हो तो तुम्हारा नाम नदियाँ हो जाता है, तुम्हारे और नाम भी वैसे ही अर्थात् नदी की तरह अन्वर्थक हैं।

अहि, शिला, भूमि आदि रुकावट डालने वाली वस्तुओं को कहते हैं। रुकावटों को काटकर पानी जब किसी दिशा विशेष में प्रवाहित कर दिया जाता है और वह नाद अर्थात् शब्द करता है तब ऐसी कृत्रिम नहरों का नाम नदी हो जाता है।

– **यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।**
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन ।। अथर्व. 3.13.2

सूर्य द्वारा (वरुणेन)[1] प्रेरित किये हुए हे जले! जब तुम शीघ्र ही चारों ओर से एकत्रित होकर नाचते हुए दौड़ने लगते हो, तब तुम चलते हुओं को इन्द्र प्राप्त कर लेता है, तब तुम्हारा नाम 'आप:' हो जाता है। इस मन्त्र में वर्षा-जल को रोककर निकाली हुई नहरों को 'आप:' कहा गया है।

– **अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।**
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाभ वो हितम् ।। अथर्व. 3.13.3

हे जलों! बिना किसी कामना के (अपकामं) सदा बहते हुए तुमको जब सम्राट् (इन्द्र) अपनी शक्तियों से रोक लेता है तो तुम्हारा नाम (वार) हो जाता है।

इस मन्त्र में नदियों को रोक कर निकाली गई नहरों का नाम 'वार' बताया गया है।

– **एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।**
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ।। अथर्व. 3.13.4

अपनी इच्छा के अनुसार बहते हुए हे जलो! जब तुमको वह एक देव (इन्द्र) अपने शासन में ले आता है (अप्यतिष्ठत्) तो तब तुम यह जो ऊपर की सांस निकालते हो (उदानिषु:) अर्थात् धरती में से बाहर आते हो और महिमा वाले (मही:) बन जाते हो, इससे तुम्हारा नाम 'उदक' हो जाता है।

इस प्रकार वेद में नदी, आपः, वार और उदक नामक चार प्रकार की नहरों के जलों का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

अथर्ववेद के इन मन्त्रों के आधार पर नहरों के निर्माण के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकाला जा सकता है–

1. पहाड़ों में बह रहे नदियों और नालों के पानी को समुचित स्थानों में रोककर और पहाड़ों को काट कर नहरें निकालना।

2. स्थल में बह रही नदियों के पानी को रोककर नदियों के किनारों से नहरें खुदवाना।

3. उत्स अर्थात् कुएं और झीलों से नहरें निकलवाना।

---

1. आदित्येन वेति सायणः । वरुण शब्दः सूर्यार्थे बहुत्र वैदिकसाहित्ये प्रयुज्यते ।

4. वर्षा का पानी कृत्रिम झीलों में एकत्र कराके उससे नहरें निकलवाना।

यूरोपियन विद्वान् भी 'खनित्रिमा: आप:' शब्द से नहरों की स्थिति को असंदिग्ध रूप से स्वीकार करते हैं। कूप तथा अवट (खोद कर बनाये गड्ढे) शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है। मानव नहरों के समान कूप खोदकर खेत बगीचा आदि की सिंचाई कर उससे उत्पन्न अन्नादि से प्राणियों को तृप्त करके सुखी करते हैं।[1] कुछ कूप ऐसे होते हैं जिनका जल कभी समाप्त नही होता था 'उत्तम जल पीने के स्थान से युक्त, उत्तम रस्सियों से युक्त, सुखपूर्वक सेचन करने वाले, जल वाले, अक्षय कूप को प्राप्त कर सिंचाई की प्रार्थना' की गई है।[2] रस्सी युक्त कोश (बाल्टी) से कुंओं का पानी निकाल कर सिंचाई की जाती थी।[3]

वैदिक काल में अक्षय जल वाले कुओं का अनेकश: उल्लेख किया गया है– 'जल से भरे अच्छी प्रकार सींचने योग्य, कभी भी जिसका जल क्षीण न हो ऐसे कूप से खेत की सिंचाई करें।'[4] ऋग्वेद में ऐसे कूपों का वर्णन भी है जो अस्थायी होते थे अर्थात् खोदे हुए गड्ढे।[5]

नहर और कूप के समान तालाबों को सिंचाई का मुख्य साधन माना जाता था। छोटी-छोटी नहरों से बड़े तालाबों में पानी एकत्रित करके उससे कृषि की सिंचाई की जाती थी। नहर को गाय रूपी नदी का वत्स माना गया है। 'वेगवती जलधाराएँ समुद्र को जाती हैं, नाले तालाब को प्राप्त करते हैं, आकाश से होने वाली वृष्टि रूपी दान से किसान यव आदि बढ़ाते हैं।'[6]

शतपथ ब्राह्मण (11.5.1.4) में प्लक्षा झील का उल्लेख आया है।

इस बात पर विशेष बल दिया जाता था कि कृषि की सिंचाई के समस्त माध्यमों से प्राप्त होने वाला जल प्रदूषित न हो। वैदिक ऋषि जल-शोधन के उपायों से अच्छी प्रकार परिचित थे। यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है– हे जलो! अशुद्ध वस्तुओं ने यदि तुम्हें अपवित्र कर दिया है, तो मैं तुम्हें शुद्ध कर लेता हूँ।[7] ऋग्वेद में कहा गया है कि यदि नदियों का जल विषैला हो गया है, तो सब विद्वान् जन मिल कर उसे दूर कर लें।[8] इस प्रकार समस्त नदियाँ प्रदूषण रहित हो जाएँ।[9]

---

1. *जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे । ऋ. 1.85.11*
2. *इष्टकृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम् ।। ऋ. 10.101.6*
3. *द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमं सत्र कोशं सिञ्चता नृपाणम् । ऋ. 10.101.7*
4. *निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातन।*
   सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ।। ऋ. 10.101.5
5. *त्रित: कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये ।। ऋ. 1.105.17*
6. *आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम् ।*
   वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येनदानुना ।। ऋ. 10.43.7
7. *यद्वोऽशुद्धा: पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि । यजु. 13.13*
8. *यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्य: परिजायते विषम् ।*
   विश्वे देवा निरितस्तत्सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरु: ।। ऋ. 7.50.3
9. *शिवा देवीरशिपदा भवन्तु, सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु ।। ऋ. 7.50.4*

कृषिविनाशक जीव-जन्तु–

अन्न पकने से पूर्व उसके संरक्षण की अत्यधिक आवश्यकता होती है। लहलहाती फसल को हानि पहुँचाने वाले पक्षी एवं कीट आदि से कृषि की रक्षा का उल्लेख वेद में मिलता है। बहुत से अन्न खाने वाले कीड़े तो सूर्य की किरणों द्वारा ही नष्ट हो जाते हैं। जहाँ अन्नोत्पादक क्षेत्र में सूर्य किरणों का व्यवधान रहित आवागमन होता है, वह स्थान कृषि के लिए कल्याणप्रद माना गया है। फसल को चूहों से भी हानि पहुँचती है। अतः उनको नष्ट करने का निर्देश दिया गया है– 'हे अश्वि देवो! नाश करने वाले और भूमि में बिल बनाकर रहने वाले चूहे को मारो और उसका सिर काटो, उसकी पीठ तोड़ो, वे चूहे जौ आदि अन्न को कभी न खावें, उनका मुख बन्द करो और धान्य के लिए निर्भयता करो[1]

कृषि को हानि पहुँचाने वाले कीटों को पतंग, जभ्य और उपक्वस नाम दिया गया है।[2] हे हिंसकशलभ, हे वध्य और दुष्टजभ्य तथा उपक्वस। ब्रह्मा जिस प्रकार असंस्कृत हवि को छोड़ देता है उसी प्रकार इन जौ आदि अन्नों को न खाते हुए और न नष्ट करते हुए तुम दूर हट जाओ अर्थात् इसको छोड़ दो।[3]

पक्षी भी फसल को हानि पहुँचाते हैं। अतः उनसे सावधान रहने के लिए फसल के क्षेत्र से उनको उड़ाते रहना चाहिए। पक्षियों को खेत से उड़ाने का वर्णन मिलता है– 'जैसे जल से सींचने वाला किसान अपने अन्न वाले खेत से पक्षियों को उड़ाने के लिए शब्द करता है।'[4]

वेदों में अन्नवाची शब्द–

यव शब्द यद्यपि जौ के लिए आता है, परन्तु वेद में अन्न के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वेद में अन्नार्थक अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे– अन्न, अन्ध, वाज, इरा, श्रवः, पयः, पितुः, सुतः, पृक्षः, सिनम्, अवः, क्षुघासि, इषम्, इडा, ऊर्क्, रसः, स्वधा, अर्कः, क्षद्म, नेमः, ससम्, नमः, आयुः. सूनृता, वर्चः, ब्रह्म, कीलालम्, आज्यम्, हविः, द्युम्नम्, भक्षः, उख्यः, धान्यः, पाथः आदि।

वेद वर्णित विविध अन्न–

वेद में जहाँ अन्नवाचक अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है, वहाँ अन्न के विविध रूप भी दृष्टिगोचर होते हैं। विविध प्रकार के अन्नों को बोने, काटने एवं उनके उपयोग का वैदिक समाज के लोगों को श्रेष्ठ ज्ञान था। वैदिक युग का मुख्य अन्न जौ (यव) है, द्वितीय स्थान चावल (व्रीहि) को प्राप्त है। इन दोनों के प्रयोग बाहुल्य को देखकर इन्हें अन्नों के साधारण नामों में भी माना गया है। ये यव, व्रीहि अन्न के सामान्य नाम माने जाते हैं।

1. हतं तर्द समङ्क-माखुमश्विना छिन्त शिरो अपि पृष्टीः श्रृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय । अथर्व. 6.50.1
2. तर्द है पंतग है जभ्य हा उपक्वस । अथर्व. 6.50.2
3. ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित: । अथर्व. 6.50.2
4. उद्प्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषा: । ऋ. 10.68.1
5. यस्यामन्न व्रीहियवौ यस्या इमा पंचवृष्टय: । अथर्व. 12.1.42

व्रीहि (चावल) का वर्णन प्राय: यव (जौ) के साथ ही आता है– जिस भूमि में चावल और जौ तथा अन्न बहुत उपजते हैं।[5] 'प्राण, अपान ही चावल और जो हैं, जौ में प्राण रखा है और चावल अपान को कहते हैं।[1] इसी प्रकार व्रीहि और यव की महिमा वर्णित करते हुए कहा है– 'चावल और जौ तेरे लिए कल्याणकारी और कफ न करने वाले तथा खाने में सुखदायक हों। ये दोनों रोग का नाश करते हैं।[2] जौ और चावल अत्यन्त प्रिय अन्न माने गये हैं। यहाँ तक कि इन्हें सोमलता का खण्ड कहा गया है।[3]

यव (जौ) अब की तरह वसन्तकालीन उपज थी, जो शरद् ऋतु में बोयी जाती है। इसे बोने के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता नहीं होती, इसके लिए शरद्कालीन थोड़ी वर्षा पर्याप्त होती है। परन्तु धान की बुआई के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है और वर्षा के आरम्भ में ही इसकी बुआई हो जाती है। धान की उत्तम पैदावार के लिए जो कि आर्यो का मुख्य खाद्यान्न था, नियमित वर्षा की आवश्यता होती थी।

सभी अन्नों में यव और व्रीहि को श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए जहाँ कहीं अन्न का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करना होता है, वहाँ इन्हीं दोनों अन्नों को प्रमुखता प्रदान की जाती है। जैसे– 'वह मणि, चावल, जौ तथा ऐश्वर्यो के साथ मेरे पास आ गया।'[4]

यजुर्वेद के एक मन्त्र में विविध अन्नों की जानकारी मिलती है– "मेरे चावल, जौ, उड़द, तिल, मूंग, गेहूँ, नीवार (जंगली धान), प्रियंगू, श्यामाक (सांवा) यज्ञ द्वारा सुसम्पन्न होवें।"[5] इस मन्त्र में जिन अन्नों का उल्लेख किया गया है, अधिकांशत: ये अन्न ही आज भी खाद्य सामग्री के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

तैत्तिरीय संहिता में काले तथा सफेद धान में अन्तर किया है तथा धान के तीन मुख्य भेद बताये गये हैं– कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र जमने वाला), तथा महाव्रीहि (अर्थात् बड़े दानों वाला)[6] इन भेदों में आशु: 'साठी' नामक धान को लक्षित करता है, क्योंकि यह धान साठ ही दिनों में पक कर तैयार हो जाता है (षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते)।

अन्नों के अतिरिक्त खीरे-ककड़ी, खरबूजा आदि बेलों पर लगने वाली सब्जी आदि का भी वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार के पदार्थों के लिए 'उर्वारुक' तथा 'उर्वारू' शब्द का प्रयोग मिलता है।

वैदिक साहित्य में अन्य अन्नों के नाम इस प्रकार उल्लिखित हैं– आंव = एक प्रकार

---

1. *प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।*
   यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ।। अथर्व. 11.4.13
2. *शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।*
   एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंह स: ।। अथर्व. 8.2.18
3. *ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेऽशव एव ते । अथर्व. 9.6.14*
4. *समाय मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्या महसा भूत्या सह । अथर्व. 10.6.24*
5. *व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे ।*
   मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मे ऽणवश्च मे ।
   श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे ।
   मायूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। यजु. 18.12
6. *तैत्तिरीय संहिता 1.8.10.1*

का धान्य (काठक सं. 15.5, तै. सं. 1.8.10.1), नांव = (श.ब्रा. 5.3.3.8), उपवाक = धान्य विशेष, इन्द्रयव इन्द्रजव (वा.य. 19.22, 21.30), कुल्माष = (छा.उ. 1.10.2), खल = (कुलत्थ), बृ. उ. 4.3.13, खल्व = (चणे) (वा.य. 18.12), गर्भुत = (तै. सं. 2.4.4.1), गविधुका, गवेधुका (गावीधुक, गावेधुक) तै. सं. 5.4.3.2, श.ब्रा. 5.2.4.13, तंडुल = चावल (अथर्व. 10.927), तिर्य, तिल = (अथर्व. 4.7.3, 2.8.3), धाना, धान्य = (ऋ. 1.16.2, 6. 13.4) फ्लाशुक = (चावल) (श.ब्रा. 5.3.3.2), मसूस्य = (तै.ब्रा.उ. 8.14.6) शारि (शाली) = (चावल) अथर्व. 3.14.5, सवतु = (सत्तु) ऋ. 10.71.2, (तै.सं. 6.4.10.6) सस्यु = (अथर्व. 7.2.1, 8.10.24, अथर्व. 6.140.2 अथर्व. 6.122.2) में फलों को भी अन्न कहा है। अथर्व. (2.4.5) और शतपथ ब्राह्मण (3.2.1.1 आदि) में शणको जंगल में उगने वाला अन्न बताया है।

▪ कृषि और वन, उपवन–

सामान्य रूप से अन्न उत्पन्न करने वाले खेत को कृषि के नाम से अभिहित किया जाता है, जबकि फलों को प्रदान करने वाले वन, उपवन भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य के प्रयत्न से भूमि का कर्षण, बीज वपन, सिंचाई, खाद आदि के द्वारा जितने खाद्य पदार्थ मानव को कृषि से प्राप्त होते हैं उतने ही नहीं अपितु उससे भी अधिक उपज वनों तथा पर्वतों से स्वयं होती है। इस प्रकार की कृषि को भी कृषि के अन्तर्गत मानना अभीष्ट है। इस प्रकार की कृषि का उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त होता है–

कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वं वने ।
वृथालभ्येऽनुगच्छेत्तां दिनमेकं पयोव्रतः ।। मनु. 11.144

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में कहा गया है कि हे भूमि तेरे वृक्षों को मैं इस तरह काटूं कि शीघ्र ही वे पुनः अंकुरित हो जाएं, सम्पूर्ण रूप से काट कर मैं तेरे मर्मस्थल पर या हृदय पर प्रहार न कर बैठूँ।

यत् ते भूमि विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ।। अथर्व. 12.1.35

इससे स्पष्ट है कि वृक्ष - वनस्पतियों को समूल नष्ट कर देना मानो भूमि के मर्म पर या हृदय पर प्रहार है। साथ ही विमृग्वरि सम्बोधन द्वारा यह सूचित हो रहा है कि वृक्ष-वनस्पतियाँ वायुमण्डल के शोधन का कार्य करते हैं।

अथर्ववेद भूमिसूक्त में भूमि को कहा गया है कि तेरे जंगल हमारे लिए सुखदायी हों– अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु (अथर्व. 12.1.11) भूमि को औषधियों की माता 'मातरम् औषधीनाम्' (अथर्व. 12.1.17) बताते हुए स्थापना की गई है कि इसमें वृक्ष और वनस्पतियाँ स्थिर रूप से रहती हैं– 'यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा (अथर्व. 12.1.27)।

वेद कहता है कि वन में वनस्पतियां उगाओ–

'वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्'
–ऋग्वेद 10.10.11

यदि वनस्पति को काटना भी पड़े तो ऐसे काटना चाहिए कि उसमें सैकड़ों स्थानो

पर फिर अंकुर फूट आएँ। वेद का कथन है कि हे वनस्पति, इस तेज कुल्हाड़े से महान् सौभाग्य के लिए तुझे काटा है, तू शतांकुर होती हुई बढ, तेरा उपयोग करके हम सहस्रांकुर होते हुए वृद्धि को प्राप्त करें।

ऋग्वेद में एक वनवासिनी जंगल के विषय में कहती है कि यहाँ अंजनवृक्ष के फूलों की सुगन्ध व्याप्त रहती है, बिना किसानों के प्रचुर अन्न उपजता है, वृक्षों की यह माता है। ऐसे जंगल की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करती हूँ-

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ।।

-ऋग्वेद 10.146.6

इसी सूक्त में लिखा है कि 'स्वादोः फलस्य जग्ध्वा बह्वन्नम् कृषीवलम्' - अर्थात् वनों से सुस्वादु फलों की और अन्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए जिस खेती से ह्वनीय अन्न मिलते हैं, जिस अरण्य से औषधियाँ, जिस चारागाह से समिधायें और बगीचों से नाना प्रकार की मेवा मिलती हैं, वे सब कृषि के प्रबल आधार हैं।

वेदों में कृषि-सम्बन्धी विषयों का विशद वर्णन है, जिसे पढ़कर यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति-कृषि संस्कृति है। वैदिक संहिताओं में वर्णित अन्न के महत्त्व एवं अन्न प्राप्ति की प्रार्थनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के लिये अन्न का महत्व सर्वोपरि है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्न को ब्रह्म तक कहा गया। महर्षि दयानन्द ने अन्न उत्पन्न करने वाले किसान को राजाओं का राजा कहा। वैदिक आर्य कृषिजीवी थे। ऋग्वेद (1.52.11 आदि) में उल्लिखित 'कृष्टि' शब्द से आर्य जनों के कृषक होने का स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है। वैदिक युग में कृषि को अपनाना आर्यत्व एवं श्रेष्ठत्व की पहचान थी। कृषि कार्य न करने वाले अथवा उसको हीन दृष्टि से देखने वाले लोगों को समाज में ऊंचा स्थान नहीं दिया जाता था। व्रात्य लोग कृषि नहीं करते थे, इसीलिए उन्हें संभवतः आर्यत्व की श्रेणी से गिरा दिया या अलग कर दिया गया था।

❐

चतुर्थ अध्याय

वेदों में पशुपालन

पशुपालन का महत्त्व–

वेदों में कृषिकर्म के अतिरिक्त पशु-पालन जीवन निर्वाह का प्रमुख साधन स्वीकार किया गया है। पशुओं का कृषिकर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः कृषिकर्म करने वाला पशुपालक भी होता है। विभिन्न जीवधारियों में पशु ही वह प्राणी है जो मनुष्य के परिवार का सदस्य बनकर चित्रित हुआ है। वेद में जहाँ मनुष्य ने अपने कल्याण की प्रार्थना की है वहाँ चतुष्पाद पशुओं के कल्याण की कामना भी की है।[1] पशुओं के प्रिय स्थान की अग्निस्वरूप परमात्मा रक्षा करें।[2] हे रुद्र। हमारी गौओं और अश्वों पर क्रोध मत करो।[3]

मनुष्य समाज के जीवन के लिए पशु-पक्षियों का अनेक प्रकार का उपयोग है। उनसे हमें आहार के पदार्थ दूध, घी, मावा, दही, पनीर, औषधि, वस्त्र के लिए ऊन, चर्म, ईधन, खाद, वाहन आदि प्राप्त होते हैं। पशु-पक्षियों से यातायात का कार्य, सन्देशवाहन, उनके कार्यो को देखकर अपने ज्ञान एवं कार्य-प्रणाली का शोधन आदि का लाभ मनुष्यों को होता है। अतः मानव-समाज के लिए पशु-पक्षी पालन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेद ने पशुओं के पालन एवं रक्षण का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है।

यथा–

उपहूता ऽइह गाव ऽपहूता ऽअजावयः (यजु. 3/43)

पशुओं की रक्षा एवं हिंसा न करने का सन्देश सर्वत्र प्राप्त होता है। यथा–

– **इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् ।** **(यजु. 13/47)**

– **इमं मा हिंसीरेकशफम् ।** **(यजु. 13/48)**

– **इममूर्णायुं मा हिंसीः ।** **(यजु. 13/50)**

वेद में ग्राम्य तथा आरण्य दो प्रकार के पशुओं का वर्णन किया गया है। ग्राम्य पशुओं में अधिकांश पशु घर में पाले जाते हैं तथा कुछ अपना निर्वाह स्वयं करते हैं, एक स्थान पर सात ग्राम्य पशुओं का कथन किया गया है।[4] ये सात पशु सामान्यतः गौ, अश्व, अजा, वय, गर्दभ, ऊष्ट्र, हस्ती तथा श्वा हैं। इनमें कुत्ते को छोड़ कर अन्य छह पशुओं के पालन

---

1. यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे । ऋ. 1.114.1; शं नो द्विपदे शं चतुष्पदे । अथर्व. 14.2.40

2. प्रिया पदानि पशवो नि पाहि । ऋ. 1.67.3

3. मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । ऋ. 1.114.8

4. मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयत् । यजु. 9.31

का वर्णन उपलब्ध होता है। आजकल तो यह कुत्ता भी पालतु पशु हो गया है।

पशु भी एक धन है, इसलिए समृद्धि हेतु पशु प्राप्ति की कामना की गई है– "मैं पशुओं का अधिपति होऊं"।[1] 'सविता मेरी गौशाला में पशुवृद्धि करे'।[2] 'मैं पशुओं का प्रिय होऊं।[3] 'सविता हमें प्रतिदिन बहुत पशु देवे।'[4] पशुओं से ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, इसलिए पशुओं में देवों के निवास का कथन किया गया है।[5] एक स्थान पर जहाँ वरदा वेद माता से आयु, प्राण, सन्तान आदि की प्रार्थना की गई है, वहाँ पशु प्राप्ति की भी कामना की गयी है।[6] पशुओं का इस प्रकार वर्णन बाहुल्य देखकर वेद में पशुपालन के महत्त्व को समझा जा सकता है। पशुपालन के लिए वेद में 'पशुपा:' 'पशुरसि:' 'अनष्टपशु:', 'पशुपति: आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[7] पशुपालक को हेय अथवा निम्न नहीं माना गया है। पशुपालक के प्रति आदर व्यक्त किया गया है।[8] अथर्ववेद में भव और शर्व को पशुओं का पालक कहा गया है।[9] पशुपालक के पास बहुत बड़ी संख्या में पशु होने का वर्णन उपलब्ध होता है। एक स्थान पर कहा गया है कि ग्वाला जैसे पशुओ के झुण्ड को प्रेरित करता है वैसे ही इन्द्र सेना को करता है।[10] विशाल पशुसमूह का वर्णन अनेक स्थानों पर किया गया है। पशुपालक अपने पशुओं को हांकने के लिए जिस अंकुश का प्रयोग करता है उसे 'अष्ट्रा' कहा गया है।[11] पशुओं की चोरी का वर्णन भी मिलता है– 'पशु चोर (तायु) पशु को तृणादि खिलाकर तृप्त करता है।[12] चुराने वाला पशु को खिला-पिलाकर ही ले जाने में समर्थ होता है। खोये हुए पशुओं को ढूंढ़ने का उल्लेख भी मिलता है - 'सोम को द्युलोक से उसी प्रकार लावें जिस प्रकार खोये हुए पशुओं को ढूंढ कर लाते हैं।'[13]

यजुर्वेद में हस्ति, अश्व, गौ, भेड़-बकरी के पालन करने वालों को इस प्रकार चित्रित किया है– 'गम्भीर गति के लिए हस्तपालक को, वेगपूर्वक गति के लिए अश्व पालक को पुष्टि के लिए गौपालक को वीर्य के लिए भेड़ पालक को तथा तेज के लिए बकरा पालक को जानें।[14] इस प्रकार के वर्णन से स्पष्ट है कि पशु-पालन के महत्त्व से वैदिक समाज अपरिचित नहीं था।

---

1. पशूनामधिपा असत् । अथर्व. 19.31.2

2. पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् । अथर्व. 19.31.1

3. प्रियः पशूनां भूयासम् । अथर्व. 17.1.4

4. सवितर्वार्याणि दिवोदिव आसुव भूरि पशवः । अथर्व. 7.14.3

5. ये देवा दिविष्ठा ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः । अथर्व. 1.30.3

6. स्तुता मया वरदा . . . आयुः प्राणं प्रजां पशुं . . . । अथर्व. 19.71.1

7. ऋ. 1.144.6, 6.49.12, 10.17.3, 5.31.1, अथर्व. 11.2.9

8. पशुपतये च नमः । यजु. 16.40

9. भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम् । अथर्व. 11.2 1

10. यूथेव पशवो व्युनोति गोपा । ऋ. 5.31.1

11. या ते अष्ट्रा गोओपशाधृणे पशुसाधनी । ऋ. 6.53.9

12. राजन् पशुनृपं न तायु । ऋ. 7.86.5

13. आजा नष्ट यथा पशुम् । ऋ. 1.23.13

14. अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजापालम् । यजु. 30.11

गोपालन–

वेद वर्णित विभिन्न पशुओं में 'गौ' के वर्णन को पढ़कर इस पशु के सर्वोपरि महत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है। गौ का वर्णन इतना अधिक है कि अन्य समस्त ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं का कुल वर्णन गौ की तुलना में एक चौथाई भी नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि गौ पालन को वेद ने विशेष महत्त्व दिया है।

गाय को भारतीय चिन्तन और दर्शन में धरती की धारक, प्रकृति की पोषक और संस्कृति की संरक्षक मानबिन्दु माना गया है। जन्मदायिनी माता के समान उसे मैंने अपनी जीवनदायिनी माता के रूप में स्वीकार किया है। वह हमारी पालक, पोषक और संस्कार देने वाली विनायक शक्ति है। जीवन का आधार है, वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है। उसके रोम-रोम में देवत्व की झलक है। आदि काल से वह हमारी श्री, समृद्धि, सम्पन्नता का मापदण्ड रही है। उसे हमने गोधन माना है। अधिक गोकुल, अधिक गोधन और अधिक हलों से जोतने योग्य भूमि जिसके पास, उसे समाज में उतना ही बड़ा सम्पन्न श्रेष्ठी स्वीकार किया है।

गौ से मानव जाति का जीवन पालित एवं पोषित होता है। गाय का महत्त्व उसके अनेक गुणों के कारण है। वह जहाँ सरलता की प्रतिमूर्ति है, वही उसका अपने बछड़े के प्रति लाड़-प्यार सर्वोत्तम उपमान के रूप में सुप्रसिद्ध है। समस्त भूमण्डल पर दूध की समस्या का समाधान इसी से हो रहा है। दूध, दही, मक्खन, घी, पनीर से हमारा जीवन पुष्ट होता हैं उसके दूध में जो गुण मिलते हैं, वे अन्य किसी पशु के दूध में नहीं होते। उसका गोबर और गोमूत्र भी गुणकारी माना गया है।

भोजन मानव जीवन की सबसे प्रमुख आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति गो-दुग्ध से बहुत बड़ी मात्रा में होती है। दूध आहार की पूर्ति करके शरीर को पुष्ट करता है और जीवन देता है यह शरीर को रोगरहित करता है। वेद में गौ के प्रति इतने ऊंचे भाव व्यक्त किये गये हैं कि हृदय श्रद्धा और प्रेम से भर आता है। वेद कहता है– गौअें सदा पवित्र, सबका पोषण करने वाली तथा उन्नत और निष्पाप हैं।[1] गौओं से प्राप्त होने वाले दूध से अनेक प्रकार के पदार्थ तैयार होते हैं। जिनका सेवन करके मनुष्य जीवन धारण कर बलवान बनता है। उन गव्य पदार्थों के विविध उपयोग हैं। गोघृत शरीर को तथा इन्द्रियों को तेजस्वी बनाता है। बल और पुरुषार्थ को देने वाला है। गौ के मूत्र का उपयोग अनेक औषधियों में होता है। गोमूत्र एवं गोबर अनेक दुःसाध्य रोगों को नष्ट करने वाले हैं। गोमूत्र एवं गोबर से यह पृथिवी अपूर्व शक्तिशालिनी होती है और खाद की समस्याको उत्तम रीति से हल करती है। आज देश में अनेक बड़े-बड़े खाद के कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं, परन्तु कृषि, खाद, दूध, घृत, मक्खन, आरोग्यता और पुष्टि आदि का जो एकमात्र स्रोत गौ है उसके संरक्षण एवं पालन की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसीलिये वेद कहता है कि यजमान के पास सदा दुधारू पशु रहने चाहिएं जिनके घृत से हवन कर वह द्युलोक और अन्तरिक्ष को सुगन्ध से परिपूर्ण कर दे।[2] गोपति अथवा पशुपति होने की बात तो वेदों में बार-बार कही गई है।[1]

---

1. सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः । सामवेद 4.6.6

2. ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् । घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम् । यजु. 5.28

गौ को वेद ने माता की श्रेष्ठ संज्ञा से अभिहित किया है– 'गौ सबकी माता है।'[2] 'गौओं को स्नेह के कारण बहिन अथवा भाई भी कहा गया है।[3]

वैदिक काल में गौ को अथवा पशुधन को श्रेष्ठ धन माना जाता था। एक युग ऐसा था इस देश का जब कोई सुवर्ण अथवा मुद्रा भण्डार से धनवान् नहीं होता था, अपितु जिसके पास जितनी अधिक गायें होती थी, उसको उतना अधिक धनवान माना जाता था। ब्राह्मण, विद्वान् आदि को गोदान ही सर्वश्रेष्ठ दान माना जाता था। गौ अपने आप में एक विशिष्ट धन है, इस कथन की पुष्टि वेद के अनेक उदाहरणों से होती है। जहाँ कहीं भी सुखार्थ ऐश्वर्य प्राप्ति की प्रार्थना की गई है, वहाँ गौ रूप धन को अवश्य सम्मिलित किया गया है। प्रार्थनायें की गई हैं– 'जो विद्वान् हमें घोड़ों तथा गौओं के झुण्ड से युक्त धनों को देते हैं, उन्हें हे सुन्दर उषा! बड़ा यश तथा धन दे दो।'[1] हमें उत्तम भोगवाले धन एवं वीरतायुक्त गौओं और घोड़ों से परिपूर्ण सम्पत्ति को भी दे दो।[2] हे वीर मरुतों। गौओं और घोड़ों से युक्त रथ तथा सुवर्ण से भरपूर और अच्छे वीर पुत्रों से युक्त धन हमें दो।[3]

आर्थिक दृष्टि से वैदिक समाज में गौ को अत्यन्त उपयोगी माना गया है। कृषि के लिये बैल, क्षुधानिवारक तथा शरीर को सुदृढ़ता देने के लिये दूध और घी, ग्रामो में घर को लीपने-पोतने के लिये गोबर एवं अग्नि जलाने के लिये उपले (कण्डे) इत्यादि सब गौ से उपलब्ध होता है। इन सब लाभों के कारण ही गौ का विशेष महत्त्व है। गौ के पालन पर वेद में पर्याप्त विचार किया गया है। गौओं के रहने के स्थान को 'गोष्ठ'[4] व्रज[5] तथा 'स्वसर'[6] कहा गया है। वेद में बहुशः कहा गया है कि गौओं के रहने के स्थान इस प्रकार के होने चाहिये कि जिसमें उनको कष्ट न हो। वहाँ किसी प्रकार का कूड़ा करकट नहीं होना चाहिये। स्वच्छता रहने पर गौओं में रोग आदि न होंगे और गाय प्रसन्न होकर तुष्टि को प्राप्त करेगीं। गौओं के रुग्ण हो जाने पर उनकी चिकित्सा करने का उपदेश वेद-मन्त्रों में प्राप्त होता है।[7]

राष्ट्र की समृद्धि की प्रार्थना में स्पष्टतः दुधारू गौओं, भार शकट को खींचने वाले बैलों तथा तीव्रगामी अश्वों की व्यवस्था होना अनिवार्य माना गया है।[8] गौ आदि पशु स्वयमेव सम्पत्ति रूप हैं इसका वर्णन अथर्ववेद के एक मन्त्र में किया गया है।[9]

---

1. *मया गोवा गोपतिना सचध्वम्, अहं पशूनामाधिपा असानि । अथर्व. 3.146, 19.31.6*
2. *गोमातरः . . .। ऋ. 1.85.3, पृश्निमातरः . . . ऋ. 1.85.2*
3. *गोबन्धवः . . . . . ऋ. 8.94.6*
4. *ये नो राधासि अश्व्या गव्या भजन्त सरयः सुजाते अश्वसूनृते । ऋ. 5.79.4*
5. *नि नो रयिं सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः । ऋ. 7.92.3*
6. *गोमदश्वावद्रथवत्सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा नः । ऋ. 5.57.7*
7. *ऋ. 10.97.8, अथर्व. 3.14.1, 3.14.5-6*
8. *ऋ. 8.41.6, अथर्व. 3.11.5*
9. *ऋ. 8.88.1*
10. *भेषजमासि भेषजं गवे ऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् . .। यजु. 3.59*
11. *दोग्ध्रीधेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः। यजु. 22.22*
12. *इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः । अथर्व. 1.15.12*

गोदुग्ध, गोघृत तथा धान्यों का रस ही आर्यो का मुख्य पेय है, इसका वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है।[1]

गौ जहाँ राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का मेरुदण्ड है, वहाँ वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है। गौ और बछड़े के स्वाभाविक प्रेम का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है।[2] वैसे तो प्रत्येक माता को अपने पुत्र से प्रेम होता है, पर गौ का अपने बछड़े के प्रति जो प्रेम होता है वह अनुपम है। जो गाय कसाई को सूंघ कर पहचान जाती है और उसके साथ प्रयत्नपूर्वक भी जाने को तैयार नहीं होती, उसी गायके बछड़े को यदि कसाई लेकर चल देवे तो गाय अपने वत्स के प्रेम में सब कुछ विस्मृत कर उसके पीछे-पीछे चल देती है। गौ का प्रेम बछड़े में किस प्रकार आसक्त होता है अथवा होना चाहिए इसका सुन्दर वर्णन इन शब्दों में किया गया है, हे, गौ! तेरा चित्त बछड़े में लगा रहे।[3] गौ का शब्द वैसे सुनने को नहीं मिलता पर जिन गौओं के बछड़े होते हैं वे गायें, उन्हें देखकर प्रेम से रंभाने का शब्द खूब करती हैं, इसका वर्णन भी वेदों में किया गया है।[4]

वेदों में भूमि को गोदुग्ध, घृत आदि से सींचने के साथ-साथ शरीर-सिंचन का वर्णन भी किया गया है– 'मैं गौओं के दूध को अपने शरीर में सींचता हूँ, बलवर्धक रस को घी के साथ (सेवनार्थ) मिलाता हूँ, सिंचित हुए मुझ गोपति में गायें स्थिर हों।[5] अर्थात् मुझ गोपालक अथवा गोपति के पास उक्त दुग्ध, घृत आदि से सिंचन के लिए गायें सदा स्थायी रूप से रहें। मन्त्र में सिंचन क्रिया का व्यवहार दूध, घृत की अधिकता को व्यक्त करता है। क्योंकि स्वल्प अथवा सामान्य दूध में सिंचन संभव नहीं। वैदिक दृष्टिकोण में इतना अधिक दूध, घी होना चाहिए कि अनेक घड़े (कुम्भ) दूध, दही, घृत आदि से भरपूर रहें। दूध, दही, और जल से भरे हुए चार घड़ों को चार प्रकार से प्रदान करता हूँ।[6] दूध, दही, घृत आदि की यह सुन्दर स्थिति या आधिक्य ही दूध, घी में डुबकी लगाना, नहाना तथा सिंचन करना कहलाता है।

गौओं को दूधारु बनाना, अधिक दूध वाली बनाना तथा बांझ गौ को बछड़े जनन की सामर्थ्य प्रदान करना इत्यादि वेद में वर्णित हैं। प्रार्थना की गयी है– "हे अश्वि कुमारो। हमारी गाय को दूध से पूर्ण करो, हमारे घोड़ो को उत्साह और उमंग से भर दो।[7] अरुन्धती नामक औषधी सब दिव्य औषधियों के साथ सुख देवें तथा गौशाला को बहुत दूध से युक्त कर दें।[2] 'हे दर्शनीय अश्वि देवों। तुमने कृश, दुबली, पतली तथा न जनने वाली और दूध न देने वाली गौ को सुख, शान्ति के लिए दूध से परिपूर्ण किया अर्थात् जनन सामर्थ्य प्रदान

1. माध्वीर्गावो भवन्तु नः । यजु. 13.29; आहरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् . . .। अथर्व. 2.26.5
2. वत्सं न स्वसरेषु धेनवः । ऋ. 2.2.2, मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु। ऋ. 10.145.6 आदि
3. यथा मांसं यथा सुरा यथोक्षा अधिदेवते । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निघ्न्यते मनः ।
   एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्सेनिहन्यताम। । अथर्व. 6.70.1
4. ऋ. 7.103.2
5. सं सिंचामि गवां शरीरं समाज्येन बलं रसम् । संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ । अथर्व. 2.26.4
6. चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्ण उदकेन दघ्ना । अथर्व 4.34.7
7. पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्विना । ऋ. 1.118.2
8. शर्म यच्छत्वोषधि सह देवीररून्धती। करत पयस्वन्तं गोष्ठमयक्षमां उत पुरुषान्। अथर्व. 6.59.2

कर दुधारू बनाया।[3] इस प्रकर वेद असक्त एवं कम दूध देने वाली गौओं को सक्षम एवं अधिक दूध देने वाला बनाने का निर्देश देता है। इन गौओं का पालन उत्तम प्रदेशों में अर्थात् जहाँ उनके लिए चारा दाना उपलब्ध हो, वहाँ होना चाहिए। अभावग्रस्त क्षेत्र में गौओं का पालन नहीं होता, ऐसे स्थान पर पाली गई गौओं से दूध प्राप्ति की सम्भावना भी नहीं रहती – 'कीकट देशों में पाई जाने वाली गौए भला (इन्द्र) तेरे लिए अब क्या देंगी, क्योंकि वे गौवें सोम में मिलाने योग्य दूध भी नहीं देती।[4]

ऋग्वेद के छठे मण्डल का अट्ठाईसवाँ सूक्त गौपालन का सुन्दर वर्णन करता है– 'गौवें भली प्रकार आवें, हमारी गौशाला में स्थित होवें, हमारे लिए मंगल करें, हममें रहती हुई आनन्द प्राप्त करें, इस गौशाला में ये संतानों वाली, अनेक रूपों (रंगों) वाली गौवें इन्द्र के लिए बहुत दिनों तक दूध देने वाली होवें।'[5] गौओं के रहने के स्थान में स्वच्छ वायु का आवागमन होना चाहिए। उन्हें जो चारा दिया जाये वह पौष्टिक, स्वादु एंव रोगनाशक होना चाहिए। उन्हें स्वच्छ जल पीने के लिए मिलना चाहिए। गौओं को ऐसे संकीर्ण स्थान में न रखना चाहिए जहाँ वायु आदि का प्रवेश स्वतन्त्र रूप से अथवा अच्छी प्रकार से न हो, इस विषय में अनेक स्थानों पर निर्देश दिए गए हैं– 'गौओं का बाड़ा खुला रखो।'[6]

हमारे पास तेजस्वी और सदा दूध देने वाली गौवें हों– 'यज्ञ की इच्छा करने वाली, अपने स्तनों में हमेशा दूध धारण करने वाली तेजस्वी गौवें बहुत दूध पिला चुकी हैं'[7]

जब गाय का दोहन किया जाय उस समय उसके साथ प्रेम का व्यवहार होना चाहिए। वेद में एक स्थान पर न दुही हुई गौ के प्रति प्रयुक्त स्नेहसिक्त सम्मान को इस प्रकार प्रकट किया गया है– 'हे शूर इन्द्र हम तुझे उसी प्रकार श्रद्धा से प्रणाम करते हैं जिस प्रकार बिना दुही गौ के सामने झुकते हैं।'[1] दोहन के लिए गाय को बुलाने का वर्णन इन शब्दों में है– 'मैं इन्द्र को उसी प्रकार बुलाता हूँ जिस प्रकार दोहन के लिए गाय को बुलाते हैं।'[2] यहाँ दूध देने वाली गौ का साम्य इन्द्र से प्रदर्शित किया गया है। वेद ने बहुत दूध देने वाली गौओं को **'वासरी धेनु'**[3] कहा है। वेद में गौओं को तीन बार दुहने का वर्णन इस प्रकार किया गया है– 'मैं सायंकाल और प्रातःकाल दोहन करता हूँ दोपहर के समय भी दोहन करता हूँ।'[4] तैत्तिरीय संहिता में भी तीन बार दोहन का वर्णन उपलब्ध होता है।[5] जिन गौओं से तीन समय दूध प्राप्त होता है वे कामधेनु से कम नहीं हैं। अथर्ववेद में कहा है– 'हे पुरुष! ये गायें तेरे लिए कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं, संध्या जैसे रंगवाली, सफेद, एक रूपवाली और विविध रूपवाली बछड़े से युक्त गायें इधर तेरी सेवा कार्य करती रहें।'[6] इन गौओं की विशाल-स्थिति को देखते हुए यह स्वाभाविक है कि उनका पालन अनेक जन मिलकर करें।

---

1. ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पिपयन्त द्युभक्ताः । ऋ. 1.73.6

2. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ऋ. 7.32.22

3. गां न दोहसे हुवे । ऋ. 6.45.7

4. तां वां धेनुं न वासरीमंशुं दुहन्त्यद्रिभिः सोमं दुहन्त्यद्रिभिः । ऋ. 1.37.3

5. दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि। अथर्व. 4.11.12

6. तै. सं. 7.5.3.1

गोपालन में विविध व्यक्तियों के सहभागी होने का वर्णन वेद इस प्रकार कर रहा है– 'वायु इन गौओं को इकट्ठा करे, त्वष्टा पुष्टि करे, इन्द्र इनको पुकारे और रुद्र वृद्धि के लिए चिकित्सा करे।'[1] गौओं को चरानेवाला व्यक्ति पृथक् होना चाहिए जोकि उन्हें अरण्य अथवा पर्वत की उपत्यका में चराकर इकट्ठा करके ले आवे। जब गोवें वन से लौटकर आवें तब उन्हें घास आदि (सानी) देने वाला कुशल पुरुष चराने वाले से अलग होना चाहिए। उक्त दोनों व्यक्तियों का प्रबन्ध करने वाला गायों का स्वामी इन्द्र कहलाता है। इन गौओं की उन्नति होती रहे, इन्हें किसी प्रकार का रोग न हो इसका ध्यान रखने वाला रुद्र कहा गया है।[2]

अधिक रात शेष रहने पर गाय को जगाने से उसके विश्राम में हानि पहुंचती है जिसका परिणाम यह होता है कि वह कम और पतला दूध देती है। इस विषय में बहुत सावधानी रखनी चाहिए कि नियमानुसार गाय का दूध ठीक बारह घण्टे के अनन्तर दिन और रात दो बार निकालना चाहिए।[3] वेद में उषा काल में गायों के पास जाने का वर्णन इस प्रकार किया गया है– 'आती हुई उषाओं के समय जिस प्रकार गायों को जगाया जाता है उसी प्रकार मनुष्यों की समिधाओं से अग्नि प्रज्ज्वलित हुआ।'[4]

वेदों का सर्वप्रसिद्ध देवता है इन्द्र। इन्द्रदेवतापरक सूक्तों में ऐसे अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। जिनमें इन्द्र से गौ प्राप्ति की प्रार्थना की गई है– 'हे किरणयुक्त तेजस्वी इन्द्र! मनःपूर्वक गौओं से युक्त करो।[5] इन्द्र गौओं और अश्वों का स्वामी है फिर क्यों न उससे गौ आदि पशुओं की याचना की जाये।' 'जो इन्द्र गौओं और घोड़ों का स्वामी है और अपने वशमें रखता है।'[6] इन्द्र से प्रार्थना की गयी है– 'हे इन्द्र! तुम हमारे गृह को उत्तम अन्न, धन और गौओं से पूर्ण करो।'[7] वह इन्द्र यजमानों को बहुत गायें देता है– 'हे इन्द्र! तुम सैकड़ों हजारों गौवें धनशील यजमान को देते हो।'[8] अन्य देवताओं से भी गौ की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है– 'हे अग्नि स्वरूप प्रभो! तुम मेरे लिए शत सुवर्ण, बीस गायें और रथ तथा रथ से युक्त दो घोड़े प्रदान करते हो।'[9] 'हे शत्रुनाशक अश्विदेवों! गो धन एवं सुवर्ण से युक्त होकर तुम हमारे पास आओ।'[10] 'हे अश्विदेवो! सुन्दर गायों और पुत्रों से मैं इस राष्ट्र का अधिपति होऊं।'[11]

---

1. अथर्व. 18.4.33

2. वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधिक ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ।। अथर्व. 6.141.1

3. भगवानदास वर्मा– गोपालन, पृ. 48, तृतीय सं. प्रकाशन 1930

4. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् । ऋ. 5.1.1

5. समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या । अथर्व. 7.97.2

6. यो अश्वनां यो गवां गोपर्विशी। ऋ. 1.100.4

7. स नः सुमन्तं सदने व्यूर्णुहि गो अर्णसं रयिमिन्द्र श्रवाय्यम् । ऋ. 10.38.2

8. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
यः सूर्य य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ।। ऋ. 2.12.7

9. यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरीच युक्ता सुधुरा ददाति ।
वैश्वानर सुष्टुतो वावृधानोऽग्ने यच्छ त्र्यरुणाय शर्म ।। ऋ. 5.27.2

10. अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत् । ऋ. 1.92.16

11. प्र वां दंस्यंस्याश्विनाववोचमस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः । ऋ. 1.116.25

इस प्रकार गौ प्राप्ति की प्रार्थना विभिन्न देवताओं से की गई है। देवताओं से केवल 10-20 गौवें नहीं मांगी गई हैं अपितु सैकड़ों और सहस्रों गौओं की कामना की गई है– 'हे बहुत धन वाले इन्द्र! सहस्रों उच्च कोटि की गौओं तथा सुन्दर घोड़े हमें प्रदान करके प्रशंसित कर।'[1]

इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि सुख और सौभाग्य के लिए गौओं की प्राप्ति की जाती है।

■ समृद्धि का कारण गौ–

वैदिक संहिताओं में गौ के विस्तृत वर्णनों को देखकर उसे भौतिक समृद्धि का हेतु मानने में सन्देह नहीं रह जाता। वेद के वर्णनों से गौ– केन्द्रित अर्थव्यवस्था मानने में विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। कृषि से यदि अन्न मिलता है तो गौ दूध देती है और उस दूध से विविध खाद्य पदार्थ निर्मित होते हैं। वेद के अनुसार कृषि को सम्पादित करने में बलिवर्द अर्थात् बैलों की प्रमुख भूमिका रहती है, जो गौओं से प्राप्त होते हैं। कृषि को उपजाऊ बनाने के लिए गोबर की खाद से श्रेष्ठ और कोई खाद हो ही नहीं सकती। गौ आदि पशुओं के लिए चारा आदि कृषि से प्राप्त होता है। इसलिए दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

भारत में आदिकाल से ही गो, गोबर, ग्राम परस्पर जुड़े रहे। एक-दूसरे के पूरक व अन्योन्याश्रित रहे। नदी, तालाब, कूएं, बावड़ी आदि जलस्रोत एवं चौपाल जैसे गांव के लिए आवश्यक थे वैसे ही ग्रामवासियों के भरण-पोषण, जीविकोपार्जन में सहायक पशुधन के लिए गोशाला, गोचर, ओरण आदि भी अत्यावश्यक थे। गोवंश के ही समान गोशाला, गोचारण, ओरण की सुरक्षा, स्वच्छता व व्यवस्था का दायित्व ग्राम-वासियों का ही था। उसे नष्ट करना दण्डनीय अपराध माना जाता था। इसी स्वानुशासित समाज व्यवस्था के बल पर, हमारी गोग्राम आधारित स्वदेशी, स्वावलम्बी, विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और अहिंसा, प्रेम, वात्सल्य, संवेदनशीलता युक्त, **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की सर्वमंगलमयी संस्कृति हजारों वर्षो के झंझावातों को झेलकर भी अपने अस्तित्वको बनाये रख सकी।

गोपालन से ऐश्वर्य की समृद्धि एक ऐसा शुद्ध सात्विक, कल्याणकारी ऋजु मार्ग है जिसका न तो साम्यवाद से विरोध है और न किसी अन्य वाद से। गोवंश की वृद्धि बिना परिश्रम के हो नहीं सकती। इसलिए श्रममूलक अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में गौ अत्यन्त उपयोगी है। गोधन से प्राप्त समृद्धि केवल अपने लिये ही उपयोगी नहीं अपितु उससे संपूर्ण मानव समाज उपकृत होता है। गौ से प्राप्त धन केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था शान्तिमय एवं दोषमुक्त है।

उक्त महत्त्व को समझ कर वेद मातृभूमि पर गोधन होने का कथन इस प्रकार रहता है–

'वह हमारी मातृभूमि गौओं तथा अन्न आदि में हमें रखकर भरण पोषण करे।'[2]

गौवें अपने आपमें ऐश्वर्य हैं, ऐसा वेद का कथन है– 'इन्द्र मुझे गौवे देवें, गौवे धन हैं, गौवें श्रेष्ठ साम का भक्षण है, गौ का दूध सोम में मिलाया जाता है, हे मनुष्यो! ये जो

2. आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ । ऋ. 1.29.1

3. सा नो भूमिगौष्वप्यन्ने दधातु । अथर्व. 12.1.4

गौवें हैं, वे परमैश्वर्य हैं, हृदय और मन से इस परमैश्वर्य को अवश्य चाहता हूँ।'[1]

गौ को सम्पत्ति का घर कहा गया है।[2] वेद में जहाँ सुख प्राप्ति तथा अन्य प्राप्ति की प्रार्थना की गई है, वहाँ प्राय: गौ प्राप्ति की विस्तृत चर्चा भी उपलब्ध होती है।[3]

गौओं की समृद्धि इस कथन से ही समझी जा सकती है– 'स्त्री रहित होकर ब्राह्मण जहाँ (जिस राष्ट्र में) रात्रि में पाप बुद्धि से रहता है उस राष्ट्र में कल्याण करने वाली धेनु नहीं होती और न बैल धुरा को सहता है।[4]

वेद में गौ का एक नाम 'उस्रा' या 'उस्रिया' भी आया है, जिसकी निरुक्ति करते हुए निरुक्तकार कहते हैं– 'उत्स्रविणोऽस्यां भोगा:' अर्थात् सुख और समृद्धि का क्षेत्र। गौवों को समृद्धि दाता मानकर ही महाभारत में यह कहा गया है कि 'गौवें मेरे आगे हों, गौवें मेरे पीछे हों, और गौओं के लिए मेरे हृदय में स्थान हो और मैं सदा गौओं में ही निवास करता रहूँ।'[5]

राजा नहुष और च्यवन ऋषि से सम्बन्धित एक कथा महाभारत में आती है, यहाँ राजा द्वारा एक सहस्र मुद्रा से लेकर सम्पूर्ण राज्य का समर्पण भी जब ऋषि को खरीदने में समर्थ न हो सका तब एक गाय के द्वारा ऋषि को खरीदने के उपाय से सफलता का होना दिखाया गया है। च्यवन ऋषि ने भी गौ को उचित मूल्य मानते हुए अथवा गौ से अपने को खरीदा हुआ मानकर कहा– 'हे राजन्! तुमने मुझे गौ द्वारा अच्छी प्रकार खरीद लिया है। अत: मैं प्रसन्न होकर उठता हूँ, गौओं के तुल्य कोई धन इस भूमण्डल पर मैं नहीं देखता हूँ। गायें सदा लक्ष्मी का कारण हैं। भले ही उक्त राजा नहुष और च्यवन ऋषि की कथा[6] में गौओं के श्रेष्ठ मानने में धार्मिक अथवा अन्य हेतु कोई भी हो, पर गौ समृद्धिस्वरूपा है, इसमें संशय नहीं, महाभाष्यकार पतंजलि ने भी गौओं को समृद्धि किंवा धन माना है– 'वही देश धनाढ्य है जिसमें गायें और अन्न है।'[7]

वेद-भाष्यकार महान् अर्थशास्त्री महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक गोकरुणानिधि में गाय को अर्थव्यवस्था का केन्द्रबिन्दु मानकर सप्रमाण विस्तृत विवेचना की है। आंकड़े देते हुए स्वामी जी ने सिद्ध किया है कि एक गाय के सम्पूर्ण जन्म भर के दूध से 25740 मनुष्य एकबार तृप्त हो सकते हैं। वे लिखते हैं– 'इस गाय की एक पीढ़ी में छ: बछियां और सात बछड़े हुए, इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना संभव है, तो भी बारह रहे। उन छ: बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार 1,54,440 (एक लाख चौवन हजार चार सौ चालीस) मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छ: बैल, तो एक जोड़ी से दो सौ मन अन्न उत्पन्न

---

1. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिरश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ।। ऋ. 6.28.6

2. धेनुं सदनं रयीणाम् । अथर्व. 11.134

3. ऋ. 1.122.7, 1.126.2

4. नास्य धेनु: कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् । विजानिर्यत्र ब्राह्मणे रात्रिं वसति पापया ।। अथर्व. 5.17.18

5. गावो मे अग्रत: सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठत: । गावो मे हृदयेसन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ।। महाभा.

6. महाभारत, शान्तिपर्व

7. भोगवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन्गाव: सस्यानि च वर्तन्ते । भोगो धनमुच्यते । महाभाष्य 5.1.9

हो सकता है। . . . .[1]'

वे अपने मन की व्यथा इस प्रकार व्यक्त करते हैं– 'अघ्न्या: यजमानस्य पशून् पाहि' हे मनुष्य। तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले मनुष्यों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिये ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे, और अब भी समझते हैं और इनकी रक्षा से अन्न भी महंगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्र को भी खानपान मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है, दुर्गन्धि के स्वल्प होने से आयु और वृष्टि जल की अशुद्धि भी न्यून होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।'[2]

गृहस्थ आश्रम में दम्पती सदैव यही प्रार्थना करते हैं कि हमारे घरों में गायें सदा बनी रहें। इनका अभाव कभी न हो। उस घर को ही सौभाग्यशाली माना जाता है जिसमें गौवें हों, तभी तो अपने प्रिय इष्ट इन्द्र से गौ आदि पशुओं से युक्त गृह की कामना की जाती है– 'हे इन्द्र! तुम हमको अश्वगवादि से युक्त सुन्दर गृहवाला धन कब प्रदान करोगे।'[3] सायंकाल वन से लौटती हुई गायें वैदिक गृहस्थ के घर को सुशोभित करती हैं– 'हे घर! बड़ी छत वाला और पवित्र धान्य से युक्त एवं भण्डार धारण करने वाला तू है। तेरे समीप बछड़ा तथा बालक आ जावें। कूदती हुई गायें सायंकाल के समय आ जायें।[4]

सत्यार्थप्रकाश और गोकरुणानिधि में आर्थिक दृष्टि से गोपालन की महत्ता प्रदर्शित करने वाले महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में भी गोरक्षा, गो-संवर्धन से लाभ तथा राजा एवं मनुष्यों द्वारा उनकी रक्षा के लिये अनेक वचन दिये हैं। कुछ वचन उदाहरण रूप में प्रस्तुत हैं–

(क) राजपुरुषों को चाहिए कि गौ, घोड़े आदि वीर उपकारी जीवों की कभी हत्या न करे . . .। गौ आदि पशु दूध आदि पदार्थों को देने से, जो सबका उपकार करते हैं, उससे उनकी सदैव वृद्धि करे।[5]

(ख) जैसे पृथिवी महान् ऐश्वर्य को बढ़ाती है, वैसे गौवें, अत्यन्त सुख देती हैं। इससे ये गौवें कभी किसी को नहीं मारनी चाहिए।[6]

(ग) जो मनुष्य पशुओं की रक्षा और बढ़ने आदि के लिये वनों की रक्षा कर उन्हीं में पशुओं को चराकर दूध आदि का सेवन कर कृषि आदि कामों को यथावत् करें वे राज्य के ऐश्वर्य से सूर्य के समान प्रकाशमान होते हैं।

---

1. गो करुणानिधि - पृ. 6

2. गोकरुणानिधि पृ. 10

3. कदा नो गव्ये अश्व्ये वसौ दध: । ऋ. 8.13.22

4. धरूण्यसि शाले बृहच्छन्दा: पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनव: सायमास्यन्दमाना: ।। अथर्व. 3.12.3

5. दयानन्द यजुर्वेद भाष्य 16.16

6. दयानन्द ऋग्वेद भाष्य 1.164.27

■ गोदुग्ध, गोघृत तथा अन्य गव्य पदार्थ–

इस संसार की भोज्य वस्तुओं में अमृत कहलाने का अधिकार यदि किसी पदार्थ को प्राप्त है तो वह श्रेय दूध (गोदुग्ध) को ही है। दुग्ध तथा उससे बने अनेक पदार्थों में उत्तम जीवनदायक तत्त्व विद्यमान रहते हैं। वेद में गोदुग्ध आदि की महिमा का विस्तार से वर्णन है। गौ के दूध, दही, घृत आदि पदार्थों को सोमरस में मिलाये जाने का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। ऋग्वेद का नवम मण्डल इस प्रकार के वर्णनों से भरा हुआ है। गोदुग्धादि को सोमरस में मिलाने के अतिरिक्त अन्य उपयोग तथा महत्त्व का वर्णन विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध होता है। गोदुग्ध से दुर्बुद्धि दूर होकर सुबुद्धि प्राप्त होती है। इसे वीर्यवर्धक माना गया है। दूध को औषधियों का रस कहा गया है– 'यह दूध जलों, औषधियों तथा घृत का रस है और यह देवों का भाग है।'[1] गोदुग्ध, गोघृत एवं गौ के दुग्ध, मूत्र आदि से निर्मित विभिन्न पदार्थों को आयुर्वेद में अमृत रूप माना गया है। ये सभी स्वास्थ्य के लिये परम हितकारी तथा अनेक रोगों का विनाश करने वाले हैं। शुद्ध दूध पीने वाले मनुष्यों की बुद्धि तीव्र, रक्तशुद्ध, कान्ति उज्ज्वल, शरीर पुष्ट और आयु दीर्घ होती है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में गोदुग्ध के गुणों का विस्तृत वर्णन है, जिसे पढ़कर यह विश्वास हो जाता है कि यदि राष्ट्र में गोधन विपुल मात्रा में हो तो इन गौओं से प्राप्त दुग्ध आदि का सेवन करके नागरिक स्वस्थ-जीवन प्राप्त कर सकते हैं, और चिकित्सा के नाम पर व्यय होने वाला बहुत बड़ा धन बचाया जा सकता है। **'आयुर्वेदघृतम्'** तथा **'घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व'** इत्यादि वचन गोघृत की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। धन्वन्तरि ने गोघृत को उत्तम बताते हुए कहा है कि– "गाय का घी बुद्धि, स्मृति, मेधा, जठराग्नि, बल, आयु, वीर्य, नेत्र-ज्योति आदि को बढ़ाने वाला, बालक, वृद्ध, सन्तति, कान्ति तथा सौकुमार्य की स्थिरता के लिए हितकारी है। गोघृत पाक में मधुर एवं शीतल है, वात रोग, पित्त रोग तथा सब प्रकार के विषों का नाशक है।"[2]

गोदुग्ध से तैयार होने वाले दही, तक्र आदि भी आरोग्य के लिए अत्यन्त लाभप्रद होते हैं। भोजन में इनकी पर्याप्त मात्रा रहने पर सब्जी और दलहन आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। और अन्न की अथवा खाद्य सामग्री की विकराल समस्या का समाधान अनायास ही हो जाता है।

गौवें न केवल जीवित रहते हुए अपने दूध, घृत आदि से मनुष्यों का कल्याण करती हैं, अपितु मरने के पश्चात् भी वे अपनी त्वचा से मानव की सेवा करती हैं। अनेक मन्त्रों में गोचर्म के उपयोग का वर्णन किया गया है– "गो चर्म पर बैठकर सोमरस निकालते हैं।"[3] "प्रशंसित होता हुआ हरे रंग वाला सोम गाय या बैल के चमड़े पर प्रेरित होता हुआ छाना जा रहा है।"[4]

---

1. देवानां भाग उपनाह एषोऽपां रस औषधीनां घृतस्य । अथर्व. 8.4.5

2. निघण्टु 145-46, पृष्ठ सर्ग

3. अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि ऋ. 10.94.9

4. पर्वते हर्यतो हरिर्मणानो जमदग्निना । हिन्वानो गोरधि त्वचि । ऋ. 9.65.25

गौ चर्म से प्रत्यञ्चा आदि के निर्माण का उल्लेख अनेक मन्त्रों में किया गया है। गौ की हड्डियाँ, सींग आदि भी अनेक प्रकार से उपयोगी होते हैं।

वैदिक संहिताओं में गौ के अतिरिक्त वृषभ (बैल) का भी विशद वर्णन है।

▪ गौ घातक को दण्ड–

वेद ने गौ को अत्यन्त उपयोगी पशु जानकर उसकी हिंसा का सर्वथा निषेध किया है– "निरपराध तथा अवध्य गाय का वध न करो।"[1] गाय को इतना पूज्य माना है कि उसे लात मारना निषिद्ध कहा गया है तथा लात मारने वाले को दण्डनीय बताया गया है। गौ को लात मार कर तिरस्कृत करने वाले के लिये वेद कठोरतम दण्ड देने का विधान करता है– "जो गाय को पांव से ठुकराता है, सूर्य की ओर मुख करके मल, मूत्र त्याग करता है, उस पुरुष का मूल मैं काटता हूँ।"[2]

वैदिक काल में गोदान सबसे श्रेष्ठ दान समझा जाता था। अनेक ऐसे उद्धरण हैं जिनमें सहस्रों गौओं के दान का वर्णन प्राप्त होता है। कहा गया है– "जो मनुष्य गौओं . . . . . वस्त्रों . . . . . का दान करने वाले होते हैं, उनमें उत्तम भाग्यशाली ऐश्वर्य स्थापित होते हैं।"[3]

ब्राह्मण आदि को गौदान करने वाले श्रेष्ठ माने जाते थे, तथा जो ऐसा नहीं करते वे पापी और अभागे माने जाते थे। जनक ने अपनी राज-सभा में एकत्र विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को पुरस्कृत करने के लिए सहस्र गौओं को ही चुना. ऐसा उपनिषद् में वर्णन मिलता है।

महाभारत में भी गौदान का वर्णन उपलब्ध होता है– "भीष्म ने युधिष्ठिर को गोदान का फल इस प्रकार बताया था– गौवें सम्पूर्ण तपस्वियों से बढ़कर हैं, ये अपने दूध, दही, घी, गोबर, चमड़ा, हड्डी, सींग और बालों से भी जगत् का उपकार करती हैं, इन्हें सर्दी गर्मी और वर्षा का दु:ख विचलित नहीं करता।"[4]

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। "सफेद गाय को कर्की, बच्चा देने वाली जवान गाय को गृष्टि, दुधारी गाय को धेना व धेनु, बांझ गाय को स्तरी, धेनुष्टरी, वा वशा, बच्चा बांझ होने वाली गाय को सूतवशा तथा अकाल में जिसका गर्भ गिरकर नष्ट हो जाता उस गाय को **'वेहत्'** कहते थे। वह गाय जिसे अपना बछड़ा मर जाने पर नए बछड़े के लिये मनाने की आवश्यकता होती थी, **'निवान्य वत्सा'** या **'निवान्या'** (शत. 2/6/1/6) **'अभिवान्यवत्सा'** (ऐत. 7/2) **'अभिवान्या'** या केवल **'वान्या'** शब्द से अभिहित की जाती थी। वैदिक ऋषियों को गाय का अपने बछड़े के लिये रम्भाना इतना कर्ण-सुखद प्रतीत होता था कि वे देवताओं को बुलाने के लिये प्रयुक्त अपने शोभन गाने की इससे तुलना करने में तनिक भी नहीं सकुचाते थे।"[5]

---

1. मा गामनागाम् अदितिं वधिष्ट । ऋ. 8.101.15

2. यश्च गां पदा स्फुरति सूर्यं च मेहति । तस्य वृश्चामि ते मूलं . . .। –अथर्व. 13.1.56

3. ये गोदा ये वस्त्रदा सुभगास्तेषु रायः । ऋ. 5.42.8

4. महाभारत, शान्तिपर्व

5. वैदिक साहित्य और संस्कृति बलदेव उपाध्याय, पृ. 458, 459

वेद वर्णित गवेतर पशु–

वेदों में गौ के अतिरिक्त अश्व, भेड़, बकरी, कुत्ता, गर्दभ, खच्चर, भैंसा, ऊंट, हाथी, हरिण, भेड़िया, सिंह, बाघ, सूकर (वराह), भालू, घड़ियाल, गैंडा, नीलगाय, तथा शरभ आदि पशुओं का वर्णन उपलब्ध होता है।

घोड़ा–

वैदिक संहिताओं में उपलब्ध वर्णनीय पशुओं में घोड़े का अत्यधिक महत्त्व है। वर्णन एवं महत्त्व की दृष्टि से घोड़े को पशुओं में द्वितीय स्थान प्राप्त है। यातायात के साधनों में आजकल जो स्थान रेल, जहाज आदि का है, वही स्थान वैदिक काल में रथ व घोड़ों का था। रथ व घोड़े इतने प्रिय थे कि उन पर से राजाओं के नाम भी रखे जाते थे, जैसे दशरथ, अप्रतिरथ, कृशाश्व, बृहदश्व, रोहिताश्व आदि।

घोड़ा एक ईमानदार, सुन्दर, तेज गतिवाला, अदम्य उत्साहयुक्त, साहसी व सर्वश्रेष्ठ पशु माना जाता था। इसलिये इन गुणों की तुलना के लिए उपमान के रूप में उसका प्रयोग किया जाता था। सूर्य, अग्नि, अश्विनौ, मरुत आदि की तुलना घोड़े से की गई है। अश्विनी नाम ही अश्व से बना है। सूर्य को वायुमण्डल का घोड़ा कहा गया है।

घोड़े का मुख्य रूप से सवारी एवं युद्ध के प्रसंग में वर्णन किया गया है। इसे रथ एवं गाड़ी में भी जोड़कर बताया जाता है। घोड़े के विषय में कहा गया है कि उत्तम घोड़े की पीठ चिकनी होती है, वे संकेत से ही जुड़ जाते हैं– "घृत के समान चिकनी पीठवाले, मन के संकेत से ही रथ में जुड़ जाने वाले घोड़े सर्वत्र पहुंचाते हैं।"[1] सुडौल एवं श्रेष्ठ घोड़ों का वर्णन वेद के शब्दों में इस प्रकार है– "पुष्ट जघनभाग वाले, पतली कमर वाले, चलने में तेज, उत्तम गुण वाले, सतत गतिमान घोड़े जब उत्तम मार्ग पर चलते हैं तब हंसों के समान एक पंक्ति में होकर चलते[2] हैं। 'हे अश्विदेवो। विशुद्ध, श्रेष्ठ, गमनशील वायु के तुल्य वेग वाले, दूध पीने वाले मन के समान वेग वाले, बलिष्ठ चमकीले पीठ वाले और स्वयं तेजस्वी (दमदार) घोड़े तुम्हें इधर ले आवें।'[3] पैरों से मार्ग को शीघ्रतापूर्वक पार करने वाले, कहने मात्र से रथ में जुड़ जाने वाले घोड़े मैं सब दिन प्राप्त करूं।'[4]

वेदों में इन्द्र और अश्व का संयुक्त रूप से किया गया वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है। दोनों का एक साथ वर्णन सिद्ध करता है कि जैसे इन्द्र ऐश्वर्य का स्वामी है, उसी प्रकार अश्व भी ऐश्वर्य का अभिव्यञ्जक है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है– 'हे विविध धनवाले इन्द्र! उत्तम सहस्रों गौवें और घोड़े हमें मिलें, ऐसा हमें आशीर्वाद दो।'[5]

घोड़े समृद्धि के सूचक हैं। मरुतों से प्रार्थना की गई है– 'हे मरुतो! जो तुम्हारे गुण

---

1. घृतपृष्ठा मनोयुजा ये त्वा वहन्ति वह्नयः । ऋ. 1.14.6

2. ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्मश्वाः ।। ऋ. 1.163.10

3. आ वामश्वासः शुचयः पयस्पावातरंहसो दिव्यासो अत्याः ।
मनोजुवो वृषणो वीतपृष्ठा ए‍ स्वराजो अश्विना वहन्तु ।। ऋ. 1.181.2

4. पद्याभिराशु वचसा च वाजिन त्वां हिनोमि पुरुहूत विश्वहा । ऋ. 2.32.2

5. आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ । ऋ. 1.29.1

गाता है, वह उत्तम घोड़ों से युक्त और उत्तम वीरता वाला धन पाता है।'[1] 'घोड़ों वाली, गौवों वाली तथा सब प्रकार के धनवाली उषा प्रकाशित हो चुकी है।'[2] उषा, उन यशस्वी वीरों के साथ रहने वाले सेवक वर्ग और घोड़ों से युक्त धन को हमें प्राप्त कराये।[3] ऐसी विविध प्रार्थनाएं वेद में हैं। भूमि सूक्त में मातृभूमि का परिचय देते हुए उसमें जहाँ अन्यान्य पदार्थों का परिगणन किया गया है, वहाँ घोड़ों की गणना भी की गई है।

वैदिक काल में घोड़ों का उपयोग भार ढोने, मनुष्यों को इधर से उधर ले जाने तथा रथ एवं गाड़ी को खींचने में किया जाता था। यह परिवहन का एक मुख्य साधन था साथ ही अश्व पर आरूढ़ व्यक्ति के ऐश्वर्य, महत्त्व को भी द्योतित करता था। मन्त्रों में अश्वों के अलंकरण का सुन्दर वर्णन किया गया है। घोड़े के पैरों के स्वर्णमण्डित होने का वर्णन कितना सुन्दर है– "वे देवता मरुत यज्ञ में दान के निमित्त स्वर्णयुक्त पांव वाले घोड़ों पर चढ़कर आगमन करते हैं।"[4] घोड़े के गाड़ी को खींचने का वर्णन देखिए– 'मैं तेरे मन को खींचता हूँ जिस प्रकार पीठ के साथ बंधी गाड़ी को घोड़ा खींचता है।'[5]

घोड़े को खिला-पिलाकर उसे हृष्ट पुष्ट रखने का कथन इस प्रकार किया गया है 'जो घोड़े को मांसल बनाने के लिए उसकी सेवा करते हैं, जो ये कहते हैं कि इन घोड़ों के लिए उत्तम गन्ध वाले अन्न को ले जाओ और इस प्रकार जो घोड़े को हृष्ट-पुष्ट देखते हैं, उनकी उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो।'[6] वेदों में घोड़ों की सेवा, उनको स्नान कराना, उनके शरीर पर हाथ फेरना आदि का वर्णन यह संकेत देता है कि इनकी कितनी उपयोगिता है।

हयहेषाध्वनि वैदिक काल में एक श्रेष्ठ उपमान के रूप में प्रयुक्त होती थी। कामुक प्रसंगों पर भी इसका प्रयोग अत्यन्त हृदयाह्लादी एवं प्रभावकारी प्रतीत होता है– 'यह कन्या पति की इच्छा करती हुई आई है, और स्त्री इच्छा करने वाला मैं आया हूँ। मैं इसके पास धन, बल अथवा तेज से वैसे ही आया हूँ जिस प्रकार हिनहिनाता हुआ घोड़ा आता है।'[7]

घोड़े जब तेज दौड़ते हैं तब इनके खुरों से उठी धूलि आकाश तक फैल जाती है। –'हे इन्द्र! तुम्हारे घोड़ों के खुरों से उठी धूलि द्युलोक तक फैल गई।'[8]

युद्धों में घोड़ों का प्रयोग जैसे वर्तमान काल में होता है उससे भी अधिक वैदिक काल में होता था। ऋग्वेद में घोड़े की सवारी का (विशेषकर युद्ध के अवसर पर) उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'देवता उसका, जिसने सर्वप्रथम घोड़े पर सवारी की है। हवि भक्षण करने के लिये आये हैं।'[9]

---

1. *सुवीर्य मरुत स्वश्व्यं दधीत यो व आचक्रे । ऋ. 140.2*
2. *अश्वावती गोमतीर्विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे । ऋ. 1.48.2*
3. *उषस्तमश्यां यशसं सुवीर दासप्रवर्ग रयिमश्वबुध्यम् । ऋ. 1.92.8*
4. *आ नो मखस्य शवनेऽश्वैहिरण्यपाणिभि: । देवास उप गन्तन । ऋ. 8.7.27*
5. *आहं खिदामि ते मनो राजाश्व: पृष्ट्यामिव । अथर्व. 6.102.2*
6. *ऋ. 1.162.12*
7. *एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् । अश्व: कनिक्रदद् यथा भगेमाहं सहागमम् ।। अथर्व. 2.30.5*
8. *शफच्युतो रेणुर्वक्षतधामुच्छ्वैत्रेयो । ऋ. 1.33.14*
9. *चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणा:सहस्रस्याग्रेश्रेणिं नयन्ति । मदच्युत:कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त:उदभृक्षन्तपज्रा: ।।*

एक अन्य वर्णन दर्शनीय है– 'हजारों सेवकों से युक्त दस रथों की पंक्ति चालीस घोड़े आगे ले जाते हैं। शत्रुओं के घमण्ड के चूर-चूर करने वाले, सोने के अलंकारों से युक्त घास आदि खाकर हृष्ट-पुष्ट तथा वेगवान घोड़ों को सेवक वश में करे।'[1] 'वह बलवान् घोड़ा गर्दन, कांख और मुख में बंधे होने पर भी अपने शत्रुओं की ओर तेजी से भागता है।'[2]

आज के यान्त्रिक युग में युद्धों में अश्वों का प्रयोग कुछ कम हो गया है, किन्तु प्राचीन काल में अश्व ही युद्ध के लिये प्रमुखतया प्रयुक्त होते रहे हैं। हल्दीघाटी के मैदान में अप्रतिभ वीरता प्रदर्शित कर वीरगति को प्राप्त होने वाला राजा प्रताप का चेतक इतिहास के पन्नों में सदा-सर्वदा के लिये अमर है। ऐतिहासिक वीरपुरुष अमरसिंह राठौर, छत्रपति शिवाजी, रानी लक्ष्मीबाई आदि के घोड़ों को उनकी वीरता के कारण आज भी स्मरण किया जाता है।

वेद में विविध वर्णो के घोड़ों का उल्लेख किया गया है। लाल, सफेद, भूरे, चितकबरे, काले तथा मयूर वर्ण वाले मनोहर घोड़ों का वर्णन है– 'हे उषा। लाल वर्ण के घोड़े तुझे सोम याजक के घर पहुँचा देवें।'[3] 'अश्वि देवो! तुमने जिसको सफेद घोड़े का दान दिया।'[4] भूरे रंग के घोड़ों का वर्णन इस प्रकार है– 'वे वीर भूरे अथवा बादामी रंगवाले घोड़ों से जाते हैं।'[5] चितकबरे घोड़े-वीर का संघ चितकबरे घोड़ों वाला है।'[6]

घोड़ों के समान मन्त्रों में घोड़ियों का वर्णन भी किया गया है। अश्व को शक्ति और गति का प्रतीक माना जाता है। वर्तमान समय में भी अश्व-शक्ति का प्रयोग प्रायः भाषा में किया जाता है। एक मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में घोड़े को गति के लिए उत्पन कहा है– जिस इन्द्र का स्थान नाम यश के लिए तथा इन्द्रिय की ज्योति प्रकाश के लिए बनाई गई है वैसे घोड़े गति के लिए उत्पन्न हुए हैं।'[7] घोड़ों की शीघ्रगामिता विख्यात ही है– 'हे मरुतों! शीघ्र चलने वाले घोड़े आपको इधर ले आवें।'[8]

घोड़ों में बल, क्षमता, तथा शीघ्रगामिता की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। इन तीनों गुणों की एकत्र स्थिति किसी अन्य पशु में मिलना कठिन है। ये अश्व वेग में वायु के तुल्य तथा मन की गति के समान चित्रित किए गए हैं।[9]

घोड़ों की इन अनेक विशेषताओं के कारण वेद ने उसे अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। उपयोग की दृष्टि से गाय यद्यपि वेद का सर्वाधिक प्रिय एवं महत्त्वपूर्ण पशु है पर घोड़ों का वर्णन भी गौओं की समकक्षता में बहुधा चित्रित किया गया है। गौओं की प्राप्ति की प्रार्थना

---

1. देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत् । ऋ. 1.163.9
2. उतस्य वाजी क्षिपणि तुरण्याति ग्रीवाया बद्धो अपि कक्ष आसनि । ऋ. 4.40.4
3. उषोभद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचनादधि । ऋ. 1.49.1
4. यमश्विना ददथुःश्वेतमश्वमधाश्वायशश्वदित्स्वस्ति । ऋ. 1.116.6
5. तेऽस्णेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः। ऋ. 1.88.2
6. पृषदश्वो युवा गणे । ऋ. 1.87.3, 1.89.7
7. यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे । अथर्व 20.15.3
8. आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्रजिगात बाहुभिः । अथर्व 20.13.2
9. वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः । अथर्व. 6.92 ।

के साथ घोड़ों की प्राप्ति की प्रार्थना अथवा वर्णन बहुत स्थानों पर किया गया है।[1] गौ और अश्व दोनो की हिंसा न करने का साथ-साथ नामोल्लेख किया गया है। वेद जहाँ गौ-हत्यारे को गोली मारने की व्यवस्था करता है, वहाँ अश्व का वध करने वाले के लिए भी इसी मृत्यु दण्ड का विधान करता है।[2]

वेद मन्त्रों में अनेक प्रकार के रथों का और उनमें जुड़े घोड़ों की संख्या का उल्लेख किया गया है– "हे सुमख अर्थात् राष्ट्ररूप यज्ञ को उत्कृष्ट रीति से चलाने वाले अथवा उत्कृष्ट मख अर्थात् धन देने वाले सम्राट् (इन्द्र)! हमारे द्वारा बुलाये हुए आप दो, चार, छह, आठ, दस घोड़ों पर सवार होकर हमारे यहाँ सोमपान के लिये आइये और हमारी किसी प्रकार की हिंसा मत होने दीजिए।"[3]

उत्तम रथ में जुड़े हुए बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर घोड़ों पर सवार होकर हमारे यहाँ सोमपान के लिये आइए।[4] अस्सी, नब्बे और सौ घोड़ों पर सवार होकर हमारे यहाँ सोमपान करने के लिए आइये, हे सम्राट्! यह सोम तुम्हें आनन्द और बल देने के लिए (मदाय) सुखपूर्वक जिनसे पिया जा सके ऐसे पात्रों में भर रखा है।[5]

ऋग्वेद 4.48 सूक्त में इससे भी अधिक घोड़े सम्राट् के रथ में जोड़ने का वर्णन मिलता है– 'हे सम्राट् के सारथि! (वायो) तुम्हें मन की तरह तीव्रगामी रथ में जुड़े हुए नौ नब्बे अर्थात् 810 (नवति नव:) घोड़े ले चलें। हे सारथि! तू आह्लादकारी और सुवर्ण सज्जित (चन्द्रेण) रथ से सोमपान के लिए हमारे पास आ।'[6] हे सारथि! (वायो) तू प्रयत्नपूर्वक पोषण करने योग्य सौ घोड़ों को रथ में जोड़ अथवा हे हजार घोड़ों वाले! तेरा रथ बल से अर्थात् वेग से हमारे पास आये।'[7]

इस प्रकार राजाओं के रथों में जोते जाने वाले घोड़े उन राजाओं के महत्त्व और प्रभाव को द्योतित करते थे।

न केवल सम्राटों के पास ही घोड़े होने चाहिए अपितु प्रजाजनों को भी घोड़े रखने चाहिए, ऐसा स्पष्ट निर्देश वेदों में प्राप्त होता है। सम्राट् से की गई प्रार्थनाओं में यही भाव निकलता है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं–

---

1. *भग प्रनो जनय गोभिरश्वैः । यजु. 34.36; धेनुर्वोढानड्वान् आशुःसप्तिः । यजु. 22.22*
2. *यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पुरुषं तं त्वा सीसेन विध्यामो । अथर्व. 1.16.4*
3. *आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।*
   अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ।। ऋ. 2.18.4
4. *आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः ।*
   आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽषष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम् ।। ऋ. 2.18.5
5. *आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः ।*
   अयं हि शुभहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय । ऋ. 2.18.6
6. *वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव ।*
   वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ।। ऋ. 4.48.4
7. *वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम् ।*
   उत वा ते सहस्रिणो रथं आ यातु पाजसा ।। ऋ. 4.48.5

– **आश्विनावश्वावत्येषा यातं शवीरया । ऋ. 1.30.17**

हे अश्विनौ! ऐसे अन्न के साथ आओ, जिससे घोड़े प्राप्त हों और जो गति देने वाले हों।

– **अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः . . . आच्यावयामः । ऋ. 4.17.16**

घोड़ों को चाहने वाले और बल को चाहने वाले हम कामनाओं के वर्षक सम्राट् (इन्द्र) को अपनी ओर झुकाते हैं।

– **आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम् । ऋग्. 8.78.2**

हे सम्राट्! आप हमें मुख्य भोजन के साथ सहकारी रूप में खाये जाने वाले भोज्य पदार्थ, घृतादि स्निग्ध पदार्थ, गौवें और घोड़े दीजिए।

वैदिक संहिताओं में अश्वविद्या के ज्ञाता विद्वानों की चर्चा की गई है। उत्तम अश्वविद्यावेत्ता विद्वानों के प्रबन्ध में राष्ट्र में अच्छे घोड़े तैयार होते हैं। ऐसे चिकित्सकों का वर्णन भी है, जो घोड़ों की उत्तम चिकित्सा करते हैं। एक मन्त्र में कहा गया है– वैद्य कहता है कि मेरे पास ऐसी दवायें हैं जिनके सेवन से यदि इसके अश्व को रोग है तो उसकी अरिष्टताति हो जायेगी और यदि इसे स्वयं या इसके किसी मनुष्य को रोग है तो उसकी अरिष्टताती हो जायेगी।

– **अश्वावती सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।**
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ।। ऋ. 10.97.7

अश्वों के सम्बन्ध में वेद-मन्त्रों में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। यथा–

– **श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू । ऋ. 1.163.1**

हमारे घोड़े बाज पक्षी और हिरण के समान तीव्र गति वाले होने चाहिए।

– **अय अस्य पादाः । ऋ. 1.163.9**

घोड़ों के पैरों में लोहे की नालें लगवानी चाहिए। जिससे उनके सुम घिसकर उन्हें चलने में कष्ट न हो।

– **ओषधीरजीगः । ऋ. 1.163.7**

घोड़ों को खाने के लिए औषधि अर्थात् उत्तम अन्न, घास आदि दिये जाने चाहिये।

▪ भेड़-बकरी–

भेड़ तथा बकरी मानव समाज के लिए उपोगी पशु हैं। पालतू पशुओं में इन्हें तीसरे स्थान पर रखा जा सकता है। पशुपालन में भेड़ बकरी आदि का विशेष स्थान है। जिस प्रकार गोपालन अपने में स्वतन्त्र व्यवसाय है। उसी प्रकार भेड़ पालन भी एक उत्तम व्यवसाय है। वेद में यद्यपि गौ के पश्चात् उपयोग एवं महत्त्व की दृष्टि से अश्व का स्थान है तथापि स्वतन्त्र पशु पालन के रूप में इसका उल्लेख नहीं, जबकि भेड़-बकरी आदि के वर्णन को देखने पर भेड़ पालन के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने में संदेह नहीं रह जाता। एक स्थान पर भेड़िये द्वारा सौ भेड़ों के नष्ट करने का पता चलता है। 'भेड़िये को सौ भेड़ प्रदान करने वाले पुत्र को अहितकारी पिता ने अन्धा बना दिया, हे अश्विदेवो! तुमने उसमें दोनों आंखों को डाल

दिया अर्थात् उस अंधे को विशेष दृष्टि मिल जाय इसके लिए तुम दोनों ने उसकी आंखों का निर्माण किया[1] भाव यह है कि भेड़पालक का पुत्र अपनी लापरवाही (प्रमादवश) सौ भेड़ गवां चुका जिससे पिता ने क्रोधित होकर उसे अन्धा होने का शॉप दे दिया, क्रोध करना ठीक नहीं, इसीलिए वेद में 'अशिव' (अकल्याणकारी) शब्द क्रोध करने वाले के लिए प्रयुक्त किया है। अश्विदेवों ने ऐसे अज्ञानान्ध को दिव्यदृष्टि प्रदान की।

सौ भेड़ रखने वाला निश्चित रूप से भेड़ पालक होता है जिससे भेड़-पालन के स्वतन्त्र व्यवसाय होने का परिचय प्राप्त होता है। भेड़-बकरियां भेड़िये से भयभीत रहती हैं। भेड़िया जंगली पशु है वह इन्हें मारकर खा जाता है। अत: स्वाभाविक है– 'जिस प्रकार भेड़-बकरियाँ, भेड़िये से डरती हुई भाग जाती हैं, उसी प्रकार ऐ दुन्दुभे! तू शत्रुओं को भगा दे।[2] भेड़-बकरी और भेड़िये का वर्णन इसी प्रकार अनेक मन्त्रों में किया गया है।

भेड़ से ऊन प्राप्त होती है। इस ऊन के द्वारा निर्मित वस्त्र शीत रोकने में परम सहायक होते हैं, न केवल मनुष्य अपितु पशुओं के लिए भी इस भेड़ की ऊन का उपयोग किया जाता है– 'हे अग्ने (राजन्)! आवरण का मूल द्विपात, चतुष्पाद अर्थात् मनुष्य पशु आदि को त्वचा के समान कम्बल आदि से ढकने वाली विधाता की प्रजाओं में उत्तम रचना रूप परम रक्षा में वर्तमान इस ऊन देने वाली भेड़ को तुम नष्ट मत करो।'[3]

प्रभु सृष्टि में उत्पन्न भेड़ को उत्तम रचना माना गया है, इसके द्वारा प्राप्त ऊन के महत्त्वपूर्ण उपयोग की दृष्टि से ही इस प्रकार का कथन किया गया है।

बकरी की महत्ता एवं रक्षा के लिए एक अन्य मन्त्र में निर्देश दिया गया है– 'बकरी अग्नि के तेज और ताप से उत्पन्न हुई है। उसने उत्पन्न होते ही पहले अपने उत्पादक को देखा, उससे उपयोग लेकर व्यवहारशील विद्वान् पुरुषों ने पहले देवता अर्थात् व्यवहारशील विद्वानों के गुण व्यवहार को प्राप्त किया, संघटन में रहकर कार्य करने वाले उन विद्वानों ने उस बकरी से उपयोग लेकर कई प्रकारकी उन्नति प्राप्त की। हे सम्राट्! तू इस बकरी को मत मार।'[4]

यजुर्वेद में विभिन्न व्यवसाय करने वालों के वर्णन के अवसर पर 'गोपाल' 'अजपाल' 'अविपाल' आदि का भी उल्लेख है।[5]

यद्यपि अजा शब्द का अर्थ बकरी है, परन्तु वैदिक साहित्य में अजा शब्द से भेड़ तथा बकरी दोनों अर्थों का ग्रहण हो जाता है। भेड़ के लिए स्वतन्त्र शब्द मेष भी आया है।

बकरी-बकरे आदि का भेड़ से पृथक् वर्णन भी उपलब्ध होता है– 'हे अश्विदेवो! दो

---

1. शतं मेषान् वृक्ये मामहानं तम: प्रणीतमशिवेन पित्रा ।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे ।। ऋ. 1.117.17

2. यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यती: । अथर्व. 5.21.5

3. इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।
त्वष्टु प्रजानां प्रथिमं जनित्रमग्ने मा हिंसी: परमे व्योमन् ।। यजु. 13.50

4. अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यास: ।। यजु. 13.5

5. यजुर्वेद 30.11

बकरों के समान तुम युगल मूर्ति हो।"[1] बकरों के समान अश्विदेवों को युगल मूर्ति बताकर बकरों के प्रति स्नेह एवं आदर-भाव का ही प्रकटीकरण है, इससे स्पष्ट है कि बकरी-बकरे की हिंसा निषिद्ध है। यदि ये हिंसनीय पशु होते तो उक्त प्रकार से दी गई उपमा के लिए उनका प्रयोग न होता।

बकरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पशु है। बकरी की विशेषता बताते हुए आचार्य प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति लिखते हैं-

"बकरी अग्नि के तेज से उत्पन्न हुई है, उसने उत्पन्न होते ही अपने उत्पादक को देखा। इस आलंकारिक वाक्य का जो भाव हमें प्रतीत होता है वह निम्न है। अग्नि में जैसे तेज है वैसे ही बकरी में भी तेज है, गरमी है। अग्नि के तेज के दो चिह्न हैं, एक तो अग्नि में गति पाई जाती है, वह स्वयं गति में रहता है और अन्य पदार्थों को भी गति प्रदान करता है। दूसरे उसमें अपनी गरमी से मल को भस्म करके वस्तुओं को शुद्ध करने की शक्ति है। बकरी में हम ये दोनों बातें पाते हैं। पहले गति को लीजिए, बकरी में एक विशेष प्रकार की गति पाई जाती है जो दूसरे प्राणियों में नहीं मिलती। बकरी को जंगल आदि पहाड़ों में चरने के लिये छोड़ दीजिए, वह ऐसे विकट स्थानों में जाकर भी घास और अपने खाद्य के पत्ते आदि चर लेती है, जहाँ दूसरे पशु जाने का साहस नहीं कर सकते। जिन ऊँचाइयों और उन पर बने पैर रखने के अत्यन्त छोटे स्थानों को देखने मात्र से मनुष्य का जी काँप जाता है और जहाँ पहुँचने का गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, भेड़ आदि पशु नाम नहीं ले सकते, बकरी वहाँ खड़ी होकर भी चर आती है। ढूँढ़कर घास और पत्ते चरने में जितनी पुरुषार्थी और गतिशील बकरी होती है उतने दूसरे पशु नहीं होते। अग्नि का यह गति देने वाला तेज बकरी में पाया जाता है। बकरी के नाम 'अज' का धात्वर्थ भी इस बात को स्पष्ट करता है। 'अज' शब्द संस्कृत की 'अज गतिक्षेपणयोः' धातु से बनता है। बकरी अज इसलिये है कि उसमें गति है और अपने शरीर का क्षेपण अर्थात् इधर-उधर संचालन करने की, फेंकने की, शक्ति है। जिन्होंने कभी बकरियों को पहाड़ों के ऊँचे और अत्यन्त तंग स्थानों में चरते देखा है वे बकरी की इस विशेष प्रकार की गति और क्षेपण का अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं।

अग्नि के तेज दोष को दूर करने की शक्ति भी बकरी में हैं। कहते हैं बकरी के दूध में क्षयरोग को दूर करने की बड़ी भारी शक्ति है। क्षय रोगी के शरीर में गरमी नहीं रहती। उसकी पाचक अग्नि मन्द पड़ जाती है। उसे भूख नहीं लगती और खाया-पिया नहीं पचता। इस कारण उसकी सारी जीवनाग्नि मन्द पड़ जाती है। बकरी का दूध इस रोग में एक औषध का काम करता है। रोगी के शरीर के दोषों को दूर करके उसमें शुद्धता लाता है और उसकी पाचक अग्नि को तीव्र करता है। जिससे उसे भूख लगने लगती है और इस प्रकार उसमें फिर से जीवनाग्नि का संचार होने लगता है। बकरी के इस तेज को देखकर ही मन्त्र में अलंकार से कह दिया गया प्रतीत होता है कि वह अग्नि के तेज से उत्पन्न होती है।"[2]

---

1. अजेव यमा वरमा सचेथे । ऋ. 2.39.2

2. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, भाग-2, पृ. 108, 109

▮ गर्दभ - खच्चर–

गधे (गर्दभ) और खच्चर पशु भी पालतु पशुओं में माने गये हैं। इनके पालन किये जाने का वर्णन भी मिलता है। एक स्थान पर एक सौ गधे प्राप्ति की प्रार्थना की गई है– 'हे इन्द्र! मुझे सौ गधे और सौ भेड़ें प्रदान करो।'[1] देवों से प्रार्थनाएँ सदा ऐश्वर्य एवं सुख प्राप्त्यर्थ ही की जाती हैं। गधों के द्वारा पदार्थ ढोने के विविध कार्य सम्पन्न होते हैं। अत: वे भी ऐश्वर्योत्पादन में विशेष सहायक होते हैं।

गर्दभ (गधी) का भी उल्लेख उपलब्ध होता है– 'हे कृत्ये (दूषण प्रयोग) बन्धन से छूटी हुई गर्दभी के समान शब्द करती हुई दूर चली जा।'[2]

खच्चर का नामोल्लेख भी मिलता है। यह खच्चर पशु घोड़े और गधे के संयोग से उत्पन्न होता है। यह भी वजन ढोने आदि में बहुत सहायक है। यह बल की दृष्टि से भी घोड़े आदि से कम नहीं होता। इसीलिए कहा है– 'घोड़े के, खच्चर के, मेढ़े के और बैल के जो बल हैं, हे शरीर को वश मे करने वाले तू इन बलों को धारण कर।'[3]

खच्चर आदि पशुओं की सुरक्षा किये जाने का कथन इस प्रकार है– जिसको वे एक खुरवाले पशु में, पशुओं में जिसके दोनों ओर दांत हैं, अर्थात् खच्चर में तथा जिस घातक प्रयोग को गधे में करते हैं, उसको मैं हटाता हूँ।'[4]

▮ भैंसा (महिष)–

वेद में भैंसे के लिए 'महिष' शब्द का प्रयोग मिलता है। महिष शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पर इसका एक अर्थ भैंसा है। इस भैंसे के अर्थ में 'महिष' का प्रयोग स्पष्ट रूप से मिलता है। इसलिए वेद में भैंस अथवा भैंसी की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। हाँ, इस पशु के पालन में विवाद हो सकता है। वैदिक संहिताओं के वर्णन के आधार पर इस पशु को हम पालतू नहीं मानते अपितु यह भी एक वन्य पशु है पर यह पशु बलवान होने पर भी मांस भक्षी तथा हिंसक नहीं है। भैंसे के वन में रहने का वर्णन इस प्रकार है– 'विद्वान् सोम जल की तरंगों के समान और भैंसे वनों में जिस तरह झुण्ड के झुण्ड जाते हैं, उसी तरह चले जाते हैं।'[5] वनों में बैठे भैंसे पशु के तुल्य यह सोम पवित्र होता हुआ कलशों के समीप चारों ओर से चला गया।[6] मन्त्रों में सोम की उपमा भैंसे से दी गई है। सोम अत्यन्त बलवर्धक होता है तथा भैंसा भी पशुओं में बलिष्ठ होता है।[7] वनों में भैंसा जैसे सुखपूर्वक बैठता है वैसे ही सोम कलश आदि पात्रों में स्थित होकर सुशोभित होते हैं। सोमलता से सोमरस तैयार करने के लिए उसमें जल मिलाया जाता है अथवा जल के पास सोमलता को लाया जाता है। भैंसा भी जल के पास आता है, भैंसों को जल बहुत

1. *शतं मे गर्दभानां शतामूर्णावतीनाम् . . . . अतिप्रज: । ऋ. 8.56.3*
2. *अपक्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव । अथर्व. 10.1.14*
3. *अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च । अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन धेहि तनूवशिन् ।। अथ. 4.4.8*
4. *यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति । गर्दभे कृत्यां यां चक्रु: पुन: प्रति हरामि ताम् ।। अथर्व. 5.31.3*
5. *प्रसोमासो विपश्चितोऽपां न यन्त्यूर्मय: । वनानि महिषा इव ।। ऋ. 8.33.1*
6. *सोम: पुनान: कलशाँ अयासीत्सीदन्मृगो न महिषो वनेषु । ऋ. 9.92.6*
7. *महिषो नृपाणाम् । ऋ. 9.96.6*

सुखप्रद प्रतीत होता है।

एक मन्त्र में सोम को तीखे सींगवाले भैंसे के समान बताया गया है– 'यह छलनी में पूर्णतया निचोड़ा जाता हुआ सोम तीक्ष्ण सींगों को हिलाते हुए भैंसे के समान है।'[1]

वेद में महिष शब्द का अर्थ सर्वत्र भैंसा ही नहीं है, अनेक स्थानों पर इसका अर्थ 'कन्द' भी है। **श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** ने महिष का अर्थ कन्द ही स्वीकार किया है। अन्य अनेक अर्थों में भी यह प्रयुक्त है। महिष का सोम के साथ वर्णन इसकी महत्ता को द्योतित करता है।

वैदिक काल में यह पशु पालतू न रहा हो, किन्तु वर्तमान समय में यह पालतू भी है और भार ढोने के कार्य में पर्याप्त उपयोगी भी। वेद में भैंस (महिषी) का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता किन्तु जब भैंसे की स्थिति वेद मानता है तब भैंस का होना स्वतः सिद्ध है। बिना भैंस के भैंसे की कल्पना करना असंभव है। किन्तु भैंस की स्थिति मानने पर भी उसके दूध के प्रयोग का निर्देश वेद में नहीं है। वैदिक विचारधारा गोदुग्ध का ही उपदेश देती है।

■ ऊँट–

वेदों में ऊँट के पालन करने तथा इसके द्वारा रथगाड़ी आदि खींचने का वर्णन किया गया है। ऊँटों द्वारा रथ खींचने का वर्णन है– 'जिस राजा के रथ के ले चलने वाले शीघ्रगामी जुते हुए वधुओं वाले ऊँट . . . .'[2] संभवतः मरुप्रदेश में बड़े वाहन को खींचने के लिये ऊँट प्रयुक्त किये जाने का उक्त वर्णन है, क्योंकि रेतीली भूमि में अश्व, बैल आदि कोई भी पशु रथ आदि वाहन को खींच नहीं पाते हैं। एक मन्त्र में ऊँट द्वारा मरु भूमि को पार करने का वर्णन किया गया है। 'हे पोषक देव! तू हमें हिंसकों से उसी प्रकार पार करा दे जिस प्रकार ऊँट यात्रियों को रेगिस्तान से पार करा देता है।'[3] ऊँटों द्वारा अन्न भेजने का वर्णन भी है– 'अश्वों और ऊँटों द्वारा जो अन्न भेजा जाता है वह तुम्हारा ही है ऐसा वायु ने कहा।'[4] एक स्थान पर ऊँटों की प्राप्ति का भी निर्देश किया गया है– 'मैंने साठ सहस्र और दस सहस्र अश्वों को दो सहस्र ऊँटों को और एक सहस्र कृष्णवर्ण वाली अश्वियों को प्राप्त किया तथा श्वेत रंग वाली दस सहस्र धेनु भी तीन स्थानों पर प्राप्त की हैं।[5] इस मन्त्र में जहाँ अश्व, गौ आदि के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्ति का उल्लेख है वहाँ दो हजार ऊँटों की प्राप्ति का भी कथन है। इससे सिद्ध है कि वैदिक विचारधारा ऊँट के उपयोग से अपरिचित नहीं है। इस पशु का उपयोग विशेषकर मरु प्रदेश अर्थात् रेगिस्तान में होता है। वर्तमान समय में भी मरुभूमि में ऊँट अत्यन्त उपयोगी पशु के रूप में व्यापार के क्षेत्र में तथा सवारी ढोने के काम में प्रयुक्त होता है। राजस्थान और हरियाणा के बहुत बड़े भू-भाग में इसकी महत्ता निर्विवाद है।

---

1. एष सुवानः परि सोमः पवित्रे सर्गो न सृष्टो अदधावधर्वा । ऋ. 9.87.7

2. उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश । अथर्व. 20.127.2

3. पूषन . . . . शृणवौ यथा मृध . . . उष्ट्रौ न पीपरो मृधः ।

4. अश्वोषित रजेषित शुनोषितं प्राज्य तदिदं नु तत् । ऋ. 8.46.28

5. षष्ठि सहस्राश्वस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता ।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा । ऋ. 8.46.22

■ हाथी–

पशुओं में हाथी सर्वाधिक बलशाली पशु है। हाथी को बल का प्रतीक कहने में विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। यह विशालकाय पशु मांसाहारी नहीं होता है। पर यदा-कदा बिगड़ जाने पर अथवा अन्य किसी कारण से कुपित हो जाने पर यह हिंसा पर भी उतर आता है। तब इस पर नियंत्रण पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसका पालन जनसाधारण के वश की बात नहीं है, अतः इसे वेद ने पालतू पशुओं में नहीं माना है। वेद में जहाँ-जहाँ बहुत बल का प्रसंग आया है वहाँ हाथी को उपमान के रूप में प्रयुक्त किया गया हैं यथा 'बलशाली हाथी की तरह शत्रु की सेना को जलाता हुआ इन्द्र शस्त्रों को धारण करता है।[1] जो अदिति के शरीर से उत्पन्न हुआ है अर्थात् मूल प्रकृति के अन्दर जो बल है वह हाथी बल के समान बड़ा यश फैले।'[2] भाव यह है कि जो यशस्वी बल हाथी आदि पशुओं में रहता है वह सम्पूर्ण बल देव, अदिति मुझमें दे। 'जैसे अच्छे बैठने वाले पशुओं में हाथी (बल के कारण) बड़ा प्रतिष्ठावान् हुआ उस तेज के साथ मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूँ।'[3] जैसे सबसे निर्बल के रूप में मच्छर का कथन होता है उसी प्रकार सबसे बलवान के रूप में हाथी का वर्णन किया जाता है। प्रभु से प्रार्थना की गई है कि जो तेज (बल) हाथी में होता है, वह मुझमें हो।'[4]

एक मन्त्र में हाथी, हथिनी की क्रीड़ा का उल्लेख इस प्रकार है– 'जैसे हाथी अपने पांव को हथिनी के पांव के साथ जोड़ता है।'[5]

हार्थी वन्य पशु है। यद्यपि वैदिक साहित्य में इसके उपयोग का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है तथापि वैदिक समाज हाथी से पूर्णतया परिचित था। हाथी के बलशाली होने का जो भव्य रूप वेदों में वर्णित है वही आगे चलकर शासक वर्ग का आकर्षण बना और बड़े-बड़े राजा-महाराजा हाथी पर सवार होकर चलना अपना गौरव मानने लगे। युद्ध के अवसर पर राजा, सेनापति आदि हाथी का प्रयोग करने लगे। मध्यकाल में यह युद्ध में विजय प्राप्त करने का अमोघ साधन हो गया था। राजा अपने राज्याभिषेक अथवा बड़े-बड़े उत्सवों के अवसर पर हाथी पर आरूढ़ होकर आते थे। आज भी यह परम्परा विद्यमान है। हाथी बल के साथ-साथ यश का प्रतीक बन गया है। वन्य पशु होते हुए भी इसने पालतू पशु का स्थान ले लिया है।

पहाड़ों पर भारी लकड़ी आदि ढोने के काम में इसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में भी हाथी का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है।

■ हरिण–

हरिण भी वन्य पशु है। पशुओं में सबसे सीधा (भोला) पशु यही हैं। यह सौन्दर्य का

---

1. मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि विभ्रत् । ऋ. 4.16.14

2. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो आदित्या यत् तन्वः संबभूव । अथर्व. 3.22.1

3. हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि । अथर्व. 3.22.6

4. यो हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु । अथर्व. 6.38.2

5. यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्यजे . . . .। अथर्व. 6.70.2

साकार रूप और कवियों का श्रेष्ठ उपमान है। यह सर्वथा शुद्ध सात्विक भोजी तृण आदि वनस्पति पर निर्वाह करता है– 'हे अश्विदेवो! तृण के पीछे जाने वाले और गौर मृगों के समान तुम सोम के पास आओ।[1] हिरण के सीधेपन को देखकर यह कहने या मानने में संदेह नहीं रह जाता कि सीधे व्यक्ति या पशु को सताने वाले संसार में प्रायः मिल ही जाते हैं। हिरण का शिकार भी इसी तथ्य को प्रकट करता है कि क्रूर प्रवृत्ति के लोग सरल स्वभाव के प्राणियों के स्वभावत: शत्रु होते हैं। मृगया शब्द प्रमाणित करता है कि शिकारप्रेमी मृग को ही अपना लक्ष्य बनाते रहे होंगे।

इन प्रसिद्ध पशुओं के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशुपक्षियों का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। यजुर्वेद के 24वें अध्याय में इनका विस्तृत वर्णन है। पं. वीरसेन वेदश्रमी के अनुसार 42 पशुओं और 73 पक्षियों के उपयोग तथा गुणधर्मों का यहाँ वर्णन है। वहाँ कहा गया है– 'वसंत के लिये कपिंजल पक्षी को, ग्रीष्म के लिये गौरेया चिड़िया को, वर्षा के लिये तीतर को, शरद् के लिये बटेर को, हेमन्त के लिये ककर को तथा शिशिर के लिये विककर पक्षी को प्राप्त करे।[2] इन पक्षियों का ऋतुज्ञान से गहन सम्बन्ध है।

पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ एवं सूक्ष्म स्थितियों में स्थित जलों के ज्ञान के लिये पशु-पक्षियों का सम्बन्ध बताते हुए वेद कहता है– 'समुद्रों का अवगाहन करने के लिए तथा समुद्रो के भीतर का पता लगाने के लिये शिशुमार जलचर को प्राप्त करे अथवा शिशुमार जलचर सदृश जल के ऊपर मध्य एवं नीचे चलने वाली पनडुब्बियों का उपयोग लेवें। मेघों के ज्ञान एवं उसकी उत्पत्ति, गति, एवं वर्षण क्रिया के लिए मण्डूकों का उपयोग लेवे। जल के लिए मछलियों का उपयोग जानें। जल जिन दो तत्वों से बनता है उनमें से मित्र तत्व के लिए कुलीपय जन्तु और वरुण के लिए नक्रों को पाले।'[3]

आग्नेय तत्वों के विषय में उपयोगी पक्षियों का वर्णन करते हुए कहा है कि– 'अग्नितत्व के विविध प्रकार के प्रयोग एवं अनुसंधान के लिये कुक्कुट का उपयोग करें, वनस्पतियों के लिये उलूकों का प्रयोग करें, अग्नि सोमयुक्त पदार्थों के लिये नीलकण्ठ का उपयोग लेना चाहिए। सूर्यचन्द्र के लिये मयूरों का तथा मित्र एवं वरुण तत्व के लिए कबूतर का उपयोग लेना चाहिए।[4]

कैसा दुर्भाग्य है मानव जाति का कि वेद ने जिन पशु पक्षियों से विभिन्न प्रकार के संसारोपयोगी प्रयोग करने का निर्देश दिया था यह मानव उन पशु-पक्षियों को खा जाता है।

काल की विविध गतियों के ज्ञान के लिए, दिशाओं के सम्बन्ध ज्ञान के लिए भी इनका

---

1. अश्विना हरिणाविव गौराविवानु . . . ऋ. 5.78.2

2. वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीन् ।
शरदे वर्तिका हेमन्ताय ककरान् शिशिराय विककरान् ।। यजु. 24.20

3. समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानदभ्यो मत्स्यान् ।
मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नक्रान् ।। यजु. 24.21

4. अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्य उलूकानग्नीषोमाभ्याम् ।
चाषानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् ।। यजु. 24.23

विशेष महत्त्व वेद ने बताया है।

इन पशु-पक्षियों के माध्यम से मानवीय-गुण-दोषों का आलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है।

पशुओं का उपयोग व्यक्ति एवं समाज के लिए आवश्यक है। खाद्य, परिवहन एवं यातायात की पूर्ति पशुओं से होती है इसके लिए प्रार्थना की गई है-

'दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः ।' (यजु. 22.23)

पशुरक्षण आवश्यक है अतः उनके पालन एवं उनके उपयोग की कला का ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिए वेद ने इनके पालने वाले व्यक्तियों एवं उनके लाभ का संकेत इस प्रकार किया है-

– **अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालम्,**
वीर्यायाविपालं, तेजसेऽजपालम् ।। यजु. 30.11

अर्थात् गंभीर गति के लिए हस्तिपालक को, वेगपूर्वक गति के लिए अश्वपालक को, पुष्टि के लिए गोपालक को, वीर्य के लिए भेड रक्षक को, तेज के लिए बकरी पालक को जाने या नियुक्त करे।

पशु-पक्षी परमात्मा ने सृष्टि के उपकार के लिए बनाये हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो इनका अनेक प्रकार से उपयोग ले सकता है। मनुष्य जब इन पशुओं को पालेगा तभी वह इनका पालक बनकर गोपाल, अजपाल, अविपाल, अश्वपाल एवं हस्तिपाल आदि नाम एवं कर्मो को सिद्ध कर सकेगा।

■ पशुओं की रक्षा और मित्रता-

वेद में इन विविध प्रकार के पशुओं का विशद वर्णन देख लेने पर यह निर्देश भी देखने को मिलता है कि हमें इनका वध नहीं करना चाहिए इनकी रक्षा करनी चाहिए और इनके प्रति मित्रता का भाव रखना चाहिए। अश्वमेघ, अजमेध, गोमेध आदि शब्दों का अनर्थ करके इनकी बलि देने या हिंसा का विधान सर्वथा असंगत और वेदविरुद्ध आचार की पराकाष्ठा है। जहाँ कहीं वेद में मेध शब्द आया है वह यज्ञ का पर्यायवाची है। जिस कार्य में विद्वानों के पालन पोषण के लिए पशु दिये जाते हैं वही वास्तविक पशुयज्ञ है।

वेद-मन्त्रों में पशु-वध का स्पष्ट निषेध है। गौ के पर्यायवाची नामों में सर्वाधिक **'अघ्न्या'** (हन्तुमयोग्या) शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 20, यजुर्वेद में 5, सामवेद में 2 तथा अथर्ववेद में 31 स्थानों पर दिया गया है। वेदों में यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रों में हुआ है, जो यज्ञों में हिंसा का स्पष्ट निषेध करता है। **यास्क** ने ठीक ही कहा है-

'अध्वर इति यज्ञनाम्, ध्वरति हिंसा कर्मा, तत्प्रतिषेधः ।' –निरुक्त (2.7)

यह अध्वर शब्द ऋग्वेद में 50, यजुर्वेद में 43, सामवेद में 11 तथा अथर्ववेद में 6 बार प्रयुक्त है। गाय को 58 बार अघ्न्या कहने वाले और 110 बार यज्ञ को अध्वर कहने वाले वेदों में यज्ञ में पशुबलि या गौबलि का विधान संभव ही नहीं है।

वेद में स्थान-स्थान पर 'प्रियः पशूनां भूयासम्' 'पशूनां मयि रन्तिरस्तु' 'दृते दृंह मा

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्, मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।"[1] इत्यादि मन्त्रों में जो प्रेममयी भावना है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि हमें पशुओं को मारना नहीं चाहिए अपितु इनको मित्रवत् प्रेम करना चाहिए। इनकी रक्षा से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी हसमें कोई सन्देह नहीं।

▪ पशुशाला और चरागाह–

गौओं के झुण्ड या समूह को ऋग्वेद (1.62.9, 1.86.6) में गोष्ठ कहा गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (3.18.14) के एक सन्दर्भ में कहा गया है कि सन्ध्या समय कुरूओं का पशु-समूह 'गोष्ठ' में रहता था और मध्याह्न समय 'संगविनी' में चला जाता था। 'संगविनी' संभवत: छायादार स्थान होता था, जिसमें धूप के समय पशुओं को एकत्रित किया जाता था और उनका दोहन किया जाता था।

ऋग्वेद (1.25.26) में घास के मैदान या चरागाह को 'गव्यूति' कहा गया है। गव्यूति दूरी के मापक का भी प्रतीक है।

वैदिक युगीन 'गोष्ठ' और 'संगविनी' का प्रचलन आज भी गढ़वाल में देखने को मिलता है। गढ़वाल में आज भी 'गोष्ठ' शब्द का प्राकृत प्रयोग 'गोठ' नाम से ही किया जाता है। आर्यलोग लता-गुल्मों से निर्मित घरों में अपने पशुओं सहित वनों में रहते थे। इन घरों तथा गोचर वनों को ही 'अरण्यानी' कहा गया। ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 146वें सूक्त में इन अरण्यानियों का भव्य एवं कवित्वमय वर्णन देखने को मिलता है। इन लता-गुल्म निर्मित घरों का वही रूप तथा उपयोग सम्प्रति गढ़वाल में देखने को मिलता है।[2]

❐

---

1. यजु. 36.18

2. वैदिक साहित्य और सस्कृति, वाचस्पति गैरोला, पृ. 431

पञ्चम अध्याय

उद्योगों का महत्त्व

किसी भी राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाने के लिये, देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये, जहाँ कृषि पशुपालन का अत्यधिक महत्त्व है, वहाँ शिल्प कला एवं कल-कारखानो को उत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँचाना भी अत्यावश्यक है। छोटे-बड़े उद्योगों एवं शिल्प-कलाओं के माध्यम से राष्ट्र की समस्त खनिज सम्पदा का ठीक-ठीक उपयोग होता है।

▪ वेदों में उद्योग एवं शिल्प-कला-

वैदिक ऋषि इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित थे, वे वैज्ञानिक ढंग से खेती करने एवं पशुपालन में अग्रणी थे, वे जंगलों और पर्वतों की सुरक्षा कर उसका लाभ उठाना जानते थे। वह काल शिल्पकला, विज्ञान, उद्योग-व्यवसाय से पूर्णतया समृद्ध था।

अब यह प्राय: सर्वमान्य है कि वैदिक सभ्यता ही सबसे पुरानी सभ्यता हैं और यह सभ्यता जितनी प्राचीन है भारतीय शिल्प-विज्ञान भी उतना ही प्राचीन है। वेदों में आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ भौतिक विज्ञान भी पराकाष्ठा पर है।

उपनिषदों और ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक ज्ञान और अधिक विस्तार से व्याख्यायित है। उनमें विज्ञान की अनेक शाखाओं की सामग्री भी है। तकनीकी विज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, शिल्प की यथाविधि शिक्षा दी जाती थी और समाज में शिल्पकारों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। शिल्पियों को विश्वकर्मा अर्थात् इंजीनियर कहकर देवतुल्य सम्मान दिया जाता था। मुण्डकोपनिषद् में तो इन्हें ब्रह्मवेत्ताओं से भी श्रेष्ठ कहा गया है।[1]

शिल्प में कील से लेकर अन्तरिक्ष में उड़ने वाले मानव-निर्मित विमान तक, मिट्टी के घट से लेकर मणि मण्डित राजप्रासाद की गगनचुम्बी चोटियों तक, कपास से लेकर सूतनिर्मित वस्त्र एवं ऊन से बनाये गये शाल, दुशाले एवं बहुमूल्य गलीचों तक तथा स्वर्ण आदि विभिन्न धातुओं से निर्मित आभूषण एवं अन्यान्य वस्तुयें तथा उक्त वस्तुओं के सम्बन्ध में आने वाले पदार्थ, अन्तर्हित होते हैं।

▪ वैदिक शिल्पी-

वेद में शिल्पी को कारु कहा गया है। यह कारु शब्द किसी एक प्रकार के शिल्पी

---

1. मुण्डकोपनिषद्

के लिए प्रयुक्त न होकर किसी भी प्रकार की शिल्प-विद्या को जानने वाले के लिए प्रयुक्त है। संस्कृत के वाचस्पत्य बृहदभिधान नामक कोश में **'शिल्प'** का अर्थ **'कारु कर्म'** अर्थात् कारु लोगों का कर्म अर्थात् व्यवसाय किया गया है। जब शिल्प कारु लोगों का कर्म हुआ तो कारु लोक शिल्पी स्वयं ही हो गये। पौराणिक देवमाला में विश्वकर्मा को देवताओं का शिल्पी माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शिल्प के अर्थ निम्न प्रकार दिये हैं–

1. **आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि ।** ऐ. 6. 27
2. **आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि ।** गो. उ. 6.7
3. **यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् ।** श. उ. 2.1.5
4. **त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रमिति ।** कौ. 29.5

अर्थात्– 1. अपने आपको संस्कृत करने वाले - शुद्ध करने वाले और सजाने वाले कर्म शिल्प कहलाते हैं, 2. किसी वस्तु का प्रतिरूप बनाना - उसकी मूर्ति और चित्र बनाना - शिल्प कहलाता है, 3. नृत्य, गीत और वाद्य कला को शिल्प कहते हैं।

प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों एवं विभिन्न शब्दकोशों में शिल्प के जो अर्थ दिये गए हैं इन सब अर्थो को ध्यान में रखते हुए शिल्प को आधुनिक अंग्रेजी भाषा में अनूदित करना चाहें तो इन्डस्ट्रीज, क्रैफ्ट्स, हैण्डीक्रैफ्ट्स, फाइन आर्ट्स, मैकेनिकल आर्ट्स आदि शब्दों से जिन अर्थो का बोध होता है वे सभी शिल्प के अर्थ हैं। और इन सभी शिल्पों को करने वाले शिल्पी लोग वेद में कारु शब्द से अभिहीत हैं।[1]

वेद में कहा गया है कि राजा इन कारु लोगों की रक्षा और सहायता कर राष्ट्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्पों की अभिवृद्धि करे। उदाहरण के रूप में कुछ मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं–

– **'त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।'**[2]

अर्थात् हमारे द्वारा स्तुति किये जाने वाले हे सम्राट्! (अग्ने) धनों की प्राप्ति के लिए आप राष्ट्र में यशस्वी शिल्पी लोगों का निर्माण कीजिए।

– **'तनूकृद् बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे ।'**[3]

अर्थात् हे सम्राट् (अग्ने) आप शिल्पी लोगों के (कारवे) शरीरों को बनाने वाले और उन्हें प्रकृष्ट मननशील ज्ञान देने वाले होइये। हे कल्याणकारी राजन्! आप सब प्रकार का धन देते हो।

– **'आ यस्य ते महिमानं शतमूते शतक्रतो ।**
गीर्भिर्गृणन्ति कारवः ।'[4]

अर्थात् हे सैकड़ों प्रकार के कर्म करने वाले और सैकड़ों प्रकार के कर्मो से रक्षा करने वाले सम्राट् (इन्द्र) शिल्पी लोग (कारवः) तेरी महिमा को सदा अपनी वाणियों से गाते हैं।

---

1. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, भाग-2, पृ. 126
2. ऋग्. 1.31.8
3. ऋग्. 1.31.9
4. ऋग्. 8.46.3

इस प्रकार इन वेद-मन्त्रों में यह दर्शाया गया है कि राजा और शिल्पी परस्पर सहयोग एवं प्रेमभाव से शिल्प-विद्या की वृद्धि एवं प्रयोग से राष्ट्र को समृद्ध बनायें।

अश्विदेवों से प्रार्थना करते हुए एक वेदमन्त्र में कहा गया है– हे अश्विनौ! हम बड़े-बड़े घरों वाले (पुरुदमासः) शिल्पी लोग (कारवः) अपने शिल्पयज्ञों में (सधमादेषु) सहायता के लिए तुमको बुलाते हैं।[1]

यहाँ बड़े-बड़े घरों से अभिप्राय बड़े-बड़े कारखानों से है। यद्यपि दम शब्द रहने के घर का वाची भी होता है, परन्तु यहाँ इसका यह अर्थ नहीं है। अश्विनौ को शिल्पयज्ञों में बुलाया जा रहा है। शिल्पयज्ञों के घर कारखाने ही होंगे।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि सम्राट् शिल्पियों को जगाता है कि उठो! राष्ट्र के लोगों में फैल जाओ, मुझ शक्तिशाली के राज्य में खूब काम करो। मेरे राज्य में तुम्हारे सारे शत्रु भी तुम्हारी पालना करेंगे।[2]

आशय यह है कि राजा को चाहिए कि अपने यहाँ के शिल्पियों को नाना प्रकार के शिल्प कार्य करने की प्रेरणा करता रहे और उन्हें राष्ट्र के कोने-कोने में फैल जाने को कहता रहे। उसे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि राष्ट्र के शिल्पियों को देश में सर्वत्र आदर और सुरक्षा प्राप्त हो।

■ शिल्पियों के प्रशिक्षण केन्द्र–

वेद के इन मन्त्रों में यह भाव भी प्रकट हो रहा है कि राजा अपने राष्ट्र में शिल्पियों को प्रशिक्षित करने के लिये अच्छे-अच्छे शिक्षणालयों की स्थापना करे, जिससे कि ये कुशल शिल्पी, शिल्पकलाओं का तथा उद्योगों का व्यापक प्रचार-प्रसार कर देश को समृद्ध बनायें।

इस युग के महान् वेद-भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश एवं वेदभाष्य में शिल्प, उद्योग को उच्च स्थान प्रदान किया है। वे सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं– 'अर्थवेद कि जिसको शिल्प-विद्या कहते हैं– उसको पदार्थ गुणविज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के, अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है, उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिष्, सूर्यसिद्धान्तादि - जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल - खगोल और भूगर्भ विद्या है उसको यथावत् सीखे।'[3]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक अमरग्रन्थ में महर्षि का यह कथन विचारणीय है– ''इस महागंभीर शिल्पविद्या को सर्वसाधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो यह विज्ञान, हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे सिद्ध कर सकते हैं।''[4]

---

1. *वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः । अथर्व. 7.73.1*
2. *इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।*
   ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत्ते पृणादरिः ।। अथर्व. 20.127.11
3. *सत्यार्थप्रकाश, तृ. समु. पृ. 65*
4. *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ. 153*

ऋग्वेदभाष्य में स्वामी जी लिखते हैं– "शिल्प-शिक्षा की उन्नति करने वाले जो उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वान् हैं, वे जितना अर्थ समझें उतना अर्थ उन सबके सुख के लिए नित्य प्रकाशित करें जिससे हम लोग ईश्वर की सृष्टि के पवन आदि पदार्थों से अनेक प्रकार के उपकार लेकर सुखी हों।"[1] उनका यह स्पष्ट मत है कि वेद में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी शिल्प-शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश है।[2]

वेद में यह स्पष्ट सन्देश है कि राजा इन शिल्पियों के प्रशिक्षण के लिए शिक्षणालयों की व्यवस्था करे, क्योंकि सम्राट् शिल्पी लोगों को उनके लिए उपयोगी ज्ञान उन-उन विषयों के शिक्षणालयों के माध्यम से ही प्रदान कर सकता है। अर्थात् प्रशासन को चाहिये कि वह इंजीनियरिंग कॉलेजों की स्थापना करे।

वेद में सोम शब्द का एक प्रमुख अर्थ विद्या-निष्णात स्नातक होता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम का प्राय: यही अर्थ है। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के सोमों का अर्थात् स्नातकों का वर्णन है। वहाँ अनेक स्थानों पर सोम को 'कारु' कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र दर्शनीय है–

1. **अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः ।** **ऋग्. 9.10.6**
2. **अभि विप्रा अनूषत मूर्धन् यज्ञस्य कारवः ।** **ऋग्. 9.17.6**
3. **वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा ।** **ऋग्. 9.29.2**

इन मन्त्रों में सोम लोगों को 'कारु' कहने का अभिप्राय यह है कि वे अपने-अपने वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले शिल्पों के मर्मज्ञ स्नातक हैं। अब स्नातक लोग शिक्षणालयों में ही तैयार होते हैं। जो स्नातक कारु हैं, शिल्पी हैं, वे शिल्प-सम्बन्धी शिक्षणालयों में ही तैयार होंगे।

शिल्प की आधारभूत शक्तियों यथा जल, वायु, अग्नि, विद्युत्, वाष्प, खनिज इत्यादि की महत्ता वेदों में स्पष्ट रूप से वर्णित है। उद्योगों की स्थापना करने एवं उनकी उन्नति करने के स्पष्ट संकेत वेद-मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं।

वेद ज्ञान में रमण करने वाले महर्षि दयानन्द प्राचीन भारत के भौतिक विज्ञान और औद्योगिक समृद्धि की प्रशंसा करते हुए भारतीयों को सदैव यह प्रेरणा देते रहते थे कि वे नवीन प्रकार के कलकारखाने लगाकर अपने देश की औद्योगिक उन्नति करके आर्थिक समृद्धि प्राप्त करें। महर्षि ने 18 फरवरी 1875 को बम्बई में भारतीय शिल्प-विज्ञान की प्राचीनता विषय पर भाषण देकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया था।

■ शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने–

किसी भी राष्ट्र को अजेय एवं शक्तिशाली बनाने के लिए उत्कृष्ट सैन्यशक्ति अपरिहार्य है। सेना की सफलता एवं शत्रुओं पर विजय प्राप्ति के लिये विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्र अत्यावश्यक हैं। शस्त्रविहीन सेना अपार देश-प्रेम एवं असीम शारीरिक शक्ति के

1. ऋग्वेद द.भा. 1.89.4

2. विद्युद्रथा मरुत ऋषिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः ।
सरस्वती ऋणवन्यज्ञियासो धातारयिं सहवीरं तुरासः ।। ऋ.द.भा. 3.54.13

होते हुए भी विजयी नहीं हो पाती। वेद में ऐसे शिल्पियों का वर्णन किया गया है जो शिल्पी अपने कारखनों में राजा के लिए शस्त्रास्त्रों का निर्माण करते हैं, इसलिए राज्य उनकी रक्षा करता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इस प्रकार के कारखाने का वर्णन करते हुए कहा है– क्योंकि इन शिल्पियों ने राष्ट्र के सब व्यवहारों के प्रेरक और सुखों के वर्षक इस सम्राट् को बल देने के निमित्त तथा उसे सब वीरों में पूजनीय बनाने के निमित्त, सम्राट् के सहायक शस्त्रास्त्रों को अपने-अपने कारखानों में बनाया है, जिससे सम्राट् उन्हें देखे अर्थात् उनसे उपयोग ले, इसलिए ये अपने व्यवहारों में चेष्टाशील, शिल्पीजन, सम्राट् में रक्षा को प्राप्त करते हैं।[1]

ये शस्त्रास्त्र लोहे के होते हैं ऐसा वेद में स्थान-स्थान पर कहा गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 10.48.3 में वज्र को स्पष्ट ही लोहे का बना हुआ कहा गया है– **'मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसम्'** - अर्थात् त्वष्टा ने मेरे लिए लोहे का वज्र बनाया है। लोहे के शस्त्रनिर्माण के साथ ही साथ लोहे से सम्बन्ध रखने वाले और भी अनेक शिल्पों की ओर निर्देश हो जाता है। भूमि से लोहे की कच्ची धातु निकालने वाले शिल्पी, उसे शुद्ध करके लोहा तैयार करने वाले शिल्पी, लोहागरम करने के लिए आवश्यक भट्टियों का सामान बनाने वाले शिल्पी, शस्त्र बनाने में सहायक, दूसरे यन्त्र बनाने वाले शिल्पी आदि अनेक प्रकार के शिल्पी इन शस्त्र-निर्माण करने वाले कारुओं के साथ ही आवश्यक हो जाते हैं।

वेदों में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन किया गया है। इनमें वज्र सबसे प्रसिद्ध और कठोर अस्त्र है जो प्रहार करने पर निश्चित रूप से शत्रु को नष्ट करने का सामर्थ्य रखता है। विविध प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के वज्र होते हैं। ये अस्त्र एवं शस्त्र दोनों प्रकार के होते हैं। जो फेंककर या प्रक्षेपण द्वारा समीप एवं दूर के स्थानों पर प्रयुक्त किये जाते हैं वे अस्त्र हैं। जो सामने हस्तादि में पकड़कर प्रयुक्त किये जाते हैं वे शस्त्र हैं– तलवार, असि, खड्ग, परशु, क्षुर आदि शस्त्र हैं। तोप, बन्दूक, बाण, इषु, शर, बम, राकेट आदि शस्त्र हैं।

यजुर्वेद में शतपर्व वज्र,[2] तिग्मतेजा,[3] हेति,[4] प्रहेति,[5] आदि वज्रों का उल्लेख है। अथर्व वेद में त्रिषंधि वज्र,[6] अयोमुख[7] वज्र, सूचीमुखा[8] वज्र, विकंकतीमुखा वज्र,[9] धूमाक्षी वज्र,[10] कृधुकर्णी वज्र[11] अश्रुमुखी वज्र,[12] अग्निजिह्वा वज्र,[13] धूमशिखा वज्र,[14] का स्पष्ट वर्णन है। इसी प्रकार क्षुर,[15] सृक,[16] पवि[17] असि,[18] निषंग,[19] धनुः,[20] पिनाक,[21] इषु,[22] शर,[23] बाण,[24] वृष,[26] आदि का स्पष्ट उल्लेख है। कवच अर्थ वाला 'वर्म' शब्द विभिन्न स्थानों पर आया है। शिप्रा[27] और 'द्रापि'[28] शब्द भी कवच के अर्थ में देखा जाता है। 'बिल्मिन्'[1] शब्द शिरस्त्राण

---

1. इन्द्रे भुजं शशमानास आशत सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये ।
प्र ये न्वस्यार्हणा ततक्षिरे युजं वज्रं नृषदनेषु कारवः ।। ऋ. 10.92.7

2. यजु. 33.96, 3. यजु. 1.24, 4. यजु. 16.11, 5. यजु. 15.16, 6. अथर्व 11.10.2, 7. अथर्व. 11. 10.3, 8. अथर्व. 11.10.4, 9. अथर्व. 11.10.5, 10. अथर्व. 11.10.6, 11. अथर्व. 11.10.7, 12. अथर्व. 11.9.7, 13. अथर्व. 11.9.19, 14. अथर्व. 11.10.19, 15. अथर्व. 8.1.2, 16. यजु. 18.71, 17. अथर्व. 18.71, 18. यजु. 16.22, यजु. 16.61, 19. यजु. 13.61 20. यजु. 3.61, 21. 3.61. 22. यजु. 3.61, 23. यजु. 30.7, 24. यजु. 17.48, 25. 29.44 26. यजु. 16.13, 27. ऋ. 4.37.4, 28. 1.116.10

के लिए प्रयुक्त किया गया है। प्रलयंकर युद्ध में प्रयुक्त होने वाले दिव्य शस्त्रों एवं शक्तियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। अथर्ववेद के एकादश काण्ड के नवम सूक्त में विस्फोटक शस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। सम्पूर्णसूक्त में युद्ध सामग्री का सुन्दर वर्णन किया गया है। भुशुण्डिका आदि शब्द तो वेद में नहीं हैं, किन्तु सीसे की गोली का वर्णन मिलता है, जिससे गोली चलाने वाले किसी शस्त्र की विद्यमानता का स्पष्ट संकेत मिलता है।

इस प्रकार के विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण एक व्यापक औद्योगिक क्षेत्र में ही संभव था।

वेद में अनेक प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद का सोलहवां और तीसवाँ अध्याय तो समग्र रूप से इन्हीं शिल्पों और व्यवसायों के नाम निर्देशों के लिए अर्पित है। जैसे–

1. **तक्षा** (यजु. 16.27, 30.6) – लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई।
2. **रथकार** (यजु. 16.27, 30.6) – रथ बनाने वाला।
3. **कुलाल** (यजु. 16.27, 30.7) – जुलाहा।
4. **कर्मार** (यजु. 16.27, 30.7) – लुहार।
5. **इषुकार** (यजु. 16.46, 30.7) – बाण बनाने वाला।
6. **धनुष्कार** (यजु. 16.46, 30.7) – धनुष बनाने वाला।
7. **ज्याकार** (यजु. 30.7) – धनुष् की प्रत्यञ्चा बनाने वाला।
8. **रज्जुसर्ज** (यजु. 30.7) – रस्सी बनाने वाला।
9. **सूत** (यजु. 30.6) – रथ हांकने वाला अथवा नाचने वाला।
10. **शैलूष** (यजु. 30.6) – नाटक करने वाला।
11. **मणिकार** (यजु. 30.6) – मणियों की वस्तुयें बनाने वाला।
12. **कण्टकीकारी** (यजु. 30.8) – सुईं, कीलें आदि बनाने वाला।
13. **पेशिता** (यजु. 30.12) – मूर्तियां, चित्र आदि निर्माता।
14. **अंजनकारी** (यजु. 30.14) – सुरमा निर्माता।
15. **कोशकारी** (यजु. 30.14) – शस्त्रों के कोश अथवा डिब्बों का निर्माता
16. **अजिनसंघ** (यजु. 30.15) – चर्मकार।
17. **चर्मम्न** (यजु. 30.15) – चमड़ा साफ करने वाला।
18. **हिरण्यकार** (यजु. 30.17) – सुवर्णकार।

वैदिक साहित्य में विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के सम्बन्ध में अनेक संकेत यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। इन संकेतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिल्प, उद्योग अर्थात् निर्माण कला का उन्नत रूप उस काल में विद्यमान था। कतिपय निर्माण कलाओं का विवेचन प्रस्तुत है।

---

1. नमो बिल्मिने च कवचिने च । यजु. 16.35

वस्त्र निर्माण–

संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो वस्त्र धारण करता है। वस्त्र धारण करना सभ्यता का द्योतक है। वस्त्र-धारण का सांस्कृतिक महत्त्व भी है। विदेशी चिन्तक **स्पेंसर** ने वस्त्र पहनने की भावना को शृंगारप्रियता से उद्‌भूत भले ही माना हो, किन्तु वस्त्र-धारण मनुष्य के सांस्कृतिक परिष्कार का भी द्योतक है।

''वैदिक काल का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धा सूत कातना व कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखे द्वारा सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख आता है।[1] ऋग्वेद में कपड़ा बुनने वाले को 'वय' कहा गया है।[2] **'पूषा'** को ऊन का कपड़ा बुनने वाला कहा गया है। **'सिरि'** शब्द भी कदाचित् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **तन्तु, ओतु, तसर, मयूख** आदि शब्द जिनका प्रयोग ऋग्वेद में आता है बुनने की कला से सम्बन्धित थे।

वैदिक काल में वस्त्रधारण की प्रथा थी और कई-कई वस्तुओं से कई प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे, ऐसे अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं।

वस्त्र बुनना प्रायः स्त्रियों का कार्य था जिसका उल्लेख अथर्ववेद (10.7.42 आदि) और ऋग्वेद (1.92.9) में देखने को मिलता है। शतपथब्राह्मण (12.7.2.11) में भी ऊन और सूत कातना स्त्रियों का प्रमुख कार्य बताया गया है। **(तद्यथा एतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रम्)** वे चर्खा चलाती और तरह-तरह के सूती-ऊनी वस्त्र बुनती थीं। जिस प्रकार स्त्रियां मुख्यतः वस्त्र बुनती थी, उसी प्रकार अविवाहिता कन्याएं कपड़ों पर कसीदा काढ़ती थीं।[3] ऋग्वेद, यजुर्वेद, एवं ऐतरेय ब्राह्मण में प्रयुक्त **'पेशस्'** शब्द से कढ़े हुए वस्त्रों का उल्लेख हुआ है।[4] इस प्रकार के कढ़े हुए वस्त्रों को विशेष रूप से नर्तकियां पहनती थीं।

संहिताओं में सूत कातना, सूत से कपड़ा तैयार करना, भेड़ों से ऊन प्राप्त कर ऊनी वस्त्र बनाना तथा विभिन्न प्रकार के परिधानों पर की जाने वाली सूक्ष्म कारीगरी वस्त्र शिल्प का परिचय देते हैं।

सूत कातने का इन मन्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है–

''जो यज्ञ का तन्तु देवों में फैला है, सत्य का शुद्ध तन्तु फैला है।''[5] 'सनातन तन्तु फैलाओ', 'ऋग्वेद के मन्त्र सीधे सूत्र हैं और यजुर्वेद के मन्त्र तिरछे सूत्र हैं अर्थात् ताने-बाने हैं।'[6] न टूटे हुए सूत्र को पकड़कर हम सब तरेंगे।'[7]

वेद में कपड़ा बनाने के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से विचार किया गया है। सूत द्वारा कपड़े बनाने के साधनों का भी वर्णन मिलता है। जैसे वेमन्[8] (ए लूम) खुड्डी, राछ यंत्र का बोधक है जिस पर कपड़ा बनाया जाता है। 'सीस'[9] सीसे का भार या लोहे का बोझ अर्थात् जो लपेटने के चक्र पर लगाया जाता है, जिससे ठीक प्रकार से कपड़ा लपेटा जा

1. *A.C Basu - Indo-Aryan Polity, P.116*
2. *ऋक्. 2.3.6*
3. *ऋग्. 2.3.6*
4. *ऋग्. 4.16.7, 7.34.11, ऐतरेय ब्रा. 3.10*
5. *यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तु र्देवेष्वाततः । ऋ. 10.57.2; ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ . . .। ऋ. 9.73.9*
6. *तन्तुं तनुष्य पूर्व्यो। ऋ. 1.14.21, ऋचःप्राचस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः । अथर्व. 15.3.6*
7. *ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति । अथर्व. 6.12.2; 8. यजु. 19.83, 9. यजु. 19.80,*

सके उसका बोधक है 'तसर'[1] (ए शल्टर) यह शब्द नाल, घड़की, नाली का बोधक है, जिसका उपयोग कपड़ा बुनने में होता है। इससे कपड़े में छोटे धागे भरे जाते हैं। 'जोतु'[2] शब्द बाना, भरनी का वाचक है। खुड्डी के साथ वाली खूंटी को 'मयूख' कहा गया है।[3] सूत द्वारा कपड़ा तैयार करने वाले को 'वासोवाय:' 'वाय:' (जुलाहा – ए वीवर) कहा गया है।[4] इसी काम को करने वाली स्त्री के लिए 'सिरी'[5] 'वयित्री' का प्रयोग मिलता है। तंतु, तंत्र[6] अनुच्छाद,[7] प्राचीनतान, प्राचीनातान[8] बुनने के लिए ताने जाने वाले लम्बे धागे आदि शब्द कपड़ा बुनने की कला पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। वेद में वस्त्र बुनने का कथन इस प्रकार किया गया है– ''जो फैला हुआ ताना जाता है उसमें ये सब प्रजायें बाने के समान भरी हैं, 'यह जो समझता है तथा सूत्र का सूत्र जिसे पता है, वह बड़ा ब्रह्म जानता है।'[9] 'मैं जानता हूँ, इसलिए बड़ा ब्रह्म भी मैं जानता हूँ।'[10] आध्यात्मिक चिन्तन को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए बुनने रूप व्यापार का वर्णन यहाँ किया गया हे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में दिन और रात को ताने बाने की उपमा दी गई है।[11] अपरिचित वस्तु को उपमा के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता है, इससे वैदिक काल में सूत द्वारा वस्त्र निर्माण का परिचय होना सिद्ध होता है। सूत कातने का कार्य धन-प्राप्ति में सहायक होता है – ''धन का पोषण करने वाले सूत्र से धन की प्राप्ति करो''[12] ऋग्वेद में नारी के दो मुख्य कार्य बताये गये हैं, बालक संवर्धन और सूत कातना[13] इकहरे, तथा तिहरे सूत्र में अन्तर और वैशिष्ट्य से वैदिक समाज परिचित बताया गया है। ऋग्वेद में **'त्रिवृतं तन्तुं' 'त्रितन्तु'** आदि शबद तिहरे सूत्र का बोध कराते हैं।[14] सूत को रंगने का संकेत भी वेद में है– 'भूरे रंग वाले सूत्र में ज्ञानी जन कूंची, साड़ू या मणि विशेष बांधते हैं।'[15]

ऊन से कपड़ा बनाने का वर्णन इस प्रकार है– 'मननशील कवि मन के साथ अथवा किसी धातु विशेष के यन्त्र के साथ ताना फैलाकर ऊन के सूत से कपड़े बुनते हैं।[16] ऊन की उपमा मुद्रता से दी गई है।[17] प्रसिद्ध और उपयोगी **कम्बल** का वर्णन इस प्रकार है– ''पाप को कम्बल मे रखकर हम शुद्ध हों।''[18] कपड़े बुनने का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत ऋचा में देखने योग्य है– ''एक मनुष्य इस ताने को फैलाता है। ये खूंटियाँ हैं जो बुनने के स्थान में लगाई हैं और सुखदायक नाले या छकड़ियाँ हैं जो बाने के लिए बनाई हैं।[19] इस मन्त्र

---

*1. ऋ. 10.130.2 यजु. 19.83, **2.** ऋ. 6.9.2.3, अथर्व. 14.2.51; **3.** ऋ. 10.130.2 तथा ऐ.ब्रा. 1,*
*4. ऋ. 10.26.6, **5.** ऋ. 10.71.9, तथा ऋ. 2.3.6; **6.** ऋ. 10.130.2, अथर्व. 10.7.13, यजु. 19.80,*
*7. शत. ब्रा. 3.1.2.18; **8.** तै.सं. 6.1.14;*

9. यो विधात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता: प्रजा इमा: । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ।
अथ. 10.8.37

10. वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमा: । सूत्रं सूत्रस्याहं वेदा यो . . .। अथ. 10.8.38
*11. अथर्व. 10.7.14, **12.** तंतु नो रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व । अथर्व. **13.** ऋ. 10.5.3*
14. ऋ. 9.86.3, 10.30.9
15. पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधस: । अथर्व. 3.9.3
16. सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति । यजु. 19.80
17. ऊर्णमृदस्र त्वा स्तृणामि । यजु. 2.2 तथा 5
18. कम्बले सृज्महे वयम् । अथर्व. 14.2.64
19. ऋग्. 10.130.2

में मनुष्यों द्वारा कपड़ा तैयार किये जाने का वर्णन है। किसी भी कारखाने में अनेक मनुष्यों द्वारा वस्त्र तैयार करने का दृश्य आज भी देखा जा सकता है।

वैदिक समाज में वस्त्रनिर्माण की उन्नत जानकारी के साथ-साथ वस्त्रों को धारण करने का वर्णन भी अनेक स्थानों पर किया गया है– 'हे विद्वन्! भव्य वस्त्रों को धारण करके हमारे इस यज्ञ को संपन्न कर।'[1] अच्छे श्वेत वस्त्र धारण करना हमारी पुरानी पैतृक प्रवृत्ति है।[2] 'बृहस्पति ने यह कपड़ा सोम राजा के लिए दिया है।'[3] 'उत्तम कपड़ा पहने हुए युवा आता है, वह यशस्वी बनता है, मन से देवता की उपासना करने वाले, आत्मज्ञानी जन उसी की उन्नति करते हैं।[4]

परुष्णी (व्यास) नदी के तटवर्ती प्रदेश तथा गान्धार देश की ऊन इस युग में बहुत प्रसिद्ध थी। एक मन्त्र में परुष्णी प्रदेश की ऊन के लिए 'शुन्ध्यव' विशेषण का प्रयोग किया गया है।[5] उसकी उत्कृष्टता सूचित होती है। एक अन्य मन्त्र में गन्धार की भेड़ों की 'रोमश' ऊन का वर्णन है।[6] परुष्णी तथा गन्धार के ऊनी वस्त्रों के उत्कृष्ट तथा प्रसिद्ध होने के कारण वे दूर-दूर तक बिकने के लिए जाया करते थे और यह व्यापार संभवतः सिन्ध नदी द्वारा होता था। इसलिए एक मन्त्र में सिन्ध नदी को 'सुवासा' और 'ऊर्णावत्नी' कहा गया है।[8] इन शब्दों से यही संकेत मिलता है कि सुन्दर वस्त्र तथा सुन्दर ऊन सिन्धु नदी द्वारा ही ले जाई जाती थी। ऊन का प्रयोग केवल कपड़े बनाने के लिए ही नहीं होता था अपितु उससे बनी जाली छानने के लिए भी प्रयुक्त की जाती थी।

वेद में कुरता, पगड़ी आदि विभिन्न धारण करने योग्य तथा उपयोग में आने वाले वस्त्रों का उल्लेख है। वेद में एक शब्द 'द्रापि'[9] आया है। यह चोगे की तरह के गले से लेकर घुटने तक लटकने वाले वस्त्र का बोधक है। इसे ओवरकोट समझना चाहिये। वेद मन्त्रों में उष्णीष, तार्प्य, द्रापि, शामुल्य, पेशः, वासः, सुवासः, सुमंगलंवासः, विश्वरूपं वासः, शुक्रवासः, रुशत्वासः, वाधूयं वासः, परिधान, नीवि, अधिवासः, अत्क आदि अनेक प्रकार से धारण किये जाने वाले वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।

वैदिक समाज वस्त्र उद्योग की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। इसके कारण प्रजाओं के तन ढकने के लिए मूलभूत एंव प्रधान आवश्यकता की पूर्ति होती थी। इसीलिए वेद में, कहने के अपने अद्भुत कवितामय ढंग से, वस्त्र निर्माण के विषय में बहुत कुछ उपदेश दिया है। वेद के वस्त्रनिर्माण संबंधी प्रायः सभी स्थल अनेकार्थक, श्लेषमयी, गहरी कविता की भाषा में है। वेद भाष्यकार पं. सातवलेकर जी ने वेदमन्त्रों से सिद्ध किया है कि वेद

---

1. *वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्रायूर्जा पते । सेमं नो अध्वरं यज । ऋ. 1.26.1*
2. *भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः । ऋ. 3.39.2*
3. *बृहस्पतिः प्रायच्छद वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ। अथर्व. 2.13.2*
4. *युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति । ऋ. 3.8.4*
5. *ऋ. 1.25.13, 1.116.10, 4.53.2, 4.53.2, 9.86.14*
6. *ऋग्. 4.22.2*
7. *सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका । ऋग्. 1.126.7*
8. *ऋग्. 10.75.8*
9. *ऋ. 1.25.13, 1.116.10, 4.53.2, 9.86.14*

में चरखे का वर्णन है तो डॉ. कान्तिकिशोर भरतिया ने वेद और खादी - नामक लघु पुस्तिका में वेद के अनेक मन्त्र उद्‌धृत करते हुए वैदिक काल में खादी का व्यापक प्रचार होने की बात कही है। खादी को जन-जन तक पहुँचाने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इसकी भूमिका लिखकर खादी के साथ-साथ वेद के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। बापू ने 2 जून 1927 ई. के 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित 'वेदों में चरखा' शीर्षक लेख में निम्न मन्त्र को उद्‌धृत किया था–

'पुमां एनंतनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तले अधि नाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदुरु सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ।।'

–ऋग्. 10.130.2

अर्थात् (पुमान् एनं तनुते) एक मनुष्य इस ताने को फैलाता है (पुमान् उत्कृणत्ति)। दूसरा मनुष्य बाने को खोलता है। इस प्रकार (अस्मिन् नाके) इस सुखदायक स्थान पर (वितत्ले) विशेष प्रकार से सूत फैलाया जाता है। (इमे मयूखाः) ये खूंटियाँ हैं जो (सदः उपसेदुः ऊ) बुनने के स्थान पर लगायी गयी है। (सामानि तसराणि) सुखदायक नाले घड़कियाँ भी विद्यमान हैं जो (ओतवे चक्रुः) बाने के लिये बनाई गई है।

वैदिक युग के आर्य सूत कातना, वस्त्र बनाना, कढ़ाई-बिनाई के अतिरिक्त सिलाई की कला से भी सुपरिचित थे। वेदों में सूई के लिए 'सूची' या 'वेशी' नामो का उल्लेख हुआ है और ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि वे लोहे, चांदी या सोने की हुआ करती थीं।

स्त्री-पुरुष साड़ी तथा धोती के रूप में जिस अधोवस्त्र को पहनते थे उसके किनारों पर आकर्षक कढ़ाई होती थी। वस्त्रों पर की जाने वाली कढ़ाई के अनेक प्रकार थे, यथा अशोका, अत्तिरिका और अलिकास आदि।

आधुनिक समाज में जैसे अनेक, उत्तमोत्तम वस्त्रों का निर्माण होता है उसी प्रकार वैदिक काल में भी होता था।

▮ आभूषण–

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में आभूषण शब्द का उल्लेख तत्कालीन आभूषण प्रियता एवं आभूषण निर्माण का स्पष्ट संकेत करता है। वेद में प्रार्थना की गई है–

– **वायवा याहि दर्शतेमे सोमाअरंकृताः ।**
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ।। ऋग्. 1.2.1

इसमें अरंकृत शब्द अलंकृत का प्राचीन रूप है। एक और शब्द 'आभरः' प्राप्त होता है, जिससे आगे चलकर 'आभरण' शब्द बना है।

– **या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वां असुरेभ्यः ।**
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ।। ऋ. 8.97.1

ऋग्वेद में सुवर्णकार का नाम भले ही प्राप्त नहीं होता, किन्तु उसके कर्म का संकेत अवश्य प्राप्त होता है–

– **निष्कं वा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः ।**
त्रिते दुष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि ।।

दद्यस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ।। ऋग्. 8.47.15

अर्थात् हे आदित्य! स्वर्ग की पुत्री उषामें, स्वर्णकार अथवा माला बनाने वाले में जो दु:स्वप्न है अर्थात् चौर कर्म है वह हमसे दूर रहे।

वस्त्रों के समान विविध प्रकार के आभूषणों से स्वयं को अलंकृत करना महिलाओं के समान पुरुषों की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। वैदिक काल में स्त्री और पुरुष दोनों आभूषणों से प्रेम रखते थे।

निष्क – वेद में निष्क शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है।[1] यह कोई स्वर्णमुद्रा नहीं है। जिसका उपयोग वस्तु के क्रय-विक्रय के अवसर पर रुपयों की तरह किया जाता रहा है अपितु। यह निष्क शरीर के आभूषण रूप में प्रयुक्त हुआ है, इसमें संदेह नहीं है। निष्कग्रीवा शब्द निश्चित रूप से कण्ठ में धारण करने वाले किसी आभूषण के होने की अभिव्यक्ति करता है। इस आभूषण का वर्णन इस प्रकार किया गया है– ''जिस राष्ट्र में अज्ञान से भी ब्राह्मण पत्नि प्रतिबन्धित की जाती है उस राष्ट्र का वीर सुवर्णालंकार गले में धारण करके लड़कियों के सम्मुख नहीं जाता।''[2] यह निष्क गोल अथवा चौकोन होगा जिसे धागे में पिरोकर माला के रूप में गले में पहिना जाता होगा।

रुक्म – एक अन्य आभूषण 'रुक्म' का वर्णन वेद में किया गया है,[3] जो ग्रीवा में धारण किया जाता था तथा वक्षस्थल तक लटक कर छाती की शोभा बढ़ाता था। शरीर की सुन्दरता बढ़ाने के लिए भांति-भांति के आभूषणों द्वारा वे मरुत् अपनी सुषमा बढ़ाते तथा हृदयों पर शोभा के लिए स्वर्णनिर्मित हारों को धारण करते हैं।[4] शतपथ ब्राह्मण में 'रुक्म' नामक आभूषण को डोरे में डाला हुआ होने का वर्णन किया गया है।[5]

मणि – ऋग्वेद में मणि शब्द प्राप्त होता है। इसका आधुनिक अर्थ है छेदा हुआ रत्न जो डोरा डालकर पहिना जा सके। निम्न मन्त्र में अन्य आभूषणों के साथ ग्रीवा में धारण करने हेतु मणि की प्रार्थना की गयी है–

– हिरण्यकर्ण मणिग्रीवर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः । ऋग्. 1.122.14

अर्थात् हे विश्वदेव! हमें हिरण्य का कर्ण का आभूषण तथा ग्रीवा के हेतु मणि की माला तथा रूपवान् पुत्र प्रदान करो।

वेदों में हिरण्यमणि, संजयमणि, देवमणि, दर्भमणि, औटुम्बरमणि, जंगिडमणि, वर्णमणि आदि का वर्णन है।

मोती – रत्नों में मोती का नाम ऋग्वेद में 'कृशन्' प्राप्त होता है। जो मनुष्य को आकर्षित करे उसे ही कृशन् कहा जाता है–

– अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् । ऋग्. 1.35.4

मणि और मोतियों से निर्मित आभूषणों का प्रयोग वैदिक काल में होता था। मणियों

---

1. ऋ. 2.33.10, 8.47.15, 5.19.3, 7.56.11

2. नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।
यस्मिन्राष्ट्रे निरूध्यते ब्रह्मजाया अचित्या । अथर्व. 5.17.14

3. ऋ. 1.64.4, 166.10, 2.34.2, 4.10.5

4. चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रूक्माँ अधि येतिरे शुभे । ऋ. 1.64.4

5. रूक्मपाशः । शत. ब्रा. 6.7.1.7

को सूत्र में पिरोकर माला बनाई जाती थी। ऐसे मन्त्र भी हैं जिनसे रत्नों के जड़ें जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। स्त्रियों और पुरुषों के आभूषणों के समान वेद में अश्व आदि को भी आभूषणों से अलंकृत करने का वर्णन उपलब्ध होता है।

सिर, कान, ग्रीवा, हस्त, कटि आदि विभिन्न अंगों के लिए अलग-अलग प्रकार के आभूषण हुआ करते थे।

खादि - वेद में खादि नामक आभूषण का वर्णन भी है - 'ये मरुत बड़े-बड़े आभूषण धारण करने वाले नेतृत्व गुण से युक्त हैं।'[1] पैरों में धारण किये हुए आभूषण के लिए 'पत्सु खादयो' शब्द का व्यवहार किया गया है।[2] इससे पैरों में कड़े आदि की तरह धारण किये जाने वाले किसी आभूषण का 'खादि' शब्द से द्योतन होता है। इस आभूषण को कन्धे पर धारण करने का भी वर्णन है–

'हे मरुतो! तुम्हारे कंधों पर खादि नामक अलंकार हो।'[3]

प्रतिहस्त - जिस हाथ में आभूषण धारण किया हुआ होता है उसे हिरण्यपाणि कहकर सम्बोधित किया जाता था।[4] हाथ में धारण किये जाने वाले आभूषण को 'परिहस्त' कहते थे।[5]

कंकण - जैसे आजकल स्वर्ण कंकण धारण किया जाता है, यह उसी प्रकार का एक गोलचूड़ी की तरह का कड़ा रहा होगा। इस आभूषण को स्त्रियां धारण करतीं थीं तथा इससे गर्भाशय और पुत्रोत्पत्ति का भी कोई सम्बन्ध माना जाता था, क्योंकि इस कंकण को लक्ष्य करके कहा है– 'हे कंकण! गर्भ धारण के लिए योनि धारण कर।'[6]

स्रज–मोतियों के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि मोतियों की माला पहनी जाती थी।[7]

– स्रज (माला) का भी आभूषण के रूप में उल्लेख है।[8]

कर्णशोभन - कान के लिए जो सुवर्ण आभूषण थे उन्हें 'कर्णशोभन' कहते थे।[9]

कुरीर, ओपश - ऋग्वेद में स्त्रियों के मस्तक के आभूषणों में कुरीर तथा 'ओपश' का उल्लेख प्राप्त होता है, यथा–

स्तोमा आसतप्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ।। ऋग्. 10.85.8

उषा के तुल्य अनुरागवाली नव वधू जब अपने पति के साथ जाने को हो तो उसको उत्तम-उत्तम उपदेश दिये जाएँ तथा उसे कुरीर तथा ओपश नाम के आभूषणों से सजाया जाये।

मोनियर विलियम्स ने कुरीर को एक प्रकार का स्त्रियों का मुकुट कहा है।[10] ओपश

---

1. ऋ. 1.64.10, 1.87.8

2. ऋ. 1.166.9, 5.54.11

3. अंसेष्वा मरुतः खादयो वः । ऋ. 6.56.13

4. हिरण्यपाणिं सवितारम् । अथर्व. 3.21.8

5. अथर्व. 6.81.1-2-3

6. परिहस्त विधारय योनिं गर्भाय धातवे । अथर्व. 6.81.2

7. ऋग्. 10.68.1,

8. ऋग्. 4.38.6, 5.53.4, 8.47.15

9. ऋग्. 8.78.3

10. मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ. 239

संभवत: मस्तक के चारों ओर लपेट कर पहिना जाता था। मोनियर विलियम्स ने इसे सिर का आभूषण कहा है।[1]

अंगूठी (आनूक) - ऋग्वेद काल में आर्य अंगूठी पहिनते थे, इसके लिए हिरण्यपाणि शब्द का प्रयोग मिलता है। अंगूठी के लिए एक विशेष शब्द **'आनूक'** प्राप्त होता है–

उतत्ये मा मारुताश्वस्य शोणा: कृत्वामघासौ विदथस्यरातौ ।
सहस्रा मे च्यवतानो ददान आनूक मर्या वपुषे नार्चत् ।।

ऋग्. 5.33.9

कटि के आभूषण– कटि पर न्योचनी, वरुणपाश तथा हिरण्यवर्तनी धारण की जाती थी। **न्योचनी** का अर्थ मोनियर विलियम्स ने करधनी किया है।[2] इस शब्द के विवाह के मन्त्रों में प्राप्त होने से करधनी अर्थ की पुष्टि होती है।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ।। ऋग्. 10.85.6

एक मन्त्र में रुद्रा को हिरण्यवर्तनी कहा है, जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि यह शब्द हिरण्य की करधनी हेतु प्रयुक्त होता था–

आ नो रत्नानि बिभ्रताश्विना गच्छतं युवम् ।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम श्रुतं हवम् ।।

ऋग्. 5.75.3

करधनी के अर्थ में **'रास्ना'** शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[3]

इनके अतिरिक्त बहुत से आभूषणों का वर्णन किया गया है। हिरण्यपाणि, हिरण्यवसा, हिरण्यदंत, हिरण्यशृंग, हिरण्यवाशी आदि शब्द स्वर्णाभूषणों की लोकप्रियता के द्योतक हैं।

यजुर्वेद में 'मणिकार' तथा 'हिरण्यकार' का उल्लेख है, जिनका काम नाना प्रकार के आभूषण बनाने का था।[4]

रजत (चांदी) से भी अनेक प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे। इस प्रकार सुवर्ण, रजत, मणि, रत्न, मोती आदि विविध धातुओं से निर्मित आभूषणों की प्रचुर मात्रा में विद्यमानता सिद्ध करती है कि वैदिक युग में यह एक विशाल उद्योग अथवा शिल्पकला का रूप धारण कर चुका था।

▪ धातु उद्योग–

वैदिक युग के आर्थिक विकास में धातु उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। परम्परा से अब तक विभिन्न शास्त्रकारों तथा अर्थवेत्ताओं ने इस धरती को 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' के नाम से पुकारा है। उन्हें भलीभांति ज्ञात था कि इस पृथिवी के गर्भ में सम्पत्ति का अपरिमित भंडार है। 'शांखायन आरण्यक' में सम्पत्ति से परिपूर्ण होने के कारण उसको 'वसुमती' कहा

---

1. मोनियर विलियम्स वही, पृ. 189

2. मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ. 573

3. यजु 1.30

4. यजु. 30.7

गया है।[1] यही कारण है कि ऋग्वेद (10.151.4) के एक मन्त्र में वैदिक कवि रत्नगर्भा वसुन्धरा से विविध मणि, सुवर्ण, धनसम्पत्ति और विपुल वैभव की याचना करता है।

वस्तुतः जब से मनुष्य का धातुओं से सम्पर्क हुआ तभी से उसका आर्थिक विकास प्रारम्भ हुआ।

वैदिक युग में जिन धातुओं के अस्तित्व का पता चलता है उसमें सोना, चांदी, तांबा, लोहा और मणि-मुक्ता आदि का अधिक उल्लेख हुआ है। इन धातुओं का अनेक रूपों में उपयोग किया जाता था। इनसे मुख्यतः आभूषण और युद्ध के अस्त्रशस्त्रों का निर्माण होता था। स्वर्ण की अपेक्षा तब रौप्य (चांदी) का अधिक प्रचलन था। आभूषणों और अन्य कार्यो के लिए उसी को अधिकतर उपयोग में लाया जाता था। चांदी के लिए तैत्तिरीय संहिता तथा काठक संहिता आदि में 'रजत' शब्द का प्रयोग हुआ है। आगे-आगे ज्यों-ज्यों धातुओं का अधिकाधिक पता लगा और उनके उपयोग की विधियों का विकास होता गया त्यों-त्यों मनुष्य की आर्थिक प्रगति के साथ-साथ राज्य-विस्तार की आकांक्षा भी प्रबल होती गई।

वेदों में अनेक स्थानों पर 'अयस्' शब्द आया है।[2] संस्कृत में इसका अर्थ लोहा है। पर इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतवैभिन्नय है। वेद-मन्त्रों में 'अयस्' का रंग लाल होने के संकेत मिलते हैं। अतः अनेक विद्वान् उसे तांबे का पर्यायवाची मानते हैं। अयस् से चाहे लोहा अभिप्रेत हो अथवा तांबा, इस धातु का विपुल परिमाण में प्रयोग प्रारम्भ हो गया था, यह सर्वथा सत्य है। ऋग्वेद (1.88.5, 10.87.2) में अग्नि को 'अयोदंष्ट्र' (अयस् के दांतों वाला) कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण (5.4.1.2) में लोहायस् और अयस् में भिन्नता बतायी गई है। लुहार के लिए ऋग्वेद में 'कर्मार' शब्द आता है। एक मन्त्र में बृहस्पति की उपमा कर्मार से दी गई है, जो धौंकनी से आग को प्रदीप्त करता है।[3] कर्मार द्वारा तैयार वस्तुओं की बहुत अच्छी कीमत प्राप्त होती थी। इसीलिए एक मन्त्र में कहा गया है कि कर्मार सुवर्ण की इच्छा करता है।[4] अथर्ववेद में कर्मारों की गणना रथकारों के साथ की गई है, और राजा के मुख से यह प्रार्थना करायी गई है कि ये धीवान्, रथकार और मनीषी कर्मार तथा मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें।[5]

यजुर्वेद में जहाँ अनेक धातुओं का परिगणन किया गया है, वहाँ हिरण्य, त्रपु ओर सीसे के साथ 'अयस्' और 'लोह' पृथक् से परिगणित है।[6] 'अयस्' सदृश धातुओं से विविध उपकरण बनानें के लिए इन्हें आग में तपाया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि यदि अयस् को बहुत तपाया जाय, तो वह सोने के रंग का हो जाता है।[7] धातु द्वारा कौन-सी वस्तुएँ बनायी जाती थीं, इस विषय में वैदिक साहित्य में बहुत जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

---

1. *शांखायन आरण्यक 13.1*
2. *ऋग्. 4.2.7, 6.3.5*
3. *बृहस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् । ऋग्. 10.72.2*
4. *ऋग्. 9.112.2*
5. *ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः । अथर्व. 3.5.6*
6. *हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यजु. 18.13*
7. *तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्यसंकाशमिवैव भवति । शतपथ ब्रा. 6.1.3.5*

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'आयसी:पुर:' (अयस्क द्वारा निर्मित नगर) का उल्लेख है और इसी मन्त्र में वर्म (कवच) और वज्र भी आये हैं।[1] संभवत: इन तीनों के निर्माण में अयस् का प्रयोग होता था।

अयस्, लोह, त्रपु और सीसे जैसी धातुओं का उपयोग विविध प्रकार के पात्रों को बनाने के लिए भी किया जाता था। यजुर्वेद में कुम्भी, सुराधानी (जिस पात्र में सुरा रखी जाए) और स्थाली (थाली) सदृश पात्रों का उल्लेख है।[2] जिन्हें धातुओं द्वारा ही बनाया जाता होगा। रथ सदृश वाहनों के निर्माण मे भी धातुएँ प्रयुक्त होती थीं, यह कल्पना असंगत नहीं है। इन धातुओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में सुवर्ण या हिरण्य का अनेक स्थानों पर वर्णन है। सिन्धु नदी को 'हिरण्ययी' कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा धन प्राप्ति होती थी।[3] ऋग्वेद की एक ऋचा में उल्लेख है कि रुद्र के गले में सोने के निष्कों का घर शोभायमान है।[4] उस हार में विविध आकृतियों की स्वर्ण-मुद्राएँ गुंथी हुई हैं। एक अन्य ऋचा (ऋ. 1.126.2) में कहा गया है कि राजा भाव्यय ने कक्षीवान् ऋषि को सौ निष्क दान में दिये थे। पृषधु ऋषि को अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त सौ मालाएँ दान में प्राप्त हुई थी।[5] अरुण नामक राजा ने अत्रि ऋषि को दस हजार स्वर्णमुद्राएँ (निष्क) दान की थी।[6] इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्य मन्त्र में विभिन्दु राजा द्वारा चालीस हजार निष्क और आठ हजार निष्क का दान दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[7]

इस प्रकार वैदिक युग की आर्थिक प्रगति में धातुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और उनके द्वारा तत्कालीन जन-जीवन की उन्नति के अनेक नये क्षेत्र खुले।

■ बढ़ई का शिल्प (उद्योग)–

कर्मार और सुवर्णकार के समान 'तक्षा' (बढ़ई) भी वैदिक युग में एक महत्त्वपूर्ण शिल्पी होता था। उसका कार्य लकड़ी से विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाना था। तक्षा को त्वष्ट्रा भी कहते थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि त्वष्ट्र 'स्वधिति' (वसूला) द्वारा 'सुकृत रूप' प्रदान किया करता है।[8] बढ़ई के लिए तक्षा शब्द वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में कुलालों, कर्मारों और निषादों आदि के साथ तक्षों और रथकारों को भी नमस्कार किया गया है।[9] तक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रथ और अन्य वाहन बनाना था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में रथ तथा अनस का उल्लेख है।[10] अनस

---

1. ऋग्. 10.101.8
2. कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालेभि स्थलीराप्नोति । यजु. 19.27
3. ऋग्वेद 10.75.8
4. ऋग्वेद 2.33.10
5. ऋग्वेद 8.51.3
6. ऋग्वेद 5.27.1
7. ऋग्वेद 8.2.41
8. अथर्ववेद 12.3.33
9. यजुर्वेद 16.27
10. खे रथस्य खेऽनस: खे युगस्य शतक्रतो । ऋ. 8.91.7

साधारण गाड़ी को कहा जाता था, संभवतः यह एक ऐसी गाड़ी थी जो कच्चे-पक्के रास्तों पर आ-जा सकती थी। शतपथब्राह्मण में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हुए 'अनस' के प्रयोग का भी विधान किया गया है।[1] अनस् की तुलना में रथ अधिक परिष्कृत वाहन होता था। उसके निर्माण के लिए उन्नत शिल्प आवश्यक था। इसीलिए तक्षाओं का एक पृथक् वर्ग बन गया था, जिसे रथकार कहते थे। रथकार लोग रथों को अत्यन्त सुन्दर रूप में बनाया करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में रथ के लिए हिरण्यवर्णा (सुनहरी) विशेषण का प्रयोग किया गया है।[2] रथ और अनस के अतिरिक्त अनेक प्रकार की आसन्दियाँ (कुर्सियाँ या चौकियाँ) तथा उठने-बैठने के अन्य उपकरण भी बढ़ई बनाया करते थे। अथर्ववेद और यजुर्वेद में आसन्दियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है।[3] तक्षन् का कार्य सभी प्रकार की लकड़ी की वस्तुएँ बनाना था। वे लकड़ी पर महीन नक्काशी भी करते थे।

▪ चर्म उद्योग–

वैदिक युग में जिन उद्योग-व्यवसायों के अस्तित्व का बोध होता है, उनमें चर्म उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतीत होता है। वैदिक सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि उस समय चर्म उद्योग अपने चरमोत्कर्ष पर था। ऐतरेय ब्राह्मण में चर्मकारिता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[4] चर्म से दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुएँ बनने लगी थीं। ऋग्वेद के मन्त्रों से ज्ञात होता है कि रथ के आस्तरण, आवरण तथा घोड़े की लगाम बनाने के लिए चमड़े का उपयोग किया जाता था।[5] धनुष् की प्रत्यंञ्चा और लटकाने के फन्दे आदि भी चर्म से बनाये जाते थे। चर्म के थैलों का भी तब प्रचलन हो चुका था।

वैदिक युग में विभिन्न चर्म-वस्तुओं का ही नहीं, अपितु चर्म को कमाने (तैयार करने की विधि) का भी परिज्ञान था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में चमड़े को सिझाने (चर्मम्न) का और तदनन्तर उसे खूटियों पर लटकाने का स्पष्ट उल्लेख है।[6]

चर्म की अनेक श्रेणियाँ निर्धारित हो चुकी थी। अथर्ववेद (5.21.7) तथा शतपथ ब्राह्मण (5.2.1.12, 14) में मृग और बकरे के अलग-अलग चर्म और उनके उपयोग का उल्लेख हुआ है। अरण्यवासी मुनिजन मृगचर्म के परिधान धारण करते थे।[7] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी चर्म परिधान (अजिनवासस्) धारण करने का उल्लेख हुआ है।[8] तैत्तिरीय संहिता में 'उपानह' शब्द का प्रयोग चप्पल या जूते के लिए हुआ था।[9] जोकि

---

1. *शतपथ 1.1.2.5*
2. *उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथासूनृता ईरयन्ती । आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।* *ऋग्. 3.61.2*
3. *यजु. 19.16, अथर्व. 15.3.2*
4. *ऐतरेय ब्रा. 5.32*
5. *ऋग्. 6.47.26, 10.1.2.2*
6. *ऋग्. 8.56.3*
7. *ऋग्. 10.136.2*
8. *शतपथ ब्रा. 3.9.1.12*
9. *तैत्तिरीय संहिता 5.4.4.4*

चमड़े के ही होते थे, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख हुआ है कि वराह के चर्म से उपानह बनाये जाते थे।[1]

चर्म उद्योग की इस प्राप्ति को जानकर स्वभावत: उसके देशव्यापी प्रचलन का आभास होता है। व्यापारिक क्षेत्र में भी उसको लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी, क्योंकि वाजसनेयी संहिता (30.15) में चर्म व्यापार व्यापक रूप में प्रचलित हो गया था।

▪ चटाई उद्योग–

वैदिक युग में गृह-उद्योगों का बहुत प्रचलन था। वस्त्र, चर्म, काष्ठ उद्योग के अतिरिक्त चटाई बुनना आदि छोटे-छोटे शिल्पों का भी प्रचार प्रसार था। अथर्ववेद (6.13.8) में 'कशिप्र' शब्द का प्रयोग चटाई बिनने या गद्दे बनाने के अर्थ में हुआ है, जिसको स्त्रियाँ नड (करकट) के द्वारा बनाती थीं। इस कार्य के लिए नरकट को पहले पत्थरों से कूटपीटकर महीन बना दिया जाता था। चटाई (कट) बनाने के लिए वेतस् (बेंत) का भी उपयोग होता था। वेतस् से चटाई बनाने वाले दस्तकार को 'वाजसनेयि संहिता' (30.8) 'विदलकारी' और तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.4.51) में 'विदलकार' कहा गया है। चटाई बनाने के लिए वैतस् को कैसे चीरना-फाड़ना चाहिए अथर्ववेद में इसका भी उल्लेख हुआ है।[2]

▪ भोजन एवं यज्ञादि के पात्र–

लोहे, तांबे आदि धातुओं से निर्मित पात्रों का वर्णन वैदिक संहिताओं में मिलता है। वेद का प्रसिद्ध शिल्पी 'त्वष्टा' अन्य वस्तुओं के निर्माण के साथ पात्र (बर्तन) का निर्माण भी करता है। त्वष्टा द्वारा पात्र निर्माण के सम्बन्ध में कहा है– 'त्वष्टा देवताओं के लिए सुन्दर पात्रों का निर्माण करते हैं।'[3] 'अयस्ताप' शब्द लोहार का वाचक है। 'अय:' का अभिप्राय लोहा है, इस लोहे को तपाकर पात्र आदि विभिन्न वस्तुओं के निर्माणकर्ता को लोहार (अयस्ताप:) कहा है। 'कुम्भ'[4] तथा 'कलश' का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर आया है। 'कुम्भ' कच्चे घट का वाचक है, जिसे कुम्हार बनाता है। 'कलश' प्राय: स्वर्ण निर्मित ही बताये गये हैं जिनका निर्माण स्वर्णकार ही करता रहा होगा।[5] स्वर्णभिन्न लोह आदि विशिष्ट धातु से निर्मित कुम्भ का वर्णन भी है।[6] कुम्भी शब्द घट सदृश पात्र विशिष्ट का बोधक है।[7] कुएँ से जल भरने के लिए जिस पात्र का उपयोग किया जाता था, उसे कोश कहा गया है– 'जिस प्रकार कुएँ से जल भरे बर्तन को निकालते हैं।'[8]

1. *शतपथ ब्रा. 5.4.3.19*
2. *अथर्ववेद 6.138.5*
3. *त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शन्तमा । ऋ. 10.53.9*
4. *शतं कुम्भां असिञ्चतं सुराया: । ऋ. 1.116.7, 1.117.7*
5. *हिरणस्येव कलशं . . . . .। ऋ. 1.117.12, 4.32.19*
6. *आपूर्णो यस्य कलश: स्वाहा । ऋ. 6.32.15*
7. *यजु. 19.27*
8. *अवसे न कोशम् । ऋ. 4.17.16*

द्रोण नामक पात्र भी कलश अथवा बाल्टी के आकार का जान पड़ता है। सोम के सुरक्षित रखने के लिए कलश का उपयोग किया जाता है और द्रोण (पात्र) का वर्णन भी इस उपयोग में होते हुए चित्रित किया गया है - 'सोम, द्रोण नामक पात्रों की ओर गमन करते हैं।'[1] खारी नामक पात्र संभवत: आजकल के लोह अथवा पीतल आदि के ड्रम सदृश पात्र का बोधक जान पड़ता है। पं. सातवलेकर जी ने अपने वेद भाष्य में 'खारी' पात्र के सम्बन्ध में लिखा है– 'प्राचीन काल का एक माप जिसमें 16 द्रोण होते हैं, एक द्रोण लगभग एक बाल्टी।'[2]

पात्र निर्माण के समय आकार-प्रकार का ध्यान रखकर बनाने का वर्णन है– 'एक पात्र को ऋभुओं ने तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र से क्षेत्र के समान नापा और बना दिया।'[3] इससे पात्र निर्माण की सूक्ष्मता एवं कुशलता की कला का पता चलता है। एक मन्त्र में पकाने, परोसने आदि के पात्रों का वर्णन किया गया है– 'फलों (सब्जियों) के गूदे को पकाने वाले पात्र को, रस परोसे जाने वाले पात्र को, भांप रोकने वाले ढक्कन को भूषित करते हैं।'[4] अग्नि पर रखे हुए 'पकाते हुए' पात्र का वर्णन भी किया गया है– 'इन्द्र तूने अपने तेज से आग पर चढ़े बर्तन के समान असुर को जला दिया।'[5] मन्त्र से इस पात्र को अग्नि पर रखता हूँ उसमें तू जल डाल और इसको वहीं स्थापित कर।[6] 'उखा' नामक पात्र, पकाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। आजकल प्रयुक्त होने वाली पतीली, बटलोही या भगोने के आकार का पात्र 'उखा' को माना जा सकता है– 'सुगन्ध से भरी हुई तपती हुई पतीली (उखा) भयभीत न करे।'[7] 'चूने वाली पतीली के समान हिंसक शत्रु अपने मुख से फेन गिराता है।'[8] 'असंद्री' नामक पात्र भी 'उखा' के समान पकाने के कार्य में प्रयोग किया जाता है– 'हे नारी शुद्ध बटलोही को अग्नि के ऊपर रख और वहाँ देवों का अन्न तैयार कर।'[9] घर-घर में प्रयुक्त की जाने वाली थाली (स्थाली) का वर्णन भी वेद में मिलता है– 'थाली में पाक विलीन हो जाता है अर्थात् भली प्रकार फैल जाता है।'[10] चमचा अथवा चमस का वर्णन भी है– 'हे चमस! पूर्ण भरी हुई दूर जा और उत्तम पूर्ण होकर पुन: पास आ।'[11] यहाँ चमस के लिए 'दर्वी' शब्द का प्रयोग है। चमस शब्द काप्रयोग भी उपलब्ध होता है।

यजुर्वेद में यज्ञ के प्रसंग विविध में प्रकार के स्रुक, वायव्य, चमस, द्रोण, कलश,

---

1. अभ्रिदोणानि धावति । ऋ. 9.28.4, 9.30.4

2. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर - अथर्ववेद सुबोध भाष्य, द्वितीय भाग

3. क्षैत्रमिव विममुसतेजनेन एकं पात्रं ऋभवो जिह्मानम् । ऋ. 1.110.5

4. यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि पूष्ण आसेचनानि ।
ऊष्मण्यापिधाना चरुणामङ्का: सूना: परिभूषन्त्यश्वम् । ऋ. 1.162.13

5. ओष: पात्रं न शोचिषा । ऋ. 1.175.3

6. ऋचा कुम्भी मध्यग्नौ । ऋ. 9.5.5

7. मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रि: । ऋ. 1.162.15

8. उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति । ऋ. 3.53.22

9. अंसद्रीं शुद्धामुपधेहि नारि तत्रौदनं सादय देवानाम् । अथर्व. 11.1.23

10. स्थालीपाको विलीयते । अथर्व. 20.134.3, स्थाली - यजु. 19.27.86

11. पूर्णा दर्वे परापत सुपूर्णा पुनरापत । अथर्व. 3.10.7

ग्रावण, अधिषवन, पूतभृत् तथा आहवनीय आदि पात्रों का वर्णन है।[1] हविर्धान, प्रोक्षणी, जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, ग्रन्थ-पात्र, सुराधानी, कारोतर तथा हविःपात्र, आज्यपात्र, दोहन-पात्र, दूध-दही के पात्र, पुरोडाश पाक आदि के पात्रों का यजुर्वेद में वर्णन किया गया है। वेद-मनीषी श्री सातवलेकर ने एक स्थान पर वेद के कंस (चमकदार पात्र) आहव, (पानी भरने का बकेट) (उकहा) चावल आदि पकाने का पात्र (पेशिल) रोटी खाने का पात्र, (पाननेजन) हाथ पांव धोने का बर्तन (मणिक) प्रवास में साथ पानी रखने के लिए पानी की बोतल, (परिधान) चरु पात्र के ऊपर का ढक्कन (अंक) चरु को दोनों ओर से पकड़ने वाले हुक का उल्लेख किया है।[2]

कच्चे अर्थात् मिट्टी के बर्तन को 'आमपात्र' कहा गया है।[3] पक्के बर्तनों का निर्माण लौह आदि धातुओं से होता है। लोह, चांदी तथा स्वर्ण आदि धातुओं के पात्रों का वर्णन इस प्रकार किया गया है– 'लोहे का पात्र था।'[4] चांदी का पात्र था।[5]

इस प्रकार बर्तन उद्योग वैदिक काल में अपनी प्रौढ़ावस्था को प्राप्त था इसमें कोई सन्देह नहीं है।

विभिन्न जलयान तथा वायुयान–

वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार के रथों और यानों का वर्णन है। ऋभु (शिल्पी) इनका निर्माण करते थे। जल में चलने वाली नौकाका वाचक 'नौ' शब्द वेदों में विभिन्न स्थलों पर आया है। ऋग्वेद के प्रारम्भ में ही समुद्र और अन्तरिक्ष के मार्ग की जानकारी इन शब्दों में दी गई है– 'अन्तरिक्ष में उड़ने वाले पक्षियों का मार्ग जो जानते हैं तथा जो समुद्र में संचरण करने वाली नौकाओं का मार्ग भी जानते हैं।[6]

समुद्र अथवा नदी, नद आदि स्थानों में नाव द्वारा पार होते हैं, इस ज्ञान से वैदिक समाज पूर्ण परिचित रहा है। एक मन्त्र में स्वर्ण मण्डित नौका का वर्णन इस प्रकार है– 'सोने की बनी और सुवर्ण बन्धनों से बंधी नौका द्युलोक में चलती है।'[7] ऋग्वेद में सौ बल्लियों वाली नौका का उल्लेख है।[8] एक स्थान पर नाव के विषय में जो वर्णन उपलब्ध होता है उससे आजकल की स्टीमर आदि स्वचालित नाव से तुलना की जा सकती है– 'इस निजी शक्ति से युक्त अर्थात् स्वचालित पंछी के तुल्य उड़ने वाली नौका को तुम दोनों (अश्वि देवों) ने समुद्र में सुखपूर्वक गमन के लिए बनाया है।'[9] वेद में ऐसी अद्भुत नौका का वर्णन भी है, जो जल और अन्तरिक्ष में गमन करती है– 'हे पूषन्! जो तेरी नावें समुद्र

---

1. यजु. 18.21

2. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,-सभ्यता के एक अंश का निरीक्षण

3. अथर्व. 4.17.4

4. आसीदयस्पात्रं पात्रम् । अथर्व. 8.10.22

5. आसीद् रजतपात्रं पात्रम् । अथर्व. 8.10.25

6. वेदा यो वीनां . . . . वेद नावः समुद्रियः । ऋ. 1.25.7

7. हिरण्मयी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । अथर्व. 5.4.4

8. शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् । ऋ. 1.116.5

9. युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणम् । ऋ. 1.182.5

के गर्भ में चलती हैं और अन्तरिक्ष में भचलती हैं।'[1] निज शक्तियों से युक्त अन्तरिक्ष में जाने वाली नौकाओं से तुम दोनों (अश्विदेव) उसे ढोकर आगे ले चलो।'[2]

इन मन्त्रों में स्पष्ट रूप से नौका के समुद्र में और आकाश में गमन करने का कथन है। समुद्र के गर्भ में चलने वाली नौका आज भी 'पनडुब्बी' के नाम से विख्यात है। मन्त्र में 'हिरण्मयी' शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि पनडुब्बी सदृश जो नौका चलती थी उसमें जल में भी प्रकाश रहता होगा जिससे जल के भीतर भी देखा जा सकता होगा। इस नौका की विशेषता यह थी कि यह समुद्र के अन्दर तथा अन्तरिक्ष दोनों स्थानों पर गमन करती थी। वर्तमान समय में ऐसा कोई यान सुनने में नहीं आया है जो इस प्रकार जल एवं आकाश दोनों में गमन करता हो।

इस प्रकार जलयान का विकसित रूप वेदों में चित्रित है। आजकल का 'नेवी' शब्द 'नौ' का ही परिवर्तित रूप मानना चाहिए।

आकाश में गति करने वाले यान का पृथक् निर्देश भी वेद में विद्यमान है– 'आकाश में वेग से उड़ने वाले, शीघ्र गति से जाने वाले, देवों की गति से संचालित होने वाले यानों से शीघ्र गति द्वारा गमन करने वाले तुम दोनों (अश्विद्वय) हो।[3]

इस मन्त्र में 'रासभ' शब्द आया है। 'रासभ' सामान्य अर्थ में गधे का वाचक है। ऋषि दयानन्द ने जल और अग्नि के संयोग से उत्पन्न वाष्प रूप बल को रासभ माना है।[4] यही रासभ, यान का वहन करता है। वेद में ऐसे स्पष्ट संकेत हैं जिनसे आकाश में उड़ने वाले यान विशेष की स्थिति का पता चलता है– 'मैं विस्तृत महान् सुख के स्थान अन्तरिक्ष को प्राप्त होऊं।'[5] 'द्युलोक में जा और अन्तरिक्ष लोक में उतर।'[6] तथा ऋग्वेद का 'वेदा यो वीनां . . . . . अन्तरिक्षेण पतताम्' मन्त्र का वर्णन आकाश में उड़ने वाले यान की ओर स्पष्ट संकेत करता है। एक मन्त्र में कहा है 'मैं जल अथवा तरल पैट्रोल आदि तैलीय पदार्थ से अग्नि को सुन्दर पंख वाले विशाल दिव्य यान में प्रयुक्त करता हूँ, उस यान के द्वारा हम सब अन्तरिक्ष के विष्टप लोक को जावें और पुनः उस विष्टप (उन्नत) लोक से भी ऊपर सुख विशेष के उत्तम लोक को प्राप्त हो।'[7] मन्त्र में घृत शब्द आया है, जो जल अथवा घृत भिन्न किसी तरलीय पदार्थ का द्योतक है – घृत का अर्थ यास्क ने जल किया है।[8] आज भी यान जलाग्नि संयोग से चलते हैं। यजुर्वेद में कहा है – 'वर्षा करने वाले सूर्य की और बसाने वाले वायु की विद्या जानने वाले हे वैज्ञानिको, तुम इस यान से अग्नि बल को धारण किये हुए तथा हमारे हितकारी जलाग्नि संयोग से उत्पन्न वाष्परूप जल को

---

1. *यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति । ऋ. 6.58.3*
2. *तमूहयुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरयोपदाकभिः । ऋ. 1.116.3*
3. *वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना । तद्रासभो नासत्या । ऋ. 1.116.2*
4. *यजु. 11.13 मन्त्र की व्याख्या*
5. *उर्वन्तरिक्षमन्वेमि । यजु. 1.7*
6. *दिवं गच्छ स्वः पत । यजु. 12.4*
7. *अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णो वयसा बृहन्तम् ।*
   तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् । यजु. 18.51
8. *घृतमित्युदकनाम । निरुक्त*

उत्पन्न करो।[1]

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य से पूर्व मन्त्रों के इस प्रकार के विज्ञान एवं शिल्प परक अर्थ भले ही अटपटे से लगते हों किन्तु महर्षि ने अपनी ऋषि-बुद्धि से और शास्त्र-सम्मत व्युत्पत्ति एवं उदाहरणादि से यह नवोन्मेष किया है, जो सर्वथा प्रामाणिक है। वेद में वर्णित 'ब्रह्मा' 'सावित्री' तथा 'अग्नि' 'कर्म' आदि शब्दों के वैज्ञानिक स्वरूप का विवेचन पं. सातवलेकर कृत 'वेदों में लोहे के कारखाने' नामक पुस्तक में विस्तार से प्राप्त होता है। वहाँ ब्रह्मा का अर्थ करते हुए लिखा है 'प्राचीन तत्व ज्ञानियों ने और वैज्ञानिकों ने ही जिन क्रिया शक्तियों का साक्षात्कार किया, अनुभव लिया अथवा प्रयोग विज्ञान प्राप्त किया उस ज्ञान विज्ञान का नाम ब्रह्म है, यह जिसके पास होता है उसका नाम ब्रह्मा है। 'सावित्री' का अर्थ क्रिया शक्ति किया है। वेद में 'इन्द्राग्नी' और 'अग्निमरुतौ' आदि शब्दों का पारिभाषिक अथवा विशिष्ट अर्थ भी है, यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। 'मित्रावरुण' के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मित्रावरुण नामक तेज, दो शक्तियों के संयोग से उत्पन्न होता है।'[2] वेद में प्रयुक्त 'उर्वशी' शब्द सुन्दर अप्सरा का वाचक न होकर एक प्रकार की थैली है जो विमान के ऊपर रखी जाती है, जिसमें वायु भरकर उसके लघुत्व से विमान को ऊपर हवा में अर्थात् गन्धर्व लोक में किंवा अन्तराल में चलाया जाता है। यह 'उर्वशी' अप्सरा इसलिए है क्योंकि यह अन्तरिक्ष में मेघमण्डल के (अप+सरा) जल के मध्य में चलती है। इस उर्वशी के साथ मित्रावरुण का सम्बन्ध होने से अर्थात् थैली में मित्रावरुण रूप विद्युत् तेज सक्रिय होने पर विमान गतिशील होता है।

उक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि वैदिक दृष्टि विमान के ज्ञान से अपरिचित नहीं रही है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जब ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के 'नौविमानादि विद्या' के प्रकरण में विमान की सिद्धि वेद की ऋचाओं द्वारा की थी तब तक वायुयान का आविष्कार आधुनिक वैज्ञानिकों ने नहीं किया था। श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने 'आविष्कार और आविष्कारक' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'आकाश में प्रथम यात्रा 17 दिसम्बर 1903 में हुई, यह दिन हमारे और आपके जीवन में कोई स्थान न रखता हो, किन्तु मानव की प्रगति के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस दिन 'विलर' और 'ओरविल राइट' बन्धु उत्तर कारोलीन के एक क्षेत्र में आज के संसार को आश्चर्यचकित करते हुए मशीन चालित वायुयान द्वारा पहली बार आकाश में उड़े थे। यह उड़ान 59 सेकण्ड की मात्र 812 फुट की दूरी वाली थी, पर यहीं से आकाश में उड़ने वाले विमान का श्रीगणेश हुआ था।

इस वर्णन का अभिप्राय यही है कि 1883 ई. में पार्थिव शरीर का परित्याग करने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मन्त्रों द्वारा विमान विद्या की सिद्धि आधुनिक आविष्कार से बहुत पूर्व कर दी थी। इसके अतिरिक्त अनेक भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं जिनसे पूर्व काल में विमान होने की पुष्टि होती है।

---

1. *युञ्जाथा रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू । अग्नि भरन्तमस्ययुम् । यजु. 11.13*
2. *संयोगाज्जायते तेजो मित्रावरुण संशितम् । अगस्त्य संहिता ।*

▮ विद्युत चालित यान (रथ)–

रथ शब्द का प्रयोग वेद-मन्त्रों में स्थान-स्थान पर किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया कि 'शिल्पियों ने अश्विनौ के लिए सब ओर चलने वाला और जिसमें सुखपूर्वक बैठ सकें ऐसा रथ बनाया है।"[1]

मन्त्र में आये हुए 'परिज्मानं' शब्द का भाव यह है कि वह रथ सर्वत्र, हरेक प्रकार की भूमि पर चल सकता है फिर भी उसमें बैठने वाले को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

'ज्ञान से कर्म करने वाले (विद्मनापसः) ये ऋभु सुन्दर-सुडौल (सुवृत्तं) रथ को बनाते हैं।'[2] हे ऋभुओं! जब सम्राट् का दूत अग्नि तुम्हारे पास आता है तुम उससे पूछते हो कि क्या रथ बनाना है?'[3]

यह रथ शब्द रमणार्थक 'रम्' धातु अथवा गत्यर्थक 'रंह' धातु से औणादिक कथन् प्रत्यय करके बनाया जाता है। दोनों धातुओं का समुदित अर्थ ध्यान में रखते हुए रथ का अर्थ वह यान होगा जिसमें रमणपूर्वक अर्थात् आनन्दपूर्वक गमन किया जाये। प्रायः जिस यान को घोड़े खींचकर ले जाते हैं उस बग्घी आदि यान को रथ कहते हैं। क्योंकि रथ में घोड़े जोड़ने का वर्णन बहुत आता है। परन्तु वेद में केवल घोड़ों से चलने वाले रथों का ही वर्णन नहीं है, अपितु वहाँ प्राकृतिक शक्तियों के आश्रय से चलने वाले, जिसमें किसी प्राणी को जोड़ने की आवश्यकता नहीं होगी, ऐसे रथों का भी वर्णन है। जैसे निम्न मन्त्रों में विद्युत् से चलने वाले रथों का वर्णन है–यह बलशाली सम्राट (अग्नि) विद्युत से चलने वाले रथवाला है।'[4] तथा 'ये दुधारी तलवारों वाले (ऋष्टिमन्तः) सैनिक (मरुतः) के बल से विद्युत् से चलने वाले रथों वाले (विद्युद्रथाः) हैं।'[5]

विद्युत् का अर्थ लोक और वेद दोनों में बिजली ही है, अतः विद्युत् से चलने वाले रथों की वैदिक काल में विद्यमानता पर सन्देह करने की आवश्यकता ही नहीं है। एक अन्य मन्त्र में भी विद्युत् से चलने वाले रथ का वर्णन किया गया है - 'हे सैनिको! तुम बिजली से चलने वाले और इसीलिए बहुत अच्छी तरह चलने वाले, दुधारी तलवारों से युक्त रथों के द्वारा आओ।'[6]

इस प्रकार वैदिक शिल्पी दोनों प्रकार के रथों का निर्माण करते थे। वेद के निम्न मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि ये कुशल इंजीनियर अन्तरिक्ष में उड़ने वाले विमान भी बनाते हैं– 'हे ऋभुओं! जिसमें घोड़े नहीं जोड़ने पड़ते और इसीलिए जिसमें लगामों की आवश्यकता नहीं पड़ती, जो रचना-कौशल के कारण प्रशंसनीय हैं, ऐसा रथ तुम्हारे द्वारा बनाया गया है, वह रथ तीन पहियों वाला है, और आकाश में चलता है, उस रथ द्वारा हे ऋभुओं ! जो

1. *तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् । ऋग्. 1.20.3*
2. *तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसः । ऋग्. 1.111.1*
3. *अग्नि दूतं प्रति यद्ब्रवीतन रथ उतेह कर्त्त्वः । ऋग्. 1.161.3*
4. *विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः । ऋग्. 3.14.1*
5. *विद्युद्रथाः मरुत ऋष्टिमन्तः । ऋग्. 3.54.13*
6. *आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैरथेभियति ऋष्टिमद्भिः । ऋग्. 1.88.1*

तुम आकाश का और पृथिवी का पोषण करते हो, वह तुम्हारे देवत्व का महान् प्रख्यापक है।"[1] 'जिन उत्तम ज्ञान-शक्तिवाले ऋभुओं ने अपने मन के ध्यान से, चिन्तन से रथ को सुन्दर-सुडौल और कुटिल गति से न चलने वाला बनाया है, हे बाज लोगों और हे ऋभु लोगों! उन तुम को इस सोम के पीने के लिए प्रार्थना करते हैं।'[2]

इस वर्णन में कुछ बातें विचारणीय हैं–

(अ) **अनश्वः** - इस रथ में घोड़े नहीं जोड़े जाते, अर्थात् यह रथ किसी प्राणी की शक्ति से नहीं चलता, अपितु विद्युत् शक्ति से चलता है।

(ब) **रजः परिवर्तते** - यह रथ आकाश में चलता है। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि रथ शब्द से आकाश में उड़ने वाले विमान नामक यान का वर्णन किया गया है।

(स) **उक्थ्यः सुवृतम्** - इसकी एक-एक वस्तु ऐसी सुन्दरता और बुद्धिमत्ता से बनाई जाती है कि उसे देखकर प्रशंसा करने को जी चाहता है अर्थात् उसकी बनावट में रचना की चतुरता भी है और मनोमोहक कला भी है।

इस प्रकार के अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनसे विद्युत् से चलाये जाने वाले रथों अर्थात् विमानों का ज्ञान होता है।

▪ छायाचित्र (फोटोग्राफी) –

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने वेदों में फोटोग्राफी होने का स्पष्ट संकेतं दिया है। उनके अनुसार ऋग्वेद के एक मन्त्र में छाया अर्थात् सूर्य के प्रकाश से चित्र बनाने का वर्णन है। आजकल प्रचलित यूरोपीय विज्ञान में जिस चित्रकला को फोटोग्राफी कहते हैं उसी का निर्देश इस मन्त्र में मिलता है। मन्त्र इस प्रकार है–

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं धायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा ।
महीमस्मभ्यमुरुषामुरूज्रयोबृहत् सुवीरमनपच्युत सहः ।।

ऋ. 5.44.6

इसमें '**यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते**' वाक्य का भाव यह है कि छाया द्वारा चित्र इतने अनुरूप उतरते हैं कि व्यक्ति जैसा था वैसा ही प्रतीत होता है। 'छायया अप्सु वा संदधि रे' का अर्थ यह होगा कि 'सूर्य की ज्योति द्वारा जलों में व्यक्ति अंकित करके रख लिये जाते हैं। जल का भाव यहाँ रासायनिक जल लेना होगा। विशेष रासायनिक घोलों को शीशे आदि पर पोतकर इन पर चित्रणीय व्यक्ति की छाया प्रकाश द्वारा ले ली जाती है। फिर इस छायायुक्त शीशे आदि के नीचे विशेष रासायनिक घोलों से लिये कागज आदि रखकर सूर्यप्रकाश दिखाकर उस कागज आदि

---

1. अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो 3 रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ।
महत् तद् वो देव्यस्य प्रवाचनां द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ।। ऋग्. 4.36.1

2. रथं ये चक्रुः सुवृत्तं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यिा ।
तां ऊ न्वीस्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि ।। ऋग्. 4.36.2

पर चित्र उतार लिया जाता है। पुनः इस चित्रित कागज आदि को विशेष रासायनिक पदार्थयुक्त जल में धोकर चित्र को सुदृढ़ और परिमार्जित कर लिया जाता है।[1]

▪ अन्य उद्योग एवं खनिज–

वेदों में स्वर्ण, रजत के अतिरिक्त सीसा, तांबा, रांगा, लोहा, तथा अयस् (विशेष प्रकार की धातु जो लोहे से कुछ भिन्न पर उससे श्रेष्ठ होती है) आदि का उल्लेख मिलता है। यथा– 'मेरे पत्थर, मिट्टी, चट्टानें, पर्वत, रेत, वनस्पतियाँ, कान्तलौह (अयस-फौलाद) तांबा, लोहा, सीसा, रांगा, यज्ञ के द्वारा सुसम्पन्न हों।'[2]

इन विभिन्न प्रकार की धातुओं से नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। केशकर्तन के लिए उस्तरे 'क्षुर:' का प्रयोग मिलता है।[3] कैंची (भुरिज) का वर्णन भी किया गया है।[4] कुल्हाड़े का वर्णन इस प्रकार है– 'कुल्हाड़े से छेदे गये वृक्ष की शाखाओं की तरह।'[5] हथौड़े के लिए घन शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] फरसे का वर्णन अनेक स्थानों पर किया गया है।[7] इसके लिए परशु, वृजिन तथा द्रुघण शब्द का प्रयोग मिलता है। हंसिए के लिए 'अंकी' शब्द का प्रयोग है – 'जिस प्रकार मनुष्य पके हुए फल वाले वृक्ष को हंसिया लेकर हिलाता है।'[8] खोदने के लिए फावड़ा, खुर्पा आदि साधन अवश्य रहा है। इसकी पुष्टि इस वर्णन से होती है– 'मैं इस अत्यन्त गुणवती लतारूपिणी औषधि को खोदता हूँ।[9] अथर्ववेद में आया हुआ 'खनित्रिमा'[10] शब्द बताता है कि वैदिक काल में खोदने का साधन फावड़ा आदि अवश्य रहा है। फावड़े आदि से भिन्न कुदाल का जो पक्की भूमि अथवा सुदृढ़ स्थान को खोदने में प्रयुक्त होती है, का उल्लेख 'अभ्रि:' शब्द से किया गया है– 'कुदाल से खोदी गई, 'पहाड़ की चोटियों पर लोहे की कुदाल से औषधि खोदते हैं।[11] लोहे के पाश अथवा जंजीर का वर्णन उपलब्ध होता है– 'हे उग्र तेज वाले। लोहमय पाशों को तोड़ डाल।'[12] लोही की बेड़ी को 'पड्वीश' कहा है।[13] लोहे से सोमलता को पीसने का वर्णन भी एक स्थान पर किया गया है।[14] सोमरस को छानने के

---

1. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, पृ. 139-140
2. अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यश्च मेऽयश्च मे श्यामश्च मे लोहश्च मे सीसश्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यजु. 18.13
3. आयमागन् सविता क्षुरेण . . .अदितिश्मश्रु वपत्वाप: । अथर्व. 6.68.1
4. सं. न: शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं शस्व रायो विमोचन । ऋ. 8.4.16
5. स्कन्धासीव कुलिशेना विवृक्णा . . .। ऋ. 1.32.5
6. धनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् । अथर्व. 10.4.9
7. तीक्ष्णीयांस: परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत । अथर्व. 3.19.4
8. वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव . . .। ऋग्. 3.45.4
9. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम् । ऋग्. 10.145.1
10. अथर्व. 1.6.4
11. अभ्रिखाते न रूरूप: । अथर्व. 4.7.5
12. तिग्मतेजोऽयमस्मान् वि चृता बन्धपाशान् । अथर्व. 6.63.2
13. मृत्यो पडवीशमवमुञ्चमान: । अथर्व. 8.1.4
14. रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम् । ऋग्. 9.1.2

लिए जिसका उपयोग होता है उसे 'पवित्र' कहा है, इस पवित्र से छलनी से घृत छानने का उल्लेख भी है।[1] 'धोंकनी' के लिए 'दृति' शब्द आया है।[2] 'तितउ' शब्द सूप का बोधक है।[3]

लघु उद्योग के रूप में तैयार की जाने वाली अनेक वस्तुओं की चर्चा वेदों में यत्र-तत्र की गई है। इन वस्तुओं का उपयोग में लाया जाना स्वत: सिद्ध करता है कि उस काल में इनका निर्माण अवश्य होता था।

▪ वेदों में गृह-निर्माण कला-

वेदों में गृह-निर्माण कला का उत्तम वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है- 'नवनिर्मित भवन में हवन करने के पदार्थों को रखने का स्थान, अग्निहोत्र का स्थान, स्त्रियों के रहने का स्थान, पुरुषों और विद्वानों के रहने-बैठने, संवाद करने और सभा करने का स्थान होना चाहिए तथा स्नान, भोजन ध्यान आदि का स्थान पृथक् होना चाहिए। इस प्रकार की कमनीय गृहशाला सुखदायक होती है।'[4]

''दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व-पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर अथवा जिसके पूर्व-पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला और इनके मध्य में पांचवी बड़ी शाला या बीच में एक बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उत्तर दक्षिण में शाला हो।''[5]

ऋग्वेद में वास्तोष्पत्ति-शील्पि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है- 'हमें यह सन्तोष प्रदान कर कि तू हमें रोगों से मुक्त घरों को देने वाला हो।'[6] आदि

पारस्कर गृह्यसूत्र में गृह-शिल्पियों की तीन श्रेणियाँ मिलती हैं- कर्ता, विकर्ता, विश्वकर्मा।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में घर के विविध सुखों का वर्णन किया गया है- 'हे गृहस्थों! हम तुम्हारे निवास के लिए ऐसा घर बनाते हैं जिसमें सूर्य की किरणें खूब आयें। ऐसे घर में दैवीय प्रकाश का उदय हो जिससे तुम मोक्ष को प्राप्त होओ।'[7]

वेदों में राजाओं और शासकों के सैकड़ों खम्बों वाले बड़े-बड़े प्रासादों का भी वर्णन आया है। साथ ही लौह-स्तम्भों पर बनें, आकाश में चमकते हुए स्वर्ण मण्डित घरों का

---

1. पूतं पवित्रेणेवाज्यमाप: शुन्धन्तु मैनस: । यजु. 20.20

2. अथर्व. 6.18.6

3. अथर्व. 10.71.2

4. हविर्धानमग्निशालं पत्नीना सदनं सद: ।
सदो देवानामसि देवि शाले ।। अथर्व. 9.3.7

5. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शाल मानस्य पत्नीमग्निगर्भ इवाशये ।। अथर्व. 9.3.21

6. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवा न: ।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।। ऋग्. 7.54.1

7. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयास: ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण: परमं पदमवभाति भूरि ।। ऋग्. 1.154.6

उल्लेख भी पर्याप्त मिलता है।[1]

वैदिक काल में बड़े-बड़े नगर विद्यमान थे। ऋग्वेद में लोहे की दीवारों से घिरे नगरों का वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के बारहवें सूक्त में शाला-निर्माण का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि हमें अपने रहने के घर किस प्रकार के बनाने चाहिए और उनमें किस प्रकार का समृद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करना चाहिए। वहाँ कहा गया है कि हमें अपने घर 'ध्रुव' अर्थात् ऐसे दृढ़ और पक्के मजबूत बनाने चाहिए, जिससे वे ऋतुओं के प्रभाव और भूकम्प आदि के झटकों को सहन कर सकें।[3]

'देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे' (3.12.5) से स्पष्ट होता है कि हमारा भवन देखने में भव्य हो और इसके लिए उसका निर्माण 'देव' अर्थात् बड़े क्रिया कुशल शिल्पियों से कराना चाहिए।

'धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दा:' (3.12.3) - उसमें अनेक 'धरुण' अर्थात् स्तम्भ हों जिनके ऊपर बड़ी-बड़ी 'छन्द' अर्थात् छतें रखी हों। अर्थात् हमारी शाला विशाल हो। वह **मानस्य पत्नि** (3.12.5) हो, अर्थात् मान या पैमाइश के पीछे वह इस तरह चलती हो जैसे पतिव्रता पत्नी पति के पीछे चलती है। अर्थात् भवन का निर्माण भलीभाँति नापकर किया जाना चाहिए। एक अन्य मन्त्र में भी यही बात कही गई है। **'उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत'**[4] हमारी शाला उपमिता अर्थात् सूक्ष्मतापूर्वक मान (Measurement) करके बनाई गई हो, प्रतिमिता अर्थात् उसकी प्रत्येक रचना का उसकी दूसरी रचनाओं के साथ तुलना करके अनुपात (Proportion) जान लिया गया हो, परिमिता अर्थात् उसकी प्रत्येक रचना चारों ओर से नाप-जोखकर बनाई गई हो। इसी सूक्त में कहा है- **'कविभिर्निर्मितां मिताम्'**[5] यह कवि अर्थात् गृहनिर्माण विद्या का गहरा ज्ञान रखने वाले क्रान्तदर्शी शिल्पी विद्वानों द्वारा बनाई गई हो।

इस प्रकार वेदों में विस्तार से गृह-निर्माण-कला का वर्णन उस काल की स्थापत्य कला का दिग्दर्शन कराता है। वेद में गृह के लिए अनेक नामों का प्रयोग किया गया है। कतिपय नाम इस प्रकार हैं-

1. **गय:** - पवित्र स्थान जिसमें बैठकर धार्मिक एवं शुभकर्मों का अनुष्ठान किया जाता है।
2. **कृदर:** - शस्यागार, अन्न का कोष्ठ - या बड़े-बड़े अन्न के भण्डार - गृह या खत्तियाँ।

---

1. *राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते । ऋग्. 2.41.5*
अक्रविहस्ता सुकृते परस्पाय त्रासाये वरुणेकास्वन्त: ।
राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथ: सह द्वौ ।। ऋग्. 5.62.6
2. *ऋग्. 7.3.7, 7.15.14*
3. *इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालाम् ।*
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शाले ।। अथर्व. 3.12.1, 2
4. *अथर्व. 9.3.1*
5. *अथर्व. 9.3.19*

3. गर्त्तः - ऐसा प्रशंसनीय चल-गृह जिसमें अच्छे प्रकार से निवास, शयनादि हो सकें।
4. हर्म्यम् - विशाल अनेक कोष्ठ वाली अनेक मंजिल युक्त सुन्दर सुसज्जित कोठी, बंगला या महल आदि।
5. अस्तम् - छिपा हुआ गुप्त स्थान आदि जिसे दूसरे व्यक्ति पहचान न सकें। तलघर आदि भी इसी श्रेणी में हैं।
6. पस्त्यम् - निवास स्थान।
7. दुरोण - परगृह।
8. नीडम् - निश्चित रहने का, नित्य शयन का स्थान, पक्षियों का घोंसला आदि भी इसी के अन्तर्गत हैं।
9. दुर्याः - कठिन प्रवेश योग्य गृह या कठिनता से स्वाधिकार में प्राप्त होने योग्य या प्राप्त हुआ गृह। या ऐसा गृह जिसके लिए संघर्ष करना पड़े अथवा जिसके प्रवेश के लिए अनेक बंधन हों।
10. स्वसरणि - वे गृह जिसमें स्वयं यथासमय जाना होता है अर्थात् जिन गृहों से अपने प्रयोजन सिद्ध होते हैं और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जाना पड़ता है।
11. अमा - समीपस्थ कोष्ठ या गृह।
12. दम - वह गृह जिसमें अपनी इच्छा, आकांक्षा एवं उत्सुकता लगी हुई है, जिसके प्रति उदासीन भावना नहीं है।
13. कृत्तिः - वे गृह जहाँ दुःखादि का छेदन होता है, रोगादि के नष्ट होने के स्थान, औषधालय, आतुरालय, अस्पताल, आरोग्यभवन आदि।
14. योनिः - आकर, खदान-गृह, प्रसव-गृह, मकान के मध्य का वह स्थान जिसमें से प्रवेश एवं निर्गमन होता है। अथवा वे स्थान जहाँ से उत्पत्ति का प्रवाह चलता हो। विद्युत, जेनरेटर स्थान, वस्तुओं के मूल निर्माण स्थान के कोष्ठ इसी श्रेणी में आते हैं।
15. सद्म - कष्टप्रद गृह।
16. शरणम् - आश्रय स्थान।
17. वरूथम - गृह का ऐसा गुप्त स्थान जिसमें बाहर के आक्रमण से रक्षा हो सके।
18. छर्दि - गृह का वह स्थान जहाँ पर त्याज्य या निष्प्रयोजन वस्तुएँ रखी जाती हैं।
19. छर्दिः - गृह का वह स्थान जिसमें तीन ओर से दीवारें हों और एक ओर से पूरा खुला भाग हो और उस पर छत हो।
20. छाया - घर का वह स्थान जो चारों ओर से खुला हो परन्तु ऊपर छाया के लिए छत हो।
21. शर्म - युद्ध में शरण स्थान को शर्म कहते हैं।

22. **अज्य** - वह मकान या घर जो लोकोपकार के लिए दानादि पूर्वक धार्मिक या पुण्य भावना से बनाया जाता है।[1]

वैदिक युग के आर्य स्थायी रूप से बस्तियों में निवास करते हुए कृषि तथा शिल्प-व्यवसायों की वृद्धि करते थे।

इस प्रकार नाना प्रकार के उद्योग, शिल्प, गृहनिर्माण कला आदि के होते हुए भी वैदिक काल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग सूत कातना व कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखे से सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख आता है। इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने, आभूषण बनाने, शस्त्र निर्माण करने आदि का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। युद्ध के लिए रथ यातायात व खेती के लिए गाड़ी बनाने की कला से सम्बन्धित उपमा व रूपक के प्रयोगों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल में काष्ठ उद्योग बहुत विकसित था। तांबा, लोहा, कांच आदि से अनेक प्रकार के गृह उपयोगी पात्र तथा यज्ञीय पात्रों का निर्माण भी कुशलतापूर्वक किया जाता था। चर्मउद्योग भी बहुत विकसित था। चमड़े को कमाकर उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जातीं थी। निरुक्त के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है, वहाँ पर गो शब्द के अनेक अर्थ बताते हुए यास्काचार्य ने कहा है कि गो चर्म से निर्मित होने वाले रस्सी, प्रत्यञ्चा, सोमरस पकाने के लिए पात्र आदि सब गो शब्द से अभिहित होते थे। बैल के चमड़े से धनुष की रस्सी, रथ को बांधने की रस्सी, घोड़े की लगाम की रस्सी, कोड़े की रस्सी आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं।[2] बैल के चमड़े की थैलियाँ भी बनाई जाती थी।[3] इसके अतिरिक्त इस युग में बहुत से घरेलू और कुटीर उद्योग भी विकसित हुए थे जैसे कपड़े सीना, घास आदि से चटाई बनाना आदि।

ऋग्वेद-काल में उपर्युक्त उद्योग-धन्धे विकसित किये गये थे और इन धन्धों को करने की लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे अपनी इच्छानुसार किसी भी उद्योग धंधे को कर सकते थे। एक ही परिवार के लोग अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् कार्य करते थे। एक मन्त्र में बड़ी रोचकता के साथ कहा गया है– 'मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता अनाज पीसने वाली है, हम नाना विचार वाले अपने-अपने ढंग से द्रव्य प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं।[4] प्रत्येक कलापूर्ण कार्य की प्रशंसा की जाती थी व उसके कर्ता का आदर-सत्कार किया जाता था। रथ बनाने की कला को इतना महत्त्व दिया गय। था कि वेदमन्त्र बनाने के कौशल की तुलना रथ बनाने के कौशल से की जाती थी।[5]

यजुर्वेद में भी विभिन्न उद्योग-धन्धों को करने वालों का स्पष्ट उल्लेख है, जैसे सूत, शैलूष, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुषकार, ज्याकार, रज्जु-सर्प,

---

1. पं. वीरसेन वेदश्रमी, वैदिक सम्पदा, पृ. 138.39

2. ऋग्. 6.75.11, 1.121.9, 6.47.26, 6.46.14, 6.53.9

3. ऋग्. 10.106.10

4. कारूरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव ।। ऋग्. 9.112.3

5. ऋग्. 1.61.41, 1.62.13, 1.130.6, 1.171.2, 2.19.8, 4.16.20

मृगयु, श्वनी, भिषक्, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक्, ग्वाली आदि।

इन विभिन्न उद्योगों के आधार पर डॉ. **शिवदत्त ज्ञानी** ने समाज का चार विभागों में विभाजन किया है जो तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है।

1. अत्यन्त धनाढ्य वर्ग–

इस वर्ग में समाज के सबसे अधिक धनाढ्य व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है, जिनको जीवन के उपभोगों का आनन्द उठाने का अवसर प्राप्त था। बड़े-बड़े ऋषियों को भी इस वर्ग में रखा जा सकता था। वेदों में देवताओं से अनेक स्थानों पर प्रार्थना की गई है कि हमें धन प्रदान कीजिये, हम धन के स्वामी बनें– इत्यादि। जब राजा ऋषियों को दान देते थे तब सहस्रों गायें व घोड़े दान में दिये जाते थे, गौओं के सींग कभी-कभी सुवर्ण से मण्डित होते थे। यह एक ऐसा वर्ग था, जिसके पास विपुल मात्रा में सुवर्ण था। इस वर्ग में राजा, राजन्य, बड़े-बड़े राजकर्मचारी, बड़े-बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े ऋषि आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस वर्ग के अधिकांश लोग रत्नजटित सुन्दर आभूषण धारण कर रथ, हाथी, घोड़े आदि की सवारी करते थे। इन्हीं लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज में मणिकार (जड़िया), हिरण्यकार (सुनार), रथकार (रथ बनाने वाला), हस्तिप (हाथी पालने वाला), अश्वप (घोड़ा पालने वाला) आदि के उद्योग-धन्धे विकसित किये गये थे। इस वर्ग के लोग साधारणतया बड़े-बड़े नगरों में रहते थे, जहाँ उनके लिए प्रहर्म्य, प्रसद्म, दीर्घ-प्रसद्म आदि विशालकाय भवन बने हुए थे।

2. उच्च मध्यम वर्ग–

इस वर्ग के अन्तर्गत उन लोगों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो प्रथम वर्ग के लोगों के समान तो धनाढ्य नहीं थे, पुनरपि समाज के अन्य वर्गों से आर्थिक दृष्ट्या बहुत अच्छे थे। इसमें राजकर्मचारी, व्यापारी, कवि, लेखक, सामान्य ऋषि आदि बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि तथा इसी श्रेणी के अन्य जन उच्च मध्यम - वर्ग में रहते थे। ये लोग हर्म्य, सद्म आदि साधारण घरों में रहते थे। इनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गोपाल (गाय पालने वाला), ग्वाली (दूध बेचने वाला), तक्षा (बढ़ई), धनुषकार (धनुष् की रस्सी बनाने वाला), भिषक् (वैद्य), कर्मार (लुहार) आदि से सम्बन्धित विभिन्न उद्योग-धन्धे विकसित किये गये थे। इस वर्ग के लोगों को अपने दैनिक जीवन में घी, दूध, बर्तन, धनुषबाण, औषधि, आदि की आवश्यकता होती थी, इन्हीं की पूर्ति गोपाल, तक्षा आदि द्वारा की जाती थी।

3. साधारण मध्यम वर्ग–

इस वर्ग में छोटे-छोटे दुकानदार तथा व्यापारी, छोटे राजकर्मचारी व इसी श्रेणी के अन्य

व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है। ये लोग साधारणतया छोटे-छोटे नगरों व ग्रामों में रहते थे। ये लोग छोटे-छोटे मकानों या झोपड़ियों में रहते थे। इनकी मिट्टी के बर्तनों की आवश्यकता कौलाल (कुम्हार) द्वारा पूरी की जाती थी। सूत (नाचने वाले) शैलूष (गाने वाले) आदि अपने नाचने-गाने की कला द्वारा इस वर्ग की जनता का मनोरंजन करते थे। वे स्वतः भी इसी वर्ग के थे। सुराकार (शराब बनाने वाले) के उल्लेख से पता लगता है कि लोगों को शराब पीने का भी व्यसन था। अविपाल (भेड़ पालने वाले), अजपाल (बकरी पालने वाले) आदि बड़ी-बड़ी संख्या में भेड़ व बकरी पालते थे व साधारणतया देहातों में रहते थे।

4. अर्धसभ्य ग्रामीण वर्ग–

एक वर्ग ऐसा भी था, जो देहातों व वनों में रहता था, तथा वन्य पशुओं का शिकार आदि करके उदर निर्वाह एवं अर्थोपार्जन करता था। बहुत से शिकारी अपने शिकार के लिए शिकारी कुत्ते भी पालते थे। इनके अतिरिक्त देहातों में रस्सी बनाने वाले (रज्जुसर्प) भी रहते थे। कृषिकार्य, बैलगाड़ी आदि के लिये रस्सी की बहुत आवश्यकता होती थी, बहुत से गरीब ग्रामीण रस्सी बनाने के उद्योग से अपना उदरपोषण करते थे।

▪ वेदों में श्रम की महत्ता–

वैदिक संहिताओं में वर्णित विविध उद्योग, शिल्प आदि का भव्य एवं आकर्षक रूप साकार करने के लिए सुयोग्य शिल्पियों की आवश्यकता सर्वविदित है। इनमें कुछ अत्यन्त कुशल कारू (शिल्पी) हैं तो कुछ अकुशल किन्तु श्रमनिष्ठ कर्मकार होते हैं। छोटी-सी वर्णशाला से लेकर बड़े-बड़े राजप्रासाद और सामान्य चरखे पर सूत कातने से लेकर बड़े-बड़े कारखाने श्रम द्वारा ही बनते हैं और संचालित होते हैं। इसलिये वेद उन्हीं कर्मशील मानवों को आर्य कहता है जो सतत कर्म करते हैं। वेद के अनुसार **'अकर्मा दस्युः'** कर्म न करने वाला दस्यु है। आर्य शब्द **'ऋ गतौ'** धातु से निष्पन्न है। इसका अभिप्राय है सतत गति करने वाला अर्थात् कर्म में संलग्न रहने वाला मानव। वही आर्य है। यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय स्पष्ट रूप से कर्म की उत्कृष्टता को घोषित कर रहा है–

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।'[1]

अर्थात् मानव कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे। कर्महीन व्यक्ति भाग्योदय के दर्शन नहीं कर पाता, वह महान्, सुख, सौभाग्यों से वञ्चित ही रहता है। आलस्य, प्रमाद में पड़ा रहने वाला पापी है। वह ईश्वरीय वरदानों से स्वयं को अलंकृत नहीं कर पाता। संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा है– **'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।'** आर्थिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में श्रम का महत्त्व सर्वोपरि है। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।'** जिसने कठोर परिश्रम नहीं किया उसकी सहायता देवता भी नहीं करते। ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् श्रम की महिमा से भरे पड़े हैं। गीता पुकार-पुकार कर कर्म का

1. यजुर्वेद 40.1

सन्देश दे रही है।

राजा का भी यह दायित्व है कि वह अपनी प्रजा को कोई न कोई श्रम करने के लिए प्रेरित करे। राज्य में कोई व्यक्ति निकम्मा न रहे। प्रत्येक को कोई न कोई कार्य अवश्य करना चाहिए। निरुद्यमी होकर दूसरों की कमाई पर अवलम्बित रहना उचित नहीं। स्वयं परिश्रम करके खाना चाहिए। इस प्रकार के उपदेश वेद में स्थान-स्थान पर दिये गये हैं। उदाहरण रूप में निम्न मन्त्र मनन के योग्य है–

– **पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।**[2]

अर्थात् हे राजन्! मेरे द्वारा किये हएु ऋणों को दूर कर दो, मैं किसी दूसरे द्वारा कमाये हुए से भोजन न करूँ।

– **इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृह्यन्ति ।**
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।[3]

अर्थात् इन्द्रादि देव जो कुछ न कुछ उत्पन्न करना चाहता है (सुन्वन्तम्) उसी को चाहते हैं, सोये पड़े रहने वाले आलसी को वे नहीं चाहते, वे देव स्वयं भी आलस्य रहित (अतन्द्राः) होकर सुख देने वाले (प्रमादं) कर्मो को करते रहते हैं।

आशय यह है कि इन्द्रादि राज्याधिकारी देव आलसी व्यक्ति को पसन्द नहीं करते। जो उद्यम करता रहता है– कुछ न कुछ उत्पादन करता रहता है, उसी को वे पसन्द करते हैं। वे स्वयं आलसी न होकर सर्वदा श्रमरत रहते हैं, और वे प्रजा में भी किसी को आलसी नहीं रहने देते।

– **असुन्वन्तं समं जहि ।**[4]
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधः ।[5]

हे इन्द्र! (सम्राट्) कुछ भी न उत्पन्न करने वाले (असुन्वन्तं) सब लोगों को (समं) मार दो। जो इन्द्र (सम्राट) कुछ भी उत्पन्न न करने वाले (असुन्वतः) व्यक्ति का वध करने वाला है।

इस प्रकार जब सब प्रजाजन श्रम करेंगे, तब प्रत्येक राष्ट्र में इतना अधिक उत्पादन होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को खाने-पीने पहिनने आदि के लिए पर्याप्त मिल सकेगा। कोई किसी प्रकार के अभाव में न रहेगा। इस प्रकार कर्म शक्ति के सदुपयोग से उत्पादन में नेत्रदीपक उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को श्रम का अवसर प्राप्त हो, सबको कोई न कोई कार्य अवश्य प्राप्त हो, कोई निकम्मा न रहे इसलिये राज्य का एक दायित्व यह भी है कि वह उत्पत्ति के नये-नये मार्गो का पता लगाये। वेद में इस प्रकार के निर्देश भी प्राप्त हैं। यथा–

– **राये नौ क्विा सुपथा कृणोतु व्रजी ।**[6]

1. ऋग्. 4.33.11
2. ऋग्. 2.28.9
3. ऋग्. 8.2.18
4. ऋग्. 1.176.4
5. ऋग्. 1.101.4
6. ऋग्. 8.97.13

अर्थात् वज्रधारी इन्द्र (सम्राट्) हमारे ऐश्वर्य के लिये सब प्रकार के उत्तम मार्गो का निर्माण करे।

धन-अर्जन के एक-दो नहीं अनेक मार्ग हो सकते हैं। राज्य को इन मार्गो की खोज करनी चाहिये।

– **अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भागमिन्द्रा भरा नः ।**[1]

हे इन्द्र! मेरी बुद्धि कर्मशील हो जावे (अप्नस्वती) तुम हमें धन प्राप्त कराने वाला (वसुविदं) बुद्धि का अंश (भागं) प्रदान करो।

इस मन्त्र में राजा से प्रार्थना की गई है कि वह हमें कर्मशील बुद्धि दे, जिसके द्वारा हम धन प्राप्त कर सकें। राज्य की ओर से ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिये जहाँ देशवासियों को नये-नये विभिन्न प्रकार के उद्योगों अथवा व्यापारों की जानकारी प्राप्त हो, जिससे वे उन कार्यो की ओर प्रवृत्त होकर प्रभूत धन अर्जन कर सकें और कला-कौशल में वृद्धि भी हो सके।

राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि के लिये श्रम की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। किसी नीतिकार का यह वचन सर्वथा सत्य है– **'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।'** कृषि, पशुपालन उद्योग, वाणिज्य आदि सभी अर्थ प्राप्ति के साधन श्रम-शक्ति पर ही निर्भर हैं।

कार्ल-मार्क्स ने विश्व के श्रम-जीवियों का आह्वान किया था– 'दुनिया के श्रमिको एक हो जाओ।' उस महान् अर्थशास्त्री के एक आह्वान से संसार में क्रान्ति हो गई। उपनिषदों का **चैरवेति, चरैवेति** का उपदेश श्रम की महत्ता उद्घोषित कर रहा है।

❐

---

1. अथर्व. 20.89.3

षष्ठ अध्याय

वेदों में वाणिज्य

वैदिक साहित्य में कृषि, पशुपालन, शिल्प-उद्योग के अतिरिक्त आर्थिक समृद्धि का एक अन्य प्रमुख साधन वाणिज्य था। कृषि और पशुपालन का सम्बन्ध प्रायः ग्राम्य जीवन से था, तो उद्योग एवं वाणिज्य का संबंध नगरों से था। यूँ तो दैनिक आवश्यकता की अधिकांश वस्तुओं की उत्पत्ति ग्रामों में ही होती थी तथापि इनका वृहद् रूप में उत्पादन नगरों में ही संभव था। देश और विदेश में उत्पन्न होने वाले पदार्थ उस देश के अन्य भाग में अथवा दूसरे देश में निवास करने वाली प्रजाओं को सुविधापूर्वक प्राप्त हों और आर्थिक विकास की प्रक्रिया सतत चलती रहे, इस दृष्टि से वाणिज्य अर्थात् व्यापार का बहुत महत्त्व है। वैदिक साहित्य में कितने ही स्थानों पर सुवर्ण[1] का उल्लेख है व धनपति बनने की इच्छा व्यक्त की गई है। यजुर्वेद[2] में वर्णित उद्योग-धन्धों से भी विकसित नगारिक जीवन का पता चलता है। अधिकांश लोगों का विशेषकर धनाढ्यों का किसी सत्ता की छत्रछाया में एकत्रित रहना नगरों के अस्तित्व से सूचित होता है। एक बड़े मानव-समुदाय के एकत्रित रहने पर उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी ढूंढे जाते हैं, यहीं से वाणिज्य अथवा व्यापार का प्रारम्भ होता है। 'वाणिज्य' शब्द 'वणिक्' शब्द से बनता है, जिसका अर्थ है, बनिया या व्यापारी, क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान अथवा आयात-निर्यात। यजुर्वेद में 'वणिज्' को तुला से सम्बन्धित किया गया है।[3] इस प्रकार वैदिक युग में व्यापार का प्रारम्भ हो गया था। इसमें तनिक भी सन्देह करने की आवश्यकता नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक युग से ही होता है। कृषि की उपज घी, दूध, वस्त्र तथा दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था।

अथर्ववेद का 3.15 सूक्त वणिक् सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें व्यापार का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र[4] में सब जगत् के प्रभु (इन्द्र भगवान्)

---

1. ऋग्वेद 1.43.5, 3.34.9, 4.10.6, 4.17.11, 1.117.5, 6.47.23, 8.78.9

2. यजुर्वेद 30.6, 7, 11, 17, 20

3. तुलायै वणिजम् । यजु. 30.17

2. इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ।। अथर्व. 3.15.1

को **'वणिजं इन्द्रं'** (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर द्वारा मनुष्यों को ठीक-ठीक प्रकार से उनके कर्मों के अनुसार प्रदान किये जाने वाले सुख-दुःख की उपमा से व्यापारियों को यह सन्देश दिया गया है कि वे भी पूर्ण ईमानदारी से वस्तुओं का क्रय-विक्रय करें। इन्द्र वणिक् ने सृष्टि के प्रारम्भ से अपना व्यापार चला रखा है। वह कभी पक्षपात नहीं करता, न कभी उधार करता है, जो जितना और जैसा देता है, वह महान् व्यापारी उसको उतना और वैसा ही लौटा देता है, इससे व्यापारियों को कहा जा रहा है कि वे भी सदा सत्य व्यवहार करें। कभी छल, कपट अथवा धोखे का व्यवहार न करें। इन्द्र (सम्राट्) से प्रार्थना की गई है कि वह 'हमारे आगे चलने वाला बने' अर्थात् राजा को चाहिए कि वह अपने विशेषज्ञ पुरुषों द्वारा सदा ही देशवासियों को वाणिज्योन्नति के उपाय बताकर उनका नेतृत्व करता रहे, उन्हें मार्ग सुझाता रहे। राजा का यह भी कर्तव्य है कि व्यापार में आने वाली बाधाओं को दूर करता रहे। वह व्यापार के मार्गो में पड़ने वाले चोर-डाकू और हिंसक पशुओं का दमन करके व्यापार को निरापद बनाये।

दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि द्यौ और पृथिवी के बीच में व्यापारी लोगों के चलने के (देवयाना:) जो बहुत देशों में आने-जाने वाले अनेक मार्ग हैं वे पय और घृत से मेरी सेवा करें जिसमें मैं पण्य वस्तुओं को बेचकर धन ला सकूँ।[1]

"द्यौ और पृथिवी के बीच में चलने वाले व्यापारियों के मार्ग के कथन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि जिस प्रकार पृथिवी पर व्यापार हो उसी प्रकार अन्तरिक्ष के मार्ग से देश-विदेश में व्यापार होना चाहिए। व्यापार में वायुयानों की सहायता ली जाये यह भी ध्वनित होता है। व्यापार के मार्ग पय और घृत से मेरी सेवा करें - का अभिप्राय है। व्यापार के मार्ग इतने निरापद हों कि व्यापार की वस्तुयें बिना किसी आशंका के इधर-उधर लाई जा सकें।

चतुर्थ मन्त्र में प्रार्थना की गई है– हे अग्ने (सम्राट) वाणिज्य के लिए हम जिस मार्ग पर दूर चले जाते हैं, उसमें होने वाली हमारी हिंसा को हमारे लिए सह्य बना दो। हमारा प्रपण अर्थात् देशांतर में ले जाकर बेची जाने वाली वस्तुएँ और उनका विक्रय हमारे लिए सुखकारी हो, तथा 'प्रतिपण' अर्थात् देशान्तर से लाकर अपने देश मे बेची जाने वाली वस्तुएँ मुझे लाभवान् बनायें। मिलकर रहने वाले हम और तुम दोनों, हे अग्ने! इस हव्य का सेवन करें, वाणिज्य में लगाया हुआ (चरितम्) और उससे लाभ में प्राप्त हुआ (उत्थित) धन हमारे लिए सुखकारी होवे।"[2]

वाणिज्य के लिए हम जिस मार्ग पर दूर जाते है– इस वाक्य से सूचना मिलती है कि धनाभिलाषी व्यापारियों को अपनी वस्तुयें दूर-दूर देशों में ले जाकर बेचनी चाहिए। और

---

1. *ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।*
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ।। अथर्व. 3.15.2

2. *इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम ।*
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपण: फलिनं मा कृणोतु ।। अथर्व. 3.15.4

वहाँ की वस्तुयें अपने देश में लाकर बेचनी चाहिए। अपने देश से देशान्तर में ले जाकर बेची जाने वाली वस्तुओं को 'प्रपण' और देशान्तर से लाकर अपने देश में बेची जाने वाली वस्तुओं को 'प्रतिपण' कहा गया है। 'हम दोनों मिलकर हव्य करें।' कथन का आशय यह है कि राजा और व्यापारियों को परस्पर मिलकर-अनुकूल होकर रहना चाहिए। इसका सुखद परिणाम यह होगा कि व्यापारी लोग सुरक्षित होकर खूब धन अर्जित कर सकेंगे और धन कमाने पर वे राजा को ईमानदारी से प्रभूत राशि कर रूप में देते रहेंगे। 'चरित' व्यापार में लगाये गये धन को और 'उत्थित' व्यापार द्वारा कमाये गये धन को कहा गया है।

अगले मन्त्र में कहा गया है– हे राज्याधिकारियो! धन से धन की कामना करने वाला मैं जिस धन से प्रपण अर्थात् बेचने के लिए वस्तुओं को खरीदता हूँ, वह मेरा धन अधिक ही होवे, थोड़ा न होवे। हे सम्राट् (अग्ने) मेरे लाभ को नष्ट करने वाले (सातघ्न:) राज्य कर्मचारियों को मेरे इस लाभ का नाश करने से रोक।[1]

इस मन्त्र में देवा: कह कर राजा के प्रतिनिधिभूत राजकर्मचारियों को सम्बोधित किया गया है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे राष्ट्र के व्यापारियों की व्यापार में अधिक से अधिक सहायता करें। 'लाभ को नष्ट करने वाले राज्य कर्मचारियों का निषेध करें।' इसका भाव यह है कि राजा अपने राज्य में ऐसे कर्मचारियों को कदापि न रहने दे जो व्यापारियों के व्यापार में अनुचित हस्तक्षेप कर हानि पहुँचाये। वे लोभाभिभूत होकर उत्कोच (रिश्वत) मांग सकते हैं, जब व्यापारी रिश्वत देने लगेंगे तो व्यापार में भ्रष्टाचार स्वत: प्रारम्भ हो जायेगा। राजा का कर्तव्य है कि ऐसे कर्मचारियों को न रहने दे। 'हवि से निषेध कर' का भाव यह है कि व्यापारी लोग राजा को हवि (कर) देते रहें और राजा का कर्तव्य है कि वह उस कर के बदले में उनके व्यापार को हानि पहुँचाने वाले लोगों से उनकी रक्षा करता रहे।

व्यापारियों की रुचि व्यापार में सर्वदा बनी रहे, तभी व्यापार में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी। यह समझाने के लिये वेद कहता है– 'हे देवो! धन से धन की इच्छा करने वाला मैं जिस धन से प्रपण को खरीदता हूँ, उसमें प्रजा का पालक इन्द्र, सविता, सोम और अग्नि ये सब देव मेरी रूचि करें।'[2]

अभिप्राय यह है कि राजा स्थान-स्थान पर व्यापारियों के माल की प्रदर्शनियाँ लगवाकर तथा अन्य प्रकार से प्रोत्साहन देकर उनकी व्यापार में विशेष रुचि जगाये। जिस राष्ट्र के वैश्यों की रुचि व्यापार की ओर मन्द पड़ जायेगी वह राष्ट्र वैभवशाली नहीं हो सकता।

सूक्त के अंतिम मन्त्र में कहा गया है कि हे राजन्! हम सदा तुझे भरण-पोषण देते हैं, जैसे कि अपने स्थान पर खड़े हुए घोड़े को घास दिया करते हैं, धन की पुष्टि और अन्न से हर्ष मनाते हुए हम तेरे सेवक या पड़ौसी कभी नष्ट न हों।[3]

1. *येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमान: ।*
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा निषेध ।। अथर्व. 3.15.5
2. *येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमान: ।*
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापति: सविता सोमो अग्नि: ।। अथर्व. 3.15.6
3. *विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेद: ।*
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ।। अथर्व. 3.15.8

राजा को भरण-पोषण देने का अभिप्राय उसे कर रूप में धन देना है, जिससे राज्य-प्रबन्ध की सारी आवश्यकताएँ पूरी होती रहें।

इस सूक्त में व्यापार सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार किया गया है। व्यापार करने के लिए देश देशान्तरों में जाना आवश्यक होता है। अन्यथा बड़ा व्यापार हो नहीं सकता। देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में जाने के लिए उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहिये। देशान्तर में जाने के कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भयदायक होते हैं। जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको 'देवयानः पन्थानः' कहा है। देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिन पर देवता सदृश लोग जाते आते हैं। इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं। ऐसे मार्ग पर लूटमार नहीं होती, व्यापारी लोग अपना माल सुरक्षित रीति से ले जाते हैं और ले आते हैं। जहाँ जाने आने के लिए ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहीं पर व्यापार करना लाभदायक है।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचों के होते हैं जिन पर इन निशाचरों का आना जाना होता है। ये ही **'परिपन्थी'** अर्थात् चोर, लुटेरे, बटमार, बनकर सार्थवाहों को लूट लेते हैं। इन मार्गो पर से जाने से व्यापार व्यवहार लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जो मार्ग सुरक्षित न हों उन्हें सुरक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

व्यापार के लिए एक अन्य आवश्यक बात यह है कि मार्ग में जहाँ ठहरना हो, वहाँ आवास एवं भोजन आदि की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए।

व्यापार हो अथवा अन्य कोई भी कार्य वह ज्ञानपूर्वक करना चाहिए। जो व्यक्ति हानि-लाभ, उचित-अनुचित का सम्यक् विचार किये बिना कार्य में प्रवृत्त होगा उसे सफलता नहीं मिलेगी, इसलिए व्यापार बुद्धि पूर्वक किया जाना चाहिए। सफलता की विशिष्ट कुंजी है, उसमें रुचि का होना। व्यापार का यह अति महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि व्यापारी रुचिपूर्वक व्यापार करें, अनिच्छा पूर्वक किया गया व्यापार समृद्धि प्रदान नहीं करता।

इस सूक्त की व्यापार सम्बन्धी सबसे प्रमुख शिक्षा यह है कि आस्तिक बुद्धि अर्थात् ईश्वर भक्ति पूर्वक व्यापार करना चाहिए। ईश्वर को स्मरण करते हुए व्यापार करने से एक लाभ तो यह होगा कि ईश्वर सहायता करेंगे, उसका मनोबल बना रहेगा, निराशा नहीं होगी, दूसरे ईश्वर के प्रति समर्पण भावना से व्यापार करने वाला व्यक्ति कभी अनुचित आचरण नहीं करेगा। वह धन केवल अपने स्वार्थ के लिये अर्जित नहीं करेगा अपितु वाणिज्य से प्राप्त धन को राष्ट्र के कल्याणार्थ व्यय करता रहेगा।

▪ विनिमय–

भौतिक अर्थशास्त्र में समाज का व्यवहार, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विनिमय के आधार पर बनता है। यह विनिमय ही व्यापार का मूर्तरूप है। वेद में व्यापार के मूलभूत सिद्धान्त का प्रदर्शन इन शब्दों में किया गया है– 'तू मुझे दे, तो मैं तुझे दूँ, मेरी यह वस्तु तुम अपने पास रख लो और (विनिमय द्रव्यों के माध्यम से) तुम मुझसे ले लो और मैं तुमसे मोल के बराबर वस्तु खरीदूँगा।'[1] मन्त्र का भाव यह है कि– एक व्यापारी से कोई ग्राहक कह रहा है कि मेरी विनिमय की यह वस्तु लेकर इसके बदले में या इस विनिमय

1. *देहि मे ददामि ते नि मे धेहि निते दधे । निहारं च हरासि मे निहार निहराणि ते । यजु. 3.50*

वस्तु के मूल्य के बराबर जो वस्तु तू देगा मैं उसे स्वीकार करूँगा। यहाँ एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु का लेना तथा क्रेय (खरीदने योग्य) वस्तुओं को विक्रय (बेचने) के रूप में देने का भाव व्यक्त हो रहा है। क्रय के सम्बन्ध में यह मन्त्र भी प्रकाश डालता है– 'तुमसे पदार्थ को विनिमय के दीप्तिमान् साधन से, श्रेष्ठ पदार्थ को विनिमय के उत्तम साधन से तथा बहुमूल्य पदार्थ को बहुमूल्य विनिमय साधन से खरीदता हूँ।'[1] रुपये पैसे और सुवर्ण इन तीन विनिमय के साधनों को मुख्य रूप से विनिमय के अन्तर्गत ग्रहण किया है। व्यापार में विनिमय द्रव्य अत्यावश्यक है। बिना विनिमय द्रव्य के वाणिज्य की पूर्णता हो नहीं सकती।

■ विनिमय के साधन–

विनिमय द्रव्यों में सिक्कों का उपयोग होता रहा है। यह सिक्का (मुद्रा) ही विनिमय द्रव्यों में अतिश्रेष्ठ, सुगम एवं व्यावहारिक साधन है। यद्यपि एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु तथा गायों के बदले दूसरी वस्तु ली जाती रही है। महर्षि दयानन्द ने युजर्वेद भाष्य में इसकी पुष्टि की है। वे लिखते हैं– 'गौ आदि का क्रय-विक्रय कर सुवर्णादि धन प्राप्त करे।'[2] ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'कौन मेरे इन्द्र को दस गायों में खरीदता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि मुद्रा आदि के समान गाय भी विनिमय का प्रमुख साधन था। **मैक्डानल व कीथ** इसको क्रय का स्पष्ट उदाहरण मानकर कहते हैं, दस गायें इन्द्र की मूर्ति का बिल्कुल ठीक मूल्य है, यह वर्णन आलंकारिक नहीं है।[4] **विल्सन व ग्रिफिथ** भी उक्त उदाहरण को क्रय-विक्रय व्यवहार में स्वीकार करते हैं।[5] जहाँ आलंकारिक वर्णन है, वहाँ कहा गया है कि 'हे इन्द्र मैं तुम्हें बड़ी से बड़ी कीमत में भी न बेचूंगा, न हजार में, न दस हजार में और न सौ में।'[6] इन उदाहरणों से मूर्ति होने या बेचने का आशय प्रमुख नहीं है, अपितु क्रय-विक्रय का स्वरूप वेद-वर्णित है, यह दर्शाना ही अभिप्रेत है। इस सम्बन्ध में सायण का कथन देखने योग्य है। **सायण** के कथन का भाव यह है कि 'वैदिक ऋषि भक्ति-भाव में आप्लावित होकर क्रय-विक्रय की भाषा में इन्द्र के प्रति अपनी भक्ति का वर्णन करते हैं।[7] इस प्रकार का वर्णन हिन्दी सन्त साहित्य में भी उपलब्ध होता है, मीरा का यह भजन प्रसिद्ध है– माई मैंने गोविन्द लीन्हों मोल, ना ये सस्ता, ना ये महंगा, लियो तराजू तोल'– यहाँ मीरा का अपने अभीष्ट के प्रति जो भाव व्यक्त किया गया है, वही भाव उक्त 'इन्द्र' को गाय आदि से खरीदने के उक्त मन्त्रों में जानना चाहिए। गौ को विनिमय का साधन मानने में उक्त उदाहरणों की दृष्टि से आपत्ति नहीं रहती है। वेद में

---

1. *शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन । यजु. 4.26*
2. *यजु. द.भा. 4.26*
3. *क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः । ऋ. 4.24.10*
4. *ए.सी. दास - ऋग्वैदिक कल्चर, पृ. 145*
5. *ए.सी. दास - ऋग्वैदिक कल्चर, पृ. 143 से 145*
6. *महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।*
   न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ।। ऋ. 8.1.5
7. *डॉ. शिवदत्त ज्ञानी - वेदकालीन समाज, पृ. 241*

वर्णित दस गौओं के मूल्य आदि का प्रभाव अन्यत्र भी पड़ा है– '**ईलियड** में नौ गौ मूल्य वाले, शस्त्रों के बदले हजार गौ मूल्य वाले शस्त्रों का वर्णन है, गौ के बदले सोम खरीदने का पाठ ग्रहण कर, **होमर** काल के यूनानी, ढोर और खाल देकर मद्य क्रय करते थे। रोम और द्राकों के पुराने-पुराने कानूनों में अर्थदण्ड का निर्धारण सिक्कों में नहीं वरन् बैलों में किया जाता था।[5] गौ विनिमय के क्षेत्र में सर्वत्र ही विनिमय का साधन हो, यह मानना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि जहाँ एक गौ या दो गौ के मूल्य की वस्तु होगी वहीं तो गौ, विनिमय के व्यवहार को पूर्ण कर सकेगी, किन्तु जहाँ आधे गौ के मूल्य की वस्तु होगी वहाँ समस्या उपस्थित होगी, अतः सिक्के (मुद्रा) आदि किसी अन्य साधन से ही वहाँ क्रय-विक्रय का व्यवहार पूर्ण होगा।

▮ निष्क–

वेद में सिक्कों के लिए 'निष्क' शब्द मिलता है। 'निष्क' एक ढला हुआ निश्चित आकार का स्वर्ण खंड है, क्योंकि आभूषण के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है– 'निष्क' धारण करने वाली ग्रीवा।[2] परन्तु 'निष्क' सिक्कों के रूप में भी उल्लिखित है, राजा से सौ निष्क और सौ घोड़े प्राप्त करने का वर्णन है।[3] राजा द्वारा किसी दानी को सौ आभूषण घोड़े के साथ में देने का वर्णन उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि दक्षिणा के रूप में सौ सिक्के देने की बात बुद्धिगम्य है। जहाँ तक 'निष्क' के गर्दन में धारण करने की बात है 'निष्क' रूप सिक्के में छेदकर अथवा छिदे हुए निष्क में डोरा आदि डालकर माला रूप में धारण किया जा सकता है। आज भी रुपया आदि को गले में धारण किये हुए लोग देखे जा सकते हैं। विशेषकर पिछड़ी और आदिम जातियों के लोगों के गले में पड़े हुए हार में सिक्के पिरोये हुए रहते हैं। अथर्ववेद में 'निष्क' को सिक्के के रूप में जाना गया है।[4] ये निष्क शतपथ ब्राह्मण[5] तथा गोपथ ब्राह्मण[6] में भी सिक्के के रूप में व्यवहृत हुए हैं। एक स्थल पर दस हिरण्य पिण्डों के दान की चर्चा है।[7] ये हिरण्यपिण्ड - सिक्के के सदृश माने जा सकते हैं, आज भी दक्षिणा के रूप में सिक्के (रुपये) आदि देने की परम्परा विद्यमान है।

वेद में प्रयुक्त 'मना' शब्द भी किसी सिक्के का बोधक है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है– हमें सुवर्ण मना प्रदान करो।[8] ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'मना' शब्द का प्रयोग है।[9] वैदिक 'मना' ग्रीक मना तथा रोमन मना के परस्पर सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है।[10]

---

1. डॉ. सम्पूर्णानन्द - अभिनन्दन ग्रन्थ से ।

2. निष्कग्रीवः, ऋ. 5.19.3

3. शतं राजो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान् सघ आदम् । ऋ. 1.126.2

4. एष इषाय मागहे शतं निष्कान् दश स्रजः । अथर्व. 20.127.3

5. शतपथ ब्रा. 11.4.1, 8

6. गोपथ ब्रा. 1.3.6

7. दशो हिरण्य पिण्डान्दिवोदासादसानिषम् । ऋ. 8.47.23

8. आ नो भर . . . सचा मना हिरण्यया । ऋ. 8.78.2

9. ऋ. 1.173.2, 4.23.2, 10.6.3

10. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 441

ऋग्वेद में कृष्णल और शतमान सिक्कों का भी उल्लेख है। ये सिक्के मूल्य में एक-दूसरे से दस और सौ गुना होते थे। पाणिनि ने कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माष, शण और शतमान सिक्कों का उल्लेख किया है।

'रयि' शब्द धन का वाचक होकर वेद में अनेक स्थानों पर आया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि 'रयि चांदी के सिक्के थे जो साधारणतया दान में दिये जाते थे तथा विनिमय के साधन थे।[1] वेद में 'रयिं दाः' (रयि दो) [2] आदि प्रयोग भी मिलते हैं। पंचविश ब्राह्मण में भी चांदी के निष्क का उल्लेख आता है।[3] वेद में आये 'शतमान' को भी कतिपय विद्वानों ने सिक्का माना है।[4] **श्री भण्डारकर** के अनुसार वैदिककाल में मुद्रा प्रचलित थी।[5]

आगे चलकर स्मृतियों में सुवर्ण रजत के माप की मुद्राओं के विषय में विशद वर्णन उपलब्ध होता है। याज्ञवल्क्य तथा मनु का कथन है कि खिड़की दरवाजे आदि किसी के छिद्र से धूल के कणों से युक्त चमकते हुए सूर्य के धूलिकणों को त्रसरेणु कहते हैं। आठ त्रसरेणु मिलकर एक लिक्षा होती है। तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप', तीन राजसर्षपों का एक 'गौरसर्षप' होता है। छः गौरसर्षपों का एक 'मध्यमयव'। तीन मध्यमयव का एक कृष्णाल (रत्ती) पांच कृष्णालों का एक मासा, सोलह मासों का एक सुवर्ण अर्थात् एक रुपया भर या अस्सी रत्ती भर समझना चाहिए।[6] चार सुवर्णों का एक 'पल' (छटांक), दस पलों का एक धरण और दो कृष्णलों (रत्तियों) का एक रौप्य माषक होता है। सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यवरण' होता है।[7]

याज्ञवल्क्य के नियमानुसार सोलह रूप्यमाष का एक धरण होता है। दस धरणों का एक सौ मान वाला पल होता है। याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार चार सुवर्णो का एक 'निष्क' होता है। सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यवरण' तथा 'रजत' अर्थात् चांदी का 'पुराण' और तांबे के कर्ष (पैसे) को कर्ष (पल का चतुर्थांश) तथा पण कहते हैं।[8]

ऋग्वेद में एक स्थान पर व्यापार का मनोरंजक वर्णन देखने को मिलता है, विक्रेता और क्रेता के मध्य वार्तालाप इस प्रकार हो रहा है– 'एक मनुष्य ने बड़े दाम की बीज कम मूल्य पर एक ग्राहक के हाथ बेच दी, पता चलने पर वह विक्रेता ग्राहक के पास आया और यह कह कर कि मेरी बीज न बिकी समझी जानी चाहिये। अपनी बीज (विक्रीत वस्तु) वापस लाने पर उतारु हो गया, परन्तु ग्राहक अड़ गया और उसने वस्तु को प्रत्यावर्तित नहीं किया।[9] निर्धन तथा धनी दोनों प्रकार के मनुष्यों को अपनी तय की

---

1. *ए.सी. दास, वैदिक कल्चर, पृ. 41*
2. *स न एनीं वसवानो रयिं दाःप्रार्यः स्तुषे तुविमघस्य दानम् । ऋ. 5.33.6*
3. *पंचविंश ब्रा. 17.1.4*
4. *वेदिक एज, भारतीय विद्या भवन, पृ. 46*
5. *भण्डारकर, एशियन्ट इंडियन न्यूमिज्मेटिक्स, पृ. 70*
6. *याज्ञ. 1.363, मनु. 8.134*
7. *मनु. 8.135, याज्ञ. 1.364*
8. *शतमानं तु दशभिर्धरणैः पलमेव तु । निष्क सुवर्णाश्चत्वारः कार्षिकस्ताम्रिकःपणः ।। याज्ञ. 1.365*
9. *भूयसा वस्तुमचरत्कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन ।*
   स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् । ऋ. 4.24.9

गई शर्तों को मानना पड़ता है। यही इस मन्त्र के द्वारा कहा जा रहा है। ग्राहक का वस्तु को उक्त प्रकार से वापिस न लौटाना स्वाभाविक भी है, क्योंकि यदि दुकानदार मूल्य अधिक बताकर वस्तु दे देता तब तो लाभ दुकानदार को होता। अपनी असावधानी का फल व्यापार में स्वयं भोगना पड़ता है। यह बात यहाँ ग्राह्य है।'

▮ व्यापार से धन वृद्धि–

वेद में धन के लिए अर्थ, धन, द्रव्य, वित्त, द्रविण, राधः, रयि, वसुः, रेक्ण आदि विभिन्न शब्दों के अतिरिक्त 'इष्टका'[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। **पं. वीरसेन वेदश्रमी** ने 'इष्टका' को व्यापार की मूलभूत पूँजी माना है।[2] मन्त्र में कहा गया है कि 'हे अग्ने! मेरी यह व्यापार की मूल पूँजी गौ के तुल्य लाभदायक हो, एक से बढ़कर (व्यापार द्वारा) दस हो जायें, दस से सौ, सौ से सहस्र होवें, सहस्र दस हजार बनें, दस हजार से लाख (लक्ष), लाख से दस लाख, दस लाख से करोड़ (अर्बुद), करोड़ से दस करोड़ (न्यर्बुद) दस करोड़ का अरक (समुद्र) बने, अरब का दस अरब (मध्य) दस अरब का खरब (अन्त) और अरब की राशि भी व्यापार द्वारा, (परार्ध) में परिवर्तित हो। उक्त प्रकार से बढ़ी हुई मेरी यह पूँजी (धनराशि) इस लोक और परलोक में अभीष्ट फल देने वाली हो।[3] थोड़ी सी पूँजी बढ़ते-बढ़ते परार्ध संख्या तक व्यापार के उत्कृष्ट साधन द्वारा ही पहुँच सकती है। आज भी बड़े-बड़े अरबपति उक्त प्रक्रिया का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। व्यापार द्वारा बड़े-बड़े महाजन एवं धनाढ्य आज भी थोड़े धन से बढ़कर अनन्ततम धन की अवस्था में पहुँच जाते हैं। वेद में प्रयुक्त 'शतिनं' और 'सहस्रिणं'[4] शब्द आज लखपति और करोड़पति कहे जाने वालों के समान धनाढ्यों के व्यंजक हैं। वेद में ऐसे अनेक निर्देश हैं जो व्यापार के स्वरूप को सुन्दर रूप में प्रकट करते हैं। अथर्ववेद का यह वचन 'शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर'[5] बहुत प्रसिद्ध है। इसका अर्थ साधारण रूप से यही प्रचलित है कि हे मानव! तू सैकड़ों हाथों से संग्रह कर और हजारों हाथों से दान कर। यह अर्थ कुछ अटपटा सा लगता है क्योंकि सौ हाथों से कमाने वाला हजार हाथों से दान कैसे कर सकता है? थोड़ी आय वाला अधिक व्यय करे यह बात तर्क संगत प्रतीत नहीं होती। विचार करने पर इस वेद वचन का आशय हमारी बुद्धि में यह आता है कि व्यापारीगण आयात कम करें और निर्यात अधिक करें। क्योंकि बुद्धिमान् व्यापारी वही है जो आयात कम करता है और निर्यात अधिक करता है। आयात अधिक और निर्यात कम यह तो व्यापार का विनाश ही है। व्यापार फलीभूत तभी होता है जब निर्यात अधिक किया जाता है। वेद में व्यापारी के लिए

---

1. *यजु. 17.2*
2. *वीरसेन वदेश्रमी, वैदिक सम्पदा, पृ. 218*
3. *इमा मे अग्न इष्ट का धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रंचायुतं च चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्ध्यश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रास्मिंल्लोके । यजु. 17.2*
4. *ऋ. 10.47.5*
5. *अथर्व. 3.24.5*

कहा गया है 'उत्तमदाता अश्विदेवों ने व्यापारी के लिए जो बहुत उद्योगी तथा बहुत त्यागवान् था उसको शहद का भण्डार दिया।[1] यह व्यापार का कार्य वेद की दृष्टि से मरुत्सदृश गुण वाले अर्थात् दूर-दूत तक वस्तु पहुँचाने वाले व्यक्तियों के अधीन होना चाहिए। व्यापार के लिए वैश्य को जानो।[2] वैश्य का वाणिज्य से सम्बन्ध होने का कथन अन्यत्र भी किया गया है। यथा 'नापतौल के लिए वैश्य को जानें।[3] आगे चलकर स्मृति आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से वैश्य को वाणिज्य से सम्बद्ध कर व्यापार को वैश्य का स्वाभाविक (जातिगत) कर्म स्वीकार किया गया है।[4] वाणिज्य को हेय कार्य न मान कर उसके प्रति आदर व्यक्त किया गया है। 'वाणिज्य की मंत्रणा देने वाले मंत्री के प्रति नमस्कार हो।'[5]

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्धिशाली था। ऋग्वेद[6] में सिन्धु नदी की आर्थिक समृद्धि का सुन्दर चित्रण किया गया है।'सिन्धु नदी अश्व, रथ, वस्त्र, सुवर्ण के आभूषण, अन्न, ऊन आदि से परिपूर्ण रहती है तथा मधुयुक्त पुष्पों को धारण करती है।' इस वर्णन से सिद्ध होता है कि सिन्धु नदी के प्रदेश में उत्तम घोड़े, मवेशी, रथ आदि थे। पंजाब की उपजाऊ भूमि अच्छी-अच्छी फसलें उत्पन्न करतीं थी जिनसे लोगों का उदर निर्वाह होता था। ऊन भी बहुत अधिक मात्रा में तैयार किया जाता था, जिससे अच्छे-अच्छे कपड़े, कम्बल, शाल आदि बनाये जाते थे। उपरोक्त वर्णन व्यग्र औद्योगिक जीवन तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति का, समृद्धि का चित्र उपस्थित करता है।[7] इस प्रकार की समृद्धि से यह स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि तत्कालीन व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वैदिक काल में भी आज की तरह व्यापार दो प्रकार का था– (अ) आन्तरिक व्यापार, (ब) बाह्य व्यापार।

■ आन्तरिक व्यापार–

इससे तात्पर्य उस व्यापार का है जो तत्कालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों के मध्य होता था। उस समय कृषि की उपज व उद्योग-धंधों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती थी। यह कार्य व्यापारियों के दलों द्वारा सम्पादित किया जाता था। ये माल ढोने के लिए बैल, घोड़ों, ऊंटों, कुत्तों तथा गधों का प्रयोग किया करते थे। इस कार्य के लिए भैंस (महिष) का भी प्रयोग किया जाता था। जिसका उल्लेख ऋग्वेद में आता है।[8] इस प्रकार माल से लदे हुए पशुओं के साथ व्यापारियों के समूह एक स्थान

---

1. याभिः सुदानु औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधुकोशो अक्षरत् । ऋ. 1.112.11

2. मरुदभ्यो वैश्यम् । यजु. 39.5

3. तुलायै वणिजम् । यजु. 30.17

4. कृषि गोरक्षा वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । गीता 18.44

5. नमो मंत्रिणे वाणिजाय । यजु. 16.19

6. ऋग्. 10.75.8

7. वेदकालीन समाज, शिवदत्त ज्ञानी, पृ. 240

8. ऋग्. 8.12.8, 9.33.1

से दूसरे स्थान को जाते थे तथा माल बेचते व खरीदते थे। इन घूमने फिरने वाले व्यापारियों के अतिरिक्त स्थायी व्यापारी भी रहते थे। इन्हें अथर्ववेद में 'प्रपण' कहा गया है।[1]

बाह्य व्यापार–

वैदिक युग में आन्तरिक व्यापार के समान बाह्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। वेदों में नदियों और समुद्रों का उल्लेख है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का वर्णन है।[2] और कतिपय अन्य मन्त्रों में चार समुद्रों (चतुरः समुद्रः) का[3] जो आर्यों के देश 'सप्तसिन्धव' के चारों ओर विद्यमान थे। इन नदियों और समुद्रों में जाने-आने के लिये नौकाएँ प्रयुक्त की जाती थीं। इसके अनेक निर्देश वैदिक संहिताओं में विद्यमान हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में वरुण द्वारा 'समुद्र' के मध्य में ले जायी गई नाव का उल्लेख है।[4] ऋग्वेद में समुद्र में चलने वाली नावों (जहाजों) का वर्णन कितने ही स्थानों पर किया गया है। एक मन्त्र में कहा गया 'जैसे धन को चाहने वाले (परदेश जाने के लिए) समुद्र में जाते हैं उसी प्रकार हवि को ले जाते हुए चारों ओर जाने वाले स्तोता, उस इन्द्र के पास जाते हैं।'[5] यहाँ धन चाहने वाले को समुद्र में जाने के लिए कहा गया है। समुद्र में जाने से आशय समुद्र के मार्ग से जाने का है। ऋग्वेद समुद्र में जाने वाली नाव का विस्तृत वर्णन इस प्रकार करता है– 'मैं समुद्र में चलने वाली नाव को जानता हूँ।'[6] एक स्थान पर सौ मस्तूल वाले जहाज का भी वर्णन है।[7] जिसमें बैठकर भुज्यु नाम का नाविक समुद्र में बहुत दूर तक चला गया था व रास्ता भूल गया। अश्विन् की स्तुति करने पर वह वापस लौट आया। इससे सूचित होता है कि वैदिक युग में ऐसी बड़ी नौकाएं भी बनने लग गई थीं, जिन्हें खेने के लिए सौ चप्पू हुआ करते थे। अश्विनौ या नासत्या द्वारा ऐसी ही शतारित्रा नाव के द्वारा भुज्यु को अनारम्भण, अग्रभण - समुद्र के पार ले जाया गया था। भुज्यु की कथा ऋग्वेद में कई स्थानों पर दी गई है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में समुद्र में आने-जाने वाली नौकाओं की सत्ता थी। इन नौकाओं को अरित्रों (डांड या चप्पू) से भी चलाया जाता था, और पालें से भी। एक मन्त्र में ऋषि सौमय बुध ने अपने सखाओं को सम्बोधित करते हुए कहा है– 'नाव को अरित्रों के साथ तैयार कर दो।'[8] सिन्धु में चलने वाली नौका का विशेषण एक मन्त्र में पक्षी दिया गया है।[9] इससे उसमें भी पाल लगे होने का संकेत मिलता है। जिस नाव द्वारा भुज्यु को समुद्र के पार किया गया था, एक मन्त्र में उसे पतत्री (पक्षी) भी कहा गया है।[10] नदियों और समुद्र में जाने-आने वाली

---

1. अथर्व. 3.15.5

2. उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः । ऋग्. 10.136.2

3. रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।। ऋग्. 9.33.6

4. आ युद्रहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम् । ऋग्. 7.88.3

5. तं गूर्त्तयो नेमन्निषं परीणसः समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः ।। ऋग्. 1.51.2

6. वेद नावः समुद्रियः । ऋग्. 1.25.7, 1.48.3, 1.116.3, 2.48.3, 7.88.34

7. यदश्विना ऊध्युर्युयुमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् । ऋग्. 1.116.5

8. ऋग्. 10.101.2

9. युवमेत चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मवन्तं पक्षिणं तौग्रयाय कम् । ऋग्. 1.182.5

10. ऋग्. 10.143.5

नौकाएँ सवारी के लिए तो प्रयुक्त होती ही थीं पर उनके द्वारा व्यापार के माल को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता होगा, यह कल्पना असंगत नहीं होगी। अथर्ववेद के एक सूक्त में समुद्र में उत्पन्न होने वाले कृशन तथा शंख का उल्लेख है। कृश से मोती तथा सीपी अभिप्रेत है। इनसे एक कवच (ताबीज) बनाया जाता था, जिसे सौ वर्ष की दीर्घायु देने वाला वर्चस् और बल प्रदान करने वाला तथा रक्षा करने वाला समझा जाता था।[1] ऋग्वेद में भी 'कृशन' का उल्लेख है, जिससे रथों तथा घोड़ों को अलंकृत किया जाता था।[2] ये शंख तथा कृशन नौकाओं द्वारा समुद्र से ही लाए जातें थे। इनका क्रय और विक्रय भी होता था। लोग इन्हें या तो अलंकरण के लिए क्रय करते थे, और या इनसे कवच (ताबीज) बनाये जाते थे।

वेद में समुद्र स्थित द्वीपों यद्वा स्थानों का वर्णन भी मिलता है।[3] समुद्र-यात्रा के पूर्व देवताओं का स्मरण किये जाने का उल्लेख भी है।[4] समुद्र का स्वामी वरुण जहाजों के मार्गों व वायु के मार्गों को जानता है, ऐसा उल्लेख ऋग्वेद में है।[5]

वैदिक युग में समुद्र पार के देशों के साथ भारतीय आर्यों का सम्बन्ध था, कतिपय अन्य तथ्यों द्वारा भी यह सूचित होता है। वर्तमान समय में जहाँ ईराक और तुर्की के राज्य हैं, प्राचीन समय में वहाँ अनेक ऐसी सभ्यताओं की सत्ता थी, जिनके भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि उनका भारत के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध भी था। ईराक की युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी में विद्यमान प्राचीन सभ्यताओं के तीन हजार साल ईसवी पूर्व के अवशेषों में सागौन की लकड़ी मिली है, जो पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में नहीं होती। यह माना जाता है कि उसे जलमार्ग द्वारा भारत से ही ले जाया गया होगा। प्राचीन समय में पश्चिमी एशिया के विविध देशों के साथ भारत का सम्बन्ध समुद्र द्वारा ही अधिक क्रियात्मक एवं सम्भव था।[6]

इन्हीं समुद्री मार्गों द्वारा वैदिक युग के आर्य धन-धान्य की वृद्धि के लिए सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिये जाया-आया करते थे, और विपुल ऐश्वर्य प्राप्त करते थे, तभी यह देश अत्यन्त ऐश्वर्यशाली था। **डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा** जैसे कतिपय लेखक वैदिक युग में सामुद्रिक व्यापार और वाणिज्य की बात से असहमत हैं।[7] किन्तु वेद स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का वर्णन करता है। आधुनिक युग के महान् वेद भाष्यकार **महर्षि दयानन्द** अपने वेदभाष्य में पदे-पदे सामुद्रिक व्यापार के प्रमाण देते हैं। यथा जलयान में बैठकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने जावे।[8]

---

1. अथर्ववेद 4.10.4-7
2. ऋग्. 1.35.4, 1.126.4
3. ऋग्. 1.169.3, 10.10.1
4. ऋग्. 4.53.6
5. ऋग्. 1.25.7
6. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृ. 332
7. वैदिक राजनीति शास्त्र पृ. 26, 27;
8. यजुर्वेद द.भा 21.6, 7, 8,

नौकादि यानों में शिक्षित मल्लाह आदि को रख समुद्रादि के उस पार आ जा सके तथा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरों में विनिमय-व्यापार करके धन का संग्रह करें।[1]

'छिद्र रहित बड़ी नाव में स्थित होकर, समुद्र आदि को पार कर देशान्तर और द्वीपान्तरों में जा आकर भूगोल में स्थित देश और द्वीपों को जानकर लक्ष्मीवान् होवें।[2]

अच्छे दृढ़ विमान आदि यान पर बैठकर देश-देशान्तर को जाकर-आकर व्यापार वा विजय से धन और प्रतिष्ठा को प्राप्त करे।[3]

इस प्रकार देश की उन्नत अर्थ-व्यवस्था के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा माल लाना ले जाना आवश्यक है। जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता वहाँ राष्ट्रीय सम्पन्नता नहीं हो सकती। इस विषय में महर्षि लिखते हैं– 'क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य या व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश में ही देशीय लोग व्यवहार नहीं करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार या राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।[4]

वाणिज्य और पणि (वणिक्) :

वेदकालीन वाणिज्य के सम्बन्ध में विचार करते समय पणियों पर विचार करना भी बहुत आवश्यक है। वाणिज्य का सम्बन्ध पणियों से विशेष रूप से जुड़ा है। 'पणि' शब्द व्यवहारार्थक 'पण्' धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका निरुक्तिगम्य अर्थ है– व्यवहार करने वाला, व्यापार से जीविका चलाने वाला। पण् धातु से निष्पन्न अनेक शब्द आज भी भाषा में प्रचलित हैं। मनुष्य जिस स्थान पर क्रय-विक्रय करता है, उसे 'विपणि' या आपण(बाजार) कहते हैं। 'पणि' का अर्थ निरुक्त में वणिक् किया गया है– 'पणि, वणिक् (बनिया) होता है।'[5] व्याकरण की दृष्टि से भी 'वणिक्' शब्द 'पण्' धातु से इन् प्रत्यय तथा पकार को व आदेश करने पर निष्पन्न होता है।[6] इस प्रकार वणिक् शब्द वस्तुतः पणि है।

वेदों में अनेक सूक्तों में पणियों का उल्लेख है। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के 108वें सूक्त में पणियों और सरमा का संवाद है। यह संवाद इस प्रकार प्रसिद्ध है कि सरमा को इन्द्र ने अपनी दूती बनाकर पणियों के पास भेजा था। ये पणि 'रसा' के पार रहते थे। उन्होंने इन्द्र की गौवों को चुराकर एक सुरक्षित तथा गुप्त स्थान पर छिपा दिया था। इन्द्र ने सरमा को अपनी दूती बनाकर इन्द्र के पास भेजा, और वह रसा नदी के सुविस्तीर्ण जल को पार कर उस दुर्जय पुर में जा पहुँची,[7] जहाँ पणियों का निवास था। सरमा को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस पर इन्द्र ने पणियों पर आक्रमण कर दिया, और उन्हें

---

1. *नमः पायये चार्वाय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च ।*
   नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च । यजु. द.भा. 16.42
2. *यजु. द.भ. 21.6*
3. *ऋ.द.भा. 1.106.2*
4. *सत्यार्थप्रकाश द.स. पृ. 249*
5. *पणिर्वणिग् भवति । निरुक्त 2.17*
6. *पणेरिजादेशश्च वः । उणादि सत्र*
7. *ऋग्. 10.108.1*

परास्त कर अपनी गौवें वापस लौटा लीं। इस सरमा-पणि संवाद में जिन मन्त्रों का उच्चारण पणियों की ओर से किया गया है, उनके देवता **'पणयोऽसुरा:'** कहे गये हैं, जिससे पणियों के असुर होने का संकेत मिलता है। बृहद्देवता में उन्हें स्पष्ट रूप से असुर कहा गया है और ऋग्वेद की कथा को बहुत सरल भाषा में प्रस्तुत किया है।[1] ऋग्वेद के अनुसार पणियों की निधि (कोषागार) पहाड़ से सुरक्षित थी, और गौवों, घोड़ों तथा वसुओं (धन-सम्पत्ति) से परिपूर्ण थी।[2] ऋग्वेद के इस सूक्त से यह संकेत भी मिलता है कि पणि लोग इन्द्र से सर्वथा अपरिचित थे, इसलिए उन्होंने सरमा से प्रश्न किया था कि यह इन्द्र कैसा है, क्या यह हमारा मित्र बन सकता है।[3] इन्द्र आर्यों का प्रधान देवता था। उससे अपरिचित होना भी यही सूचित करता है कि पणि लोग आर्य-भिन्न असुर जाति के थे। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में पणियों को 'अराधस:' (याज्ञिक अनुष्ठान न करने वाले) कहा गया है।[4] उनका एक विशेषण 'बेकनाट' भी पाया जाता है जिसका अभिप्राय यास्क ने इस प्रकार स्पष्ट किया है– बेकनाट कुसीदी (सूदखोर) होते हैं, धन को दुगना किया करते हैं, दुगना करने की उनकी इच्छा रहती है।[5]

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि पणि एक आर्यभिन्न जाति थी, जो वैश्यवृत्ति से अपना निर्वाह किया करती थी। वह गौ, अश्व आदि पशु पालती थी, सूद का व्यवहार करती थी और व्यापार के लिए दूर-दूर के प्रदेशों में जाया करती थी। अनेक विद्वानों ने पणियों और फिनीशियन लोगों का एकत्व प्रतिपादित किया है। भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों में जिस फिनीशियन जाति का प्राचीन काल में निवास था, वह 'प्यूनिक' कहाती थी। प्यूनिक लोग भी प्रधानतया व्यापारी ही थे। पणि और प्यूनिक में साम्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। किसी प्राचीन समय में इन पणियों का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। उत्तर में रसा नदी के परे निवास करते थे, और समुद्र के मार्ग से सप्तसिन्धव देश तथा पश्चिम के देशों में जाकर व्यापार किया करते थे।

ये पणि लोग न आर्यों के प्रधान देव इन्द्र को जानते थे, और न आर्यों के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड को मानते थे। वे आर्यों की गौवें भी चुराकर ले जाते थे। इस अवस्था में आर्यों का उनके प्रति विरोधभाव होना सर्वथा स्वाभाविक था। पणि स्वभाव से कंजूस, लोभी, स्वार्थी आदि दुर्गुणों से युक्त माने गये हैं।[6] इन्हें भेड़ियों के समान तक कहा गया है।[7] पणि धनवान तथा व्यापारी तो अवश्य माने गये हैं, पर अदानी, यज्ञ आदि न करना आदि देव विरोधी अवगुणों की भी कमी उनमें नहीं थी। वेद में पणियों को मृत्युदण्ड तक देने की बात कही गई है– 'हे अश्विदेवो! कृपण, लोभी पणियों का समूल वध करो।[8] सोमपान से अनन्दित होते हुए हे अश्विदेवो! तुम दोनों पणियों का समूल वध करो'[9] हे इन्द्र

1. बृहद्देवता 8.24
2. ऋ. 10.108.7
3. ऋग्. 10.108.3
4. ऋग्. 8.64.2
5. बेकनाटा खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति । निरुक्त 6.16
6. ऋग्. 6.61.4
7. ऋग्. 6.51.14
8. किमत्र दस्रा कृणुथ:किमासाथे जनो य: कश्चिदह विर्महीयते । ऋग्. 1.182.3
9. उत पणी हितर्म्या मदन्ता । ऋग्. 1.184.2

दान न देने वाले पणियों (बनियों) को पांव से कुचल।'[1] ऋग्वेद के एक मन्त्र में पूषा से प्रार्थना की गई है कि पणियों के हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर दो।[2] पणियों की स्वार्थवृत्ति के कारण उन्हें उपेक्षित करते हुए एक स्थान पर कहा गया है– 'हे इन्द्र! जिसके लिए तू घोड़े, गौ आदि धारण करता है, दक्षिणा देने वाले, सोमरस निकालने वाले, यजमान में ही उस धन को तू दे, पण्य व्यवहार करने वाले (अदानी) केवल व्यापार मात्र करने वाले कंजूस को ना दे।[3] पणियों को स्वार्थीवृत्ति से विमुख कर दान की ओर प्रवृत्त करना भी बड़ा कार्य माना गया है– 'हे धनवान इन्द्र! उन्होंने अपने दानों से पण्य करने वालों को भी दानशील बना दिया, उस मित्रता के लिए हमको स्वीकार कर।[4]

पणियों के प्रति उक्त कठोर एवं उपेक्षित दृष्टिकोण उनके दुर्गुणों के कारण ही व्यक्त किया गया है। इसलिए कहा है– 'जो पणि (बनिया) न भोगने वाला कंजूस है, जो देवों को भी नहीं देता, सारे ज्ञानियों से वह नीच है, ऐसा हम सुनते हैं।[5]

पणियों के प्रति इतने कठोर और तिरस्कार पूर्वक व्यवहार के निर्देश के होते हुए भी कुछ ऐसे प्रसंग भी वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं, जिनमें कतिपय पणियों की प्रशंसा भी की गई है। ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों का ऋषि बार्हस्पत्य शंयु है, और देवता तक्षा बृवु। यह बृवु पणियों में मूर्धन्य एवं वरिष्ठ था। पेशे से वह तक्षा (बढ़ई) था, और उसकी उपमा गंगा के तट पर उगे हुए विशाल वृक्ष से दी गई है। सब कारु (शिल्पी) उसका आदर करते थे और दान के लिए उसके पास धन ऐसे बहता था जैसे वायु बहती है। वह बड़ा दानी था, और उसने ऋषि भरद्वाज को बहुत-सी सम्पत्ति (जो संभवतः गौओं के रूप में थी) दान में दी थी।[6] पणि-मूर्धन्य बृवु की जो यह कथा सूत्ररूप से ऋग्वेद में दी गई है, उसे अधिक स्पष्ट तथा विशद रूप में बाद के साहित्य से जाना जा सकता है। उसके अनुसार एक ऋषि भारद्वाज भूख और प्यास से पीड़ित हुए जंगल में फिर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति जंगल से लकड़ी काट रहा है। इसका नाम बृवु था। ऋषि की दुर्दशा देखकर बृवु ने उन्हें दान दक्षिणा देने का विचार किया। पर यह सोचकर उसे संकोच हुआ कि वह हीन कुल का है, कहीं ऋषि उसका दान स्वीकार न करें। पर भारद्वाज से आश्वासन प्राप्त कर बृवु ने उन्हें बहुत-सी गौवें प्रदान की। इस कथा की स्मृति मनुस्मृति[7] में भी विद्यमान है औरं नीतिमंजरी में भी, जहाँ लिखा है कि द्विज को संकट के समय असाधु से भी दान ले लेना चाहिए, जैसे कि भूख से पीड़ित भारद्वाज ने तक्षा बृवु के दान को स्वीकार कर लिया था। बृवु की कथा से यह संकेत मिलता है कि बृवु जैसे पणि बढ़ई का भी काम

1. *पदा पणीरराधसौ निबाधस्व महां असि । अथर्व. 20.93.2*
2. *ऋग्. 6.53.7*
3. *यमिन्द्र दधिषे त्वमखं गां भागमव्यम् । यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ । ऋग्. 8.97.2*
4. *सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नुभिष्टो नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था ।*
   ये ते हवेभिवि पणीरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै ।। अथर्व. 20.37.9
5. *यश्च पणि रघुजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः ।*
   धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ।। अर्थव. 20.128.4
6. *ऋग्. 6.46.31-33*
7. *मनुस्मृति 10.107*

किया करते थे। संभवत: अपने इस शिल्प का उपयोग वे उन नौकाओ के निर्माण के लिए करते थे, जिन द्वारा वे सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के प्रयोजन से आते-जाते थे। भारत के आर्यों से उनका विरोध ही नहीं रहता था अपितु उनके साथ निरन्तर सम्पर्क के कारण वे उन्हें दान-दक्षिणा आदि भी देने लग गए थे।

एक स्थान पर इन्द्र को पणि कहा गया है।[1] यजुर्वेद में कहा गया है- 'हे यज्ञ! वैश्य के धर्मद्वारा अर्थात् वाणिज्य द्वारा हम नवीन ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए तेरा अनुगमन करें।'[2] पुरुष सूक्त में यदि ब्राह्मण को शीर्षस्थ स्थान मुख तथा क्षत्रिय को बाहु बताया गया है तो पणि कहे जाने वाले वैश्य को उदर बताकर सम्मानित किया गया है।[3] जिस प्रकार शरीर के मध्यभाग उदर में मनुष्य शरीर को स्वस्थ तथा उन्नत रखने के लिए उत्तमोत्तम सामग्री पहुँचाने का यत्न करता रहता है और यदि उदर में पहुँचाई गई सामग्री रस आदि बनकर शरीर के अन्य अंगों तक नहीं पहुँचती है तो शरीर रोग-ग्रस्त होकर क्षीण होने लगता है। ठीक इसी प्रकार पदार्थों को सर्वत्र पहुँचाने में वैश्य (पणि), समाज का केन्द्र होता है, यदि वैश्य सामग्री को अपने पास ही एकत्रित करके अन्य वर्गों तक उचित प्रकार से नहीं पहुँचाता है तो समाज निर्बल हो जाता है। समाज स्वस्थ एवं उन्नति की ओर अग्रसर रहे, इसलिए पणियों (वणिकों) के प्रति सतर्क एवं सावधान रहने का बार-बार कथन किया गया है।

डॉ. अ.स. अल्टेकर ने इन पणियों के सम्बन्ध में एक नया विचार उपस्थित किया है।[4] उनके अनुसार भारत में आर्यों के आगमन का समय ई. पू. 2000 वर्ष के आसपास निश्चित कर तथा हरप्पा निवासियों व आर्यों का ई. पू. 2000-1500 तक सह-अस्तित्व सिद्ध कर उन्होंने हरप्पा निवासियों को ऋग्वेद में उल्लिखित पणियों से सम्बन्धित किया है। पणि लोग व्यापारी थे, ब्याज खाने वाले व अत्यधिक धनवान थे। इसी प्रकार हरप्पा निवासी भी व्यापारी थे व बहुत धनवान थे। उनके व्यापारिक प्रतिनिधि बेबिलोनिया में रहते थे। खुदाई में उनके जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे आर्थिक दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न थे। घघ्घर (प्राचीन सरस्वती) नदीके कछार में से हरप्पा-संस्कृति के बहुत से चिह्न खोद निकाले गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि हरप्पा निवासी सरस्वती नदी के किनारे बसे थे। ऋग्वेद[5] में उल्लेख आता है कि सरस्वती नदी के किनारे पणियों को बहुत बार पराजित किया गया था। दिवोदास ने इसी नदी के किनारे पणियों से युद्ध किया था।[6] हरियूपीया में इन्द्र ने आर्यों के लिए जिन शत्रुओं का संहार किया था वे कदाचित् हरप्पा- निवासी ही रहे होंगे।[7] इस प्रकार **डॉ. अल्टेकर** के मतानुसार ऋग्वेद में वर्णित पणि हरप्पा- संस्कृति

---

1. *आ त्वा पणिं यदीमहे । ऋ. 8.45.14*
2. *विशस्त्वा धर्मणा वयमनुक्रामाम सुविताय नव्यसे । यजु. 39.9*
3. *ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । उरू तदस्य यद्वैश्यः. . . .। यजु. 31.11*
4. *इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस - प्रोसिडिंग्ज ऑफ दि ट्वेन्टीसेकन्डे सेशन 1959, गौहाटी, पृ. 20-22*
5. *ऋग्. 6.16.1*
6. *ऋग्. 6.61.1-3*
7. *ऋग्. 6.27.5-6*

के अनुयायी थे।

वाणिज्य से पणियों का सम्बन्ध होने के कारण उनकी स्थिति तथा निवास आदि के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न स्थापनाएँ की हैं। पणि व्यापारी हैं, इसमें मतवैभिन्य नहीं, पर पणियों की निवास स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपनी-अपनी कल्पनाएँ की हैं। कुछ विद्वान् **बेकनाट** शब्द के आधार पर पणियों का सम्बन्ध बेबिलोनिया से जोड़ते हैं, कुछ विद्वान् उन्हें आर्य-व्यापारी मानकर उनके द्वारा आर्य संस्कृति का पश्चिम में प्रचार होना स्वीकार करते हैं।[1] कतिपय इतिहासकार पणियों को एशिया के पश्चिमी तटवर्ती प्राचीन देश फिनिशिया के निवासी फिनिशियन्स से सम्बन्धित करते हैं।[2] वे पणि को फिनिशियन्स मानते हैं। फिनिशियन्स प्राचीन काल के प्रभावशाली व्यापारी रहे हैं, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्य सागर व उसके तटवर्ती देश थे। इसीलिए फिनीशिया व्यापारियों का राष्ट्र कहलाया।[3] **डॉ. अविनाशचन्द्र दास** नाम तथा व्यवहार की समानता के बल पर फिनीशियनों को पणियों का ही प्रतिनिधि मानते हैं।[4] **डॉ. बेवर** ने पणियों का सम्बन्ध बाबुल से बताया है जो कि अन्य विद्वानों को मान्य नहीं हुआ।[5]

पणि-वणिक के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए **पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय** ने लिखा है– "वणिक् का कार्य समाज को धन-धान्य से पूर्ण करना होता है, न कि उसका रक्त चूसना। यदि वणिक् अपनी मानवीय दुर्बलताओं के कारण औचित्य की सीमाओं का अतिक्रमण करने लग जाय तो वणिक् पद से च्युत होकर 'पणि' बन जाता है। धन के अनुचित रीति से संग्रह करके रखने और चोर बाजारी करने वाले व्यापारी के लिए 'पणि' शब्द निन्दात्मक भाव में प्रयुक्त होता है। पणि शब्द पूंजीवाद के अनुचित हथकंडों के प्रति क्रोध एवं असन्तोष का प्रकाशन प्रतीत होता है। व्यापारियों के लिए एक सीमा निर्धारित कर दी गई है जिसका अतिक्रमण करने की अनुमति नहीं थी। व्यापार न केवल समाज के लिए अपितु स्वयं व्यापारियों के लिए साधन होता है, साध्य नहीं होता। सीमा का अतिक्रमण हो जाने पर समाज को सम्पत्ति की तथा व्यापारियों को आध्यात्मिकता की हानि होती है। वह कौन-सा उपाय है, जिससे व्यापारी को इस हानि का बोध हो जाये, दुःख तो इस बात का है कि व्यापारी अपनी इस हानि को लाभ मानता है। यह उसके हृदय की संकीर्णता है। इसी संकीर्णता के कारण वह व्यापारी 'पणि' का दुष्ट व्यापारी बन जाता है।[6]

■ व्यापार में सुधार–

महर्षि दयानन्द सरस्वती व्यापार में विद्यमान अशुचिता एवं असत्य व्यवहार से बहुत चिन्तित थे। वे एक स्थान पर लिखते हैं कि व्यापारियों को वाणिज्य-व्यवसाय में पूर्ण

1. *वैदिक एज - भारतीय विद्या भवन, पृ. 248-249*
2. *क.मा. मुशी, गुर्जरदेश, जिल्द 1, पृ. 59-61, 87*
3. *सिनोवस - एन्शियन्ट सिविलिजेशन, पृ. 80-84*
4. *डॉ. ए.सी. दास - ऋग्वैदिक इंडिया, परिच्छेद 11, पृ. 180-197*
5. *वैदिक इण्डेक्स भाग 2, पृ. 39-70*
6. *गंगाप्रसाद उपाध्याय - वैदिक संस्कृति, पृ. 148, 150, 151*
7. *व्यवहारभानु,*

ईमानदारी बरतनी चाहिए[7] महर्षि ने ऋग्वेदभाष्य में यह भी लिखा है कि व्यापार करने वाले व्यापारियों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने के लिए विदेशी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। तभी वह समुचित ढंग से व्यापार कर सकते हैं।[1] उनका यह भी मानना है कि गणित का ज्ञान अर्थशास्त्र का मूल है। बिना गणित ज्ञान के न उत्पादन हो सकता है और न विनिमय-व्यापार आदि।[2]

उनका यह मत है कि जो व्यापारी देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में व्यापार करने जावें उनकी सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध राज्य करे।[3] राजा देश-देशान्तर में व्यापार करने वाले व्यापारियों को सुरक्षित स्थान प्रदान करें।[4]

▪ आवागमन के साधन–

वेद में अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट निर्देश है कि राजा देश में मनुष्यों को सुखपूर्वक आने-जाने तथा व्यापार के सुविधापूर्वक चलने के लिए स्थान-स्थान पर सड़कें बनवायें तथा नदियों पर पुल बाँधकर उन्हें सुगमता से पार करने योग्य बनायें। दुर्गम पर्वतों आदि पर भी राज्य सुव्यवस्थित मार्गो का निर्माण करें।[5] समुद्र, भूमि, अन्तरिक्ष में रथ, नौका, विमानों के लिए सरल, दृढ़, तथा कण्टक, चोर, डाकू के भय आदि दोष से मुक्त मार्गो का सम्पादन राजा को करना चाहिए, ताकि निर्भय होकर लोग आना-जाना कर सकें।[6] अथर्ववेद के एक मन्त्र में तीन प्रकार की सड़कों के निर्माण का स्पष्ट उल्लेख है–

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तँ पन्थानं ज्येमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ।।[7]

इस मन्त्र में कहा गया है कि राष्ट्र में संचार के लिए बहुत से मार्ग होने चाहिए, ऐसा न हो कि सभी प्रकार का यातायात एक ही सड़क पर गड्ड-मड्ड हो जाये। या तो तीन प्रकार की सड़कें सर्वथा अलग-अलग हों, या एक ही सड़क इतनी चौड़ी हो कि उसके तीन भाग किये जा सकें और प्रत्येक भाग मनुष्यों, गड्ढों और रथों के आने-जाने के लिए नियत कर दिया जाना चाहिए। मनुष्यों के मार्ग से अभिप्राय यहाँ पैदल चलने वाले मनुष्य के मार्ग से है। गड्ढे से अभिप्राय भार ढोने वाले तथा मन्दगति से चलने वाले यानों से है। रथ तीव्रगामी यानों का बोधक है। इन तीनों के लिए पृथक्-पृथक् मार्ग बनें होने से यानों के टकराने से दुर्घटनाएँ होने की संभावना बहुत कम हो जायेगी और सड़कें भी देर से खराब होंगी। व्यापार भी निर्विघ्न रूप से चलता रहेगा।

प्राचीन भारत में आर्य लोग वेद की इस शिक्षा के अनुसार नगरों का निर्माण करते

---

1. ऋग्. द.भा. 1.122.14
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, गणितविद्या, पृ. 109
3. ऋग्. द.भा. 1.112.11
4. यजु. द.भा. 6.3
5. सुगोत ते सुप्रथा पर्वतेष्ववाते अपस्तरसि स्वभानो ।
सा न आ वह पृथुयामनृष्वे रयिं दिवो दुहितरिषयध्यै ।। ऋग्. 6.64.4
6. सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते । नात्रावखादो अस्ति वः । ऋग्. 1.41.4
7. अथर्व. 12.1.47

थे कि उनके बाजारों में प्रत्येक प्रकार के यातायात के लिए अलग-अलग मार्ग होते थे। अयोध्या नगरी का मनोहारी वर्णन करते हुए आदि कवि ने लिखा है– **'सुविभक्तमहापथाम्'**।[1]

वेद का वर्णन केवल नगर के राजमार्गो के लिए ही नहीं था, अपितु सम्पूर्ण मातृभूमि को सम्बोधित करके कहा गया है जिसका अभिप्राय यह है कि देश के नगरों में और एक नगर को दूसरे नगर में मिलने वाले सभी मार्ग इसी प्रकार सुविभक्त होने चाहिए।

मन्त्र में दूसरी महत्व की बात यह है कि इन मार्गों पर सबको समान रूप से चलने का अधिकार है। मन्त्र में कहा है– 'उन मार्गो पर भद्र और पापी दोनों प्रकार के लोग मिलकर चलते हैं।' पापियों को राज्य की ओर से दण्ड भले ही मिलेगा परन्तु जब तक उसका पाप प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक राष्ट्र की सड़कों पर उनका चलना कोई भी रोक नहीं सकता। वे सबके साथ मिलकर चलते हैं।

मन्त्र में तीसरी बात है– 'तेरे उन मार्गों को हम विजय करें।' इसका भाव यह है कि हम उन मार्गों पर विजयी की भाँति चलें, हमारे अन्दर सदैव विजय का भाव रहना चाहिए पराजय का कदापि नहीं।

एक अन्य महत्त्व की बात है मार्गों की सुरक्षा। राज्य की ओर से मार्गों पर ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि यात्रियों को किसी प्रकार से शत्रु और चोर आदि का भय न हो।

चौथी बात यह है कि चोर आदि के भय निवारण के अतिरिक्त और भी जितने प्रकार के सुप्रबन्ध मार्गों पर राज्य की ओर से हो सकें किये जाने चाहिएं। यह व्यवस्था मार्गो के मध्य-मध्य में जल और भोजन का प्रबन्ध, निवास स्थानों का प्रबन्ध, सड़कों पर वृक्ष लगवाकर छाया का प्रबन्ध आदि के द्वारा की जा सकती है।

▪ राजमार्गों में नदियों पर पुल निर्माण–

जब यातायात के लिए लम्बी-लम्बी सड़कों का निर्माण होगा तो मार्ग में आने वाली नदियों पर पुलों का निर्माण भी आवश्यक होगा, यदि पुल न बनाये जा सकें तो नदियों को पार करने का प्रबन्ध करना भी वेद में राजा का कर्तव्य बताया गया है। उदाहरण रूप में वेद के निम्न मन्त्र दर्शनीय हैं–

– **सुतरणां अकृणोरिन्द्र सिन्धून् । ऋग्. 4.19.6**

अर्थात् हे इन्द्र (सम्राट्)। तुम नदियों को सुतरणा अर्थात् सुगमता से तरने योग्य बना देते हो।

– **नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः । ऋग्. 9.96.1**

इन्द्र (सम्राट्) के राज्य में जो नदियां वेग से प्रवाहित होती हैं वे लोगों के पार जाने के लिए सुपारा अर्थात् सुगमता से पार करने योग्य बनी हुई हैं।

– **निषू नमध्वं भवता सुपारा सिन्धवः । ऋग्. 3.33.9**

हे नदियों! तुम नीचे हो जाओ, और सुपारा अर्थात् सुगमता से पार करने योग्य बन जाओ।

इन मन्त्रों में वर्णित राष्ट्र की नदियों को सुतरणा और सुपारा उन पर पुलों का निर्माण

---

1. वाल्मीकि रामायण - बा.कां. 5.7

करके अथवा उत्तम नौकाओं की व्यवस्था करके ही बनाया जा सकता है। प्रथम-द्वितीय मन्त्रों में कथित सुतरणा, सुपारा का संकेत दोनों ओर है जबकि तीसरे मन्त्र में कथित सुपारा: शब्द से पुल बंधवाने का भाव ही अभिव्यक्त हो रहा है। क्योंकि यहाँ कारीगरों (कारु) द्वारा सुपारा बनाने का वर्णन है। वेद का कारु शब्द शिल्पी के लिए ही प्रयुक्त होता है, नौका चलने वाले माँझी के लिए नहीं। क्योंकि कारु का मूल अर्थ है बनानेवाला, जबकि मांझी चलाने वाला होता है, बनाने वाला नहीं।

इस प्रकार सुगम आवागमन के मार्गो के होने पर वाणिज्य फलता-फूलता है और राष्ट्र आर्थिक सुदृढ़ता को प्राप्त करता है।

▪ व्यापारियों के संगठन–

वैदिक युग में उद्योग एवं व्यापार के भलीभांति विकास के लिए शिल्पी और व्यापारी लोग अपने संगठन बनाने और उन संगठनों के अनुशासन में रहने की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। इन विविध प्रकार के आर्थिक संगठनों के लिए प्राचीन समय में 'समूह' शब्द प्रयुक्त होता था। शिल्पियों के समूह को 'श्रेणि' कहते थे और व्यापारियों के समूह को 'निमग' या 'पूग'। श्रेणियों और निगमों के अपने संगठन विद्यमान थे।

उत्तर-वैदिक युग में ही विविध शिल्पों का अनुसरण करने वाले सर्वसाधारण जनता के व्यक्ति अपने संगठन बनाकर आर्थिक उत्पादन में तत्पर रहते थे। संगठित होकर ये अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित करते थे। समाज के संगठन का विकास प्रदर्शित करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में पहले ब्रह्म और क्षत्र के निर्माण का प्रतिपादन कर 'विश:' के सम्बन्ध में लिखा है कि क्योंकि अकेले ब्रह्म और क्षत्र से ही काम नहीं चल सकता था, अत: 'विश:' की उत्पत्ति की गई। ये 'विश:' गणों में संगठित होकर ही अपने-अपने कार्य करते हैं।[1] शंकराचार्य ने उपनिषद् के इस वाक्य पर टीका करते हुए लिखा है कि 'कार्य के साधन और धन उपार्जन के लिए 'विश:' को उत्पन्न किया गया। ये विश: 'गणप्राय:' ही हैं, क्योंकि वे संहत होकर ही वित्त के उपार्जन में समर्थ होते हैं, अकेले-अकेले नहीं। इसलिए उनमें गणों की सत्ता होती है।[2] इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में सर्वसाधारण विश: या जनता के शिल्पियों और व्यापारियों आदि ने गणों या समूहों में संगठित होकर आर्थिक उत्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

उद्योग धंधों और वाणिज्य के विकास ने व्यापारिक संघों को जन्म दिया। भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले अपना एक संघटन बना लेते थे, जो उनके हितों की रक्षा करता। वैदिक साहित्य में तो विभिन्न वर्गो के गणों का उल्लेख आता है– जबकि वेदोत्तर काल में व्यावसायिक संघों का विशेष वर्णन है। रामायण और महाभारत में इन संघों को निगम, गण और श्रेणी नाम दिया गया था। कुछ संघ आत्मरक्षा के लिए सेनायें भी रखते थे।

बौद्ध-साहित्य में इन संघों का विस्तृत वर्णन है। संघ दो प्रकार के होते थे– 1. शिल्पियों के, 2. व्यापारियों के। एक ही प्रकार की शिल्पकला या व्यापार से आजीविका प्राप्त करने

---

1. स नैव व्यभवत्, स विशमसजृत, यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते । बृह. 1.4.12

2. 'क्षात्रसृष्टोऽपि स नैव व्यभवत्, कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत्, वित्तोपार्जयितुरभावात् । स विशम- सृजत् कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय । क: पुनरसौ विट्? यान्येतानि देवजातानि . . . . . गणश: गणं गणं आख्यायन्ते कथ्यन्तेगणप्राया हि विश: । प्रायेण संहता हि वित्तोपार्जनसमर्था: नैकैकश: ।

वाले व्यक्ति अपना संघ बना लेते थे। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार समाज की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के तथा 'राजनीति' के संचालन में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता था। शिल्पियों की श्रेणियों के अध्यक्ष कुलक, जेट्ठक, ज्येष्ठ या प्रमुख कहलाते थे।

विभिन्न वस्तुओं के व्यापारी मिलकर एक सार्थ बना लेते थे तथा किसी प्रमुख व्यापारी को सार्थवाह निर्वाचित करते थे। उसकी अध्यक्षता में उनकी व्यापार यात्राएँ होती थीं।

अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर सामूहिक रूप से भी व्यापार करते थे। **'कूटवणिजजातक'** में उल्लेख है कि अश्वविक्रेता व्यापारियों का इस प्रकार का एक संघ था। इसके सदस्य समान रूप से धन का विनियोग करते थे। उनको समान रूप से लाभ प्राप्त होता था।

संघों के संघटनों के अपने नियम और कानून होते थे। इन नियमों को शासन की ओर से भी मान्यता प्राप्त थी। संघों के प्रमुखों का निर्वाचन कुल परम्परा या मतदान से किया जाता था। कभी-कभी राजा भी उसकी नियुक्ति में रुचि रखते थे। संघों की कार्यकारिणी परिषद् भी होती थी। संघों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। संघों के सदस्यों के पारस्परिक विवादों का निर्णय संघ के विधान के अनुसार संघ प्रमुख द्वारा किया जाता था। राजा का कर्तव्य था कि संघों के निर्णयों का पालन करावे।[1]

ये संघ बैंक का कार्य भी करते थे। इनके द्वारा धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता था। सामान्यजन इनके पास अपना धन धरोहर के रूप में भी रख सकते थे और ब्याज पा सकते थे। ब्याज के विशिष्ट कार्यो में व्यय करने के लिए मन्दिर-पाठशाला आदि चलाने के लिए व्यय करने का निर्देश दिया जा सकता था। संघ इन कर्तव्यों का पालन करते थे। संघों द्वारा सार्वजनिक हित के कार्य किये जाते थे। इनके द्वारा धार्मिक तथा शैक्षणिक संस्थाओं को चलाया जाता था। मन्दिर बनवाना, यज्ञों का आयोजन करना, अनाथालय बनवाना आदि परोपकार के कार्य संघों द्वारा किये जाते थे। संघों की गतिविधियों का राजा द्वारा निरीक्षण भी किया जाता था।

ये संगठन एक ओर व्यापारियों के हितों की रक्षा करते थे, दूसरी ओर व्यापार से अर्जित सम्पत्ति का एक अंश प्रजाहितकारी कार्यो में व्यय करते थे, इसलिए ये बहुत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण थे।

▪ कुसीद–

वेद में कुसीद् अर्थात् ब्याज के सम्बन्ध में यद्यपि कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं है, तथापि कुसीद वृत्ति को प्रशस्य नहीं माना गया है। **'कुसीद जीवि'** शब्द के प्रयोग से यह संकेत अवश्य मिलता है कि वैदिक काल में व्यापारी लोग ब्याज द्वारा धन अर्जित करते थे। मर्यादित रूप से ब्याज लेना बहुत निन्दनीय नहीं था। मनु ने जीवन निर्वाह के दस हेतुओं में कुसीद को सबसे अन्त में रखा है।[2] ब्याज कितना लिया जाना चाहिए इस विषय में भी स्मृतिग्रन्थों

---

1. *जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।*
   समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्म प्रतिपादयेत् ।। मनु. 8.41
   यो ग्रामदेश सघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
   विसंवेदन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत् ।। मनु. 8.219
2. *विद्याशिल्पंभृतिः सेवागोरक्ष्य विपणिः कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः । मनु. 10.116*

में स्पष्ट व्यवस्था है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने रुपये पर ब्याज लेने की व्यवस्था दी है। उनके चिन्तन का आधार वेद है, इसीलिए इस पर विचार करना उपयोगी है। वे सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं– एक सैकड़े रुपये में चार, छः, आठ, बारह, सोलह या बीस आनों से अधिक ब्याज और मूलधन से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में दो रुपये से अधिक न लेना और न देना।[1]

महर्षि के अनुसार ब्याज की दर 20 प्रतिशत वार्षिक से अधिक किसी भी दशा में नहीं होनी चाहिए। यदि ब्याज की दर बहुत बढ़ा दी जाती है तो उसी अनुपात में मुद्रा की कीमत घटने से बाजार में महंगाई के साथ-साथ भ्रष्टाचार में वृद्धि होगी।

प्राचीन काल में ऋण देने के सम्बन्ध में दो प्रकार की प्रथायें थी। एक तो बंधक रखकर ऋण दिया जाता था, दूसरे बिना बन्धक के। बन्धक रखकर ऋण देने वाला व्यक्ति यदि उस वस्तु का उपयोग करता था तो उसका ब्याज लेने का अधिकार नहीं होता था।[2] वस्तु का स्वामी यदि दस वर्ष तक उस वस्तु का दावा न करे तो उस वस्तु को पुनः पाने का अधिकारी नहीं रहता था।[3]

ब्याज की दर 1.25 प्रतिशत से 2 प्रतिशत तक होती थी।[4] किन्तु यह दर क्षत्रिय से 3, वैश्य से 4 और शूद्र से 5 प्रतिशत तक हो सकती थी।[5] ऋण लेने वाला अधमर्ण कहलाता था। वह एक करण (हैण्डनोट) लिख देता था। निर्धारित समय पर यदि वह मूलधन को अथवा ब्याज और मूलधन को देने में असमर्थ होता था तो उसका कर्त्तव्य होता था कि ब्याज देकर नया करण लिख दे।[6]

स्मृतियों की व्यवस्थानुसार राज्य इस बात की देखभाल करता था कि ऋणदाता ऋणग्रहीती को अनुचित रूप से सताने न पावे। वह ऋणग्रहीता को इन बातों से बचाता था[7]–

1. निश्चित दर से अधिक ब्याज लेना।
2. चक्रवृद्धि ब्याज (सूद पर सूद) लेना।
3. कालिक ब्याज (दूसरे महीनों में ब्याज की दर बढ़ाकर) लेना।
4. कारित ब्याज (आपत्तिकाल में दबाव डालकर बढ़ाया गया ब्याज) लेना।
5. कायिक ब्याज लेना (ऋणग्रहीता को सूद के बदले में दास बनाना)।

वैदिक अर्थव्यवस्था में कुसीद भी आजीविका का एक साधन था। किन्तु कृषि, पशुपालन के समान प्रशंसनीय नहीं था। असीमित या अमर्यादित ब्याज ग्रहण सर्वथा निन्दनीय एवं अपराध की श्रेणी में था।

❑

---

1. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 84

2. न त्वे बाधौ सोपकारे कौसीदी बृद्धिमाप्नुयात् । मनु. 8.143

3. यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि सन्निधौप्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति । मनु. 8.147

4. अशीतिभाग गृह्णीयान्मासाद् वार्धुषिकः शते । द्विकं शतं वा गृह्णीयाद् सतां धर्ममनुस्मरन् ।। मनु. 8.140

5. द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् । मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः ।। मनु. 8.142

6. ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत् पुनः क्रियाम् । स दत्वा निश्चितां वृद्धि करणं परिवर्तयेत् ।। मनु. 8.154

7. कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति,
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ।
नातिसावत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टा पुनर्हरेत्,
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ।। मनु. 8.152-153

सप्तम अध्याय

अर्थोपार्जन को राजकीय संरक्षण

राष्ट्र को प्रत्येक क्षेत्र में सुदृढ़, सुव्यवस्थित, शक्तिसम्पन्न बनाने का मुख्य दायित्व राज्य का होता है। राजकीय संरक्षण में ही उद्योगों का विकास, व्यापार की वृद्धि, पशुधन की समृद्धि और उत्तम कृषि संभव होती है। वैयक्तिक स्तर पर बहुत से उपाय सार्थक नहीं हो पाते। उदाहरणरूप में वर्षा के जल के अभाव में खेतों की सिंचाई नहीं हो सकती, प्रत्येक किसान अपने खेत को सींचने के लिए तालाब या नहर के पानी की व्यवस्था नहीं कर सकता। देश में बड़ी-बड़ी नहरों की स्थिति व्यक्तिशः संभव ही नहीं है, राज्य ऐसी विशाल नहरों का निर्माण करा कर लाखों हैक्टेयर भूमि की सिंचाई की व्यवस्था कर सकता है। खेती के लिए बड़ी मात्रा में ऊर्वरकों की आवश्यकता रहती है, कोई एक व्यक्ति कारखाना बनाकर उसमें अपने खेत के लिए खाद का निर्माण नहीं कर सकता। ऐसे ही पशुपालन आदि सब कुछ राजकीय संरक्षण के बिना अपनी उत्तम अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते।

गत अध्यायों में कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार आदि के सम्बन्ध में विचार करते समय यह तथ्य भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है कि राजा इन सबकी वृद्धि में पूर्ण सहायता प्रदान करे। राजकीय संरक्षण में ही कृषि आदि का विकास होता है।

कृषि को राजकीय संरक्षण–

कृषि की सफलता निम्न चार बातों पर निर्भर करती है–

1. उर्वरा भूमि, खेती के औजार, पशु, उत्तम बीज और उत्तम खाद।
2. सिंचाई के साधन।
3. प्रशिक्षित किसान।
4. खेती को हानि पहुँचाने वालों पर नियन्त्रण।

भूमि को उर्वरा बनाने के लिए जो उत्तम खाद आदि की आवश्यकता होती है, वह राजकीय संरक्षण से ही संभव है। वेद स्पष्ट रूप से इन्द्र या अग्निरूप राजा को यह निर्देश देता है कि हे अग्नि (सम्राट्)! पर्वतों, औषधियों, अर्थात् सब प्रकार के अन्नों और जलों में जो धन है तू उन सबका राजा है।[1] राजा को चाहिए कि वह पर्वतों और जलों में होने वाले पदार्थों तथा अनेक प्रकार के अन्नों की, कृषि की उन्नति कराके उनसे राष्ट्र के धन

---

1. *या (वसूनी) पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु . . . असि तस्य राजा । ऋग्. 1.59.3*

की वृद्धि करे।

एक अन्य मन्त्र में राजा से प्रार्थना की जा रही है– हे बहुतों द्वारा चुने गये इन्द्र (राजन्) हम आपकी विद्याओं की शिक्षा से (गोभिः) बुरा आचरण कराने वाली अज्ञानता (अमति) को तर जायें और आपकी सहायता से मिलने वाले जौ आदि अन्न से हम भूख को पराजित कर दें।[1]

वेद के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की सम्मति में राजा को कृषि पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए और उसकी उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील होना चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह कृषि की उन्नति के लिए कुशल वैज्ञानिकों को इस कार्य के लिए नियुक्त करे।

इसी प्रकार वेद के **'भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु'**[2] **'क्षेत्रे यस्या विकुर्वते'**[3] **'कृष्यै त्वा'**[4] आदि मन्त्रों में भी यही भाव व्यक्त हो रहा है कि राजा को कृषि की उन्नति में विशेष रुचि लेनी चाहिए। इन मन्त्रखण्डों में कहा गया है कि ऐश्वर्यवर्धक राजा हमारी कृषि की वृद्धि करे। हमारी मातृभूमि के खेतों में भांति-भांति के काम होते हैं– नाना प्रकार की खेतियाँ होती हैं। यहाँ पर मातृभूमि अपने राष्ट्र के राज्य-प्रबन्ध का उपलक्षण है। क्योंकि बिना राज्य-प्रबन्ध के खाली मातृभूमि में कोई शक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती।

हे राजन्! हम तुम्हें कृषि के लिए राजा बना रहे हैं।

यजुर्वेद का नवम अध्याय राजसूय विषयक है। राजा का अभिषेक करते समय यह निवेदन किया जा रहा है। ऋग्वेद में 'इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु'[5] इस मन्त्र खण्ड में कहा है कि इन्द्र अर्थात् राजा सीता का निग्रह करे। इसका भाव यही है कि राष्ट्र की कितनी भूमि में हल चलेगा और उसमें क्या बोया जायेगा यह निर्णय करने का अधिकार राज्य का रहना चाहिये।

सिंचाई की व्यवस्था को राजकीय संरक्षण प्राप्त होने की बात वेदमन्त्रों में स्पष्ट देखी जा सकती है। नहरें राज्य की ओर से खुदवाई जायें इस भाव को व्यक्त करने वाली निम्न ऋचा दर्शनीय है–

'दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् बवार ।।[6]

अर्थात् वणिक जैसे गौओं को बाड़े में रेक कर रखता है वैसे ही जलाभाव से क्षीण कृषि की रक्षा करने वाले जल, शिला, भूमि आदि जल के गतिरोधक पदार्थों से रुके हुए थे। इन्द्र (राजा) ने जलविरोधक (वृत्रं) शिला, भूमि आदि को काट कर नष्ट कर दिया और

---

1. गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरूहूत विश्वम् । ऋग्. 10.42.10

2. अथर्व. 3.12.4

3. अथर्व. 12.113

4. यजु. 9.22

5. ऋग्. 4.57.7

6. ऋग्. 1.32.11

इस प्रकार जलों का जो मार्ग रुका पड़ा था उसे खोल दिया।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि चट्टानों को तोड़ कर, भूमि को खुदवा कर राजा बड़ी-बड़ी नहरों का निर्माण करायें, जिससे सिंचाई के अभाव में कृषि का अहित न हो।

किसानों को उत्तम कृषि साधनों का प्रशिक्षण देना तथा कृषि को हानि पहुँचाने वाले संकटों का निराकरण करवाना भी राज्य का दायित्व है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी यजुर्वेद भाष्य में कहा है कि सर्वत्र नहर आदि के द्वारा जल पहुँचाना, राजा का कार्य है।[1]

महर्षि ने खेती की पैदावार फसल, अनाज आदि को खाने वाले, हानि पहुँचाने वाले, अथवा नष्ट करने वाले चूहे, कौवे, टिड्डी, शूकर एवं स्याही आदि जन्तु मारने के लिये राज्य का कर्त्तव्य दर्शाया है।[2] उनके मत में किसानों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा स्थान-स्थान पर प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करना राजा का कर्त्तव्य है।[3]

प्राचीन काल में कृषि को हानि पहुँचाने वाले तत्त्वों को ईति कहा गया था। ये छह प्रकार की हैं– अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों का बाहुल्य, तोतों की अधिकता, टिड्डियों का प्रकोप तथा राजाओं का पड़ाव डालना। राजा का कर्त्तव्य था कि इन ईतियों से कृषि की रक्षा करे।

कृषि की रक्षा करने और उत्पादन बढ़ाने के लिए कठोर नियम बनाये गये थे। धर्मशास्त्रों का मत है कि जो कृषक खेती न करते हों, उनसे भूमि छीन कर, कृषि करने वाले कृषकों को दे देनी चाहिए। कृषि को हानि पहुँचाने वालों को कठोर दण्ड देना चाहिए। कृषि-सम्बन्धी विवादों का निर्णय शीघ्र होना चाहिए। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के अनुसार आलसी कृषक दण्डित होते हैं।

राज्य को नये प्रकार के उत्तम और दुर्लभ बीजों के संग्रह तथा वितरण का प्रबन्ध करना चाहिए।

▪ पशुपालन को राजकीय संरक्षण–

यजुर्वेद के एक मन्त्र में देशवासी सामूहिक प्रार्थना में परमात्मा से याचना करते हैं कि हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेज वाले ब्राह्मण, शस्त्र चलाने में निपुण महारथी, शूर क्षत्रिय उत्पन्न हों, साथ ही दूध देने वाली गायें, भार उठाने में समर्थ बैल, शीघ्रगामी अश्व उत्पन्न हों।[4]

राष्ट्र के कोने-कोने में पशुधन की वृद्धि हो, यह प्रार्थना वैयक्तिक न होकर सामूहिक है और यह तभी फलवती हो सकती है जब राजा स्वयं महान् कार्य का सूत्रधार अथवा संरक्षक बने। राजा के इस कर्त्तव्य का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। ऋग्वेद के एक संपूर्ण सूक्त में गोपालन के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर शिक्षाओं का वर्णन करते हुए राजकीय संरक्षण का

1. यजु. द.भा. 33.88
2. यजु. द.भा. 13-51
3. ऋग्. द.भा. 1.117.7
4. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो . . . दोग्ध्रीर्धेनुर्वोढानड्वानाशुःसप्तिः . . .। यजु. 22.22

संकेत दिया है। उदाहरण रूप में कुछ मन्त्र प्रस्तुत हैं–

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधति देवयुम् ।।

ऋग्. 6-28-2

अर्थात् इन्द्र (राजा) राज्य-संघटन के लिए अपना भाग देने वाले और इस प्रकार राज्य की आवश्यकताओं की तृप्ति करने वाले के लिए (शिक्षति) अपनी रक्षा देता है। और समीप पहुँच कर देता है। (स्वं) उसके धन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता और न अन्यों को करने देता, इसके (रयिं) धन को बार-बार बढ़ाता हुआ सम्राट् रूप देव को अर्थात् राज्य के भले चाहने वाले इसको अभेद्य स्थान में रखता है।

गोरक्षा प्रसंग में इस मन्त्र में प्रयुक्त धन शब्द का अर्थ गौ समझना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गो-धन की आय में से राज्य को अपना देयांश देता रहता है, राज्य उसकी गौवों की रक्षा करता है और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता।

इसी प्रकार राजा का संरक्षण प्राप्त होने पर गौवें नष्ट नहीं होतीं। राज्य की ओर से गौवों में रोग न फैलें ऐसी व्यवस्था की जाती है। किसी की गौ को चोर नहीं चुरा सकते। शत्रु लोग उनको किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकते। –इस भाव को व्यक्त करने वाला निम्न मन्त्र पठनीय है–

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्चयाभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ।।[1]

निम्न मन्त्र में गौवों के क्रय-विक्रय पर राज्य का पूरा नियन्त्रण प्रतिपादित किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है–

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ।।[2]

अर्थात् सम्राट मुझे गौवें देवे, गौवें धन हैं, गौवें उत्कृष्ट सोम का भक्षण है। हे मनुष्यो! ये जो गौवें हैं वे परमैश्वर्य है– मैं हृदय और मन से इस परमैश्वर्य को ही चाहता हूँ।

इस मन्त्र में 'मुझे इन्द्र गौवें देवे' इस वाक्य से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि गौवों के क्रय-विक्रय पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहना चाहिए। कोई व्यक्ति जो गाय खरीदे उसे पहले राज्य के विशिष्ट कर्मचारी देख लें कि उसमें किसी प्रकार का रोग तो नहीं है।

पशुओं के पालन और संरक्षण के सम्बन्ध में उस युग में विशेष राजकीय नियम बने हुए थे। पशुओं पर अत्याचार करना तथा बिना कारण उनको पीटना वर्जित था। पशुओं की सुख-सुविधा के साधन राजा द्वारा किये जाते थे। पशुओं को हानि पहुँचाने वालों के लिए मृत्युदण्ड तक की व्यवस्था थी। पशुओं के चरने के लिए शासन की ओर से चरागाहों की व्यवस्था होती थी। पशुओं की चिकित्सा की उचित व्यवस्था के नियम बने हुए थे। मनु ने विधान किया था कि पशुओं की समुचित चिकित्सा न करने वाले को प्रथम साहस दण्ड

---

1. *ऋग्. 6.28.3*
2. *ऋग्. 6.28.5*

देना चाहिए।[1] पशुओं को पीड़ा पहुँचाने तथा चुराने के लिए भी मनु ने दण्ड की व्यवस्था की थी।[2]

शिल्प उद्योग को राजकीय संरक्षण–

जैसे कृषि और पशुपालन के लिये राजकीय संरक्षण आवश्यक है, वैसे ही शिल्प और उद्योग का विकास भी राज्य-प्रश्रय के बिना संभव नहीं है। राज्य जब सच्चे दिल से चाहता है, कि मेरे राज्य में शिल्पकलाओं का और उद्योगों का गरिमामय रूप बने तभी इनकी समृद्धि होती है। प्राचीन भारत का इतिहास इसका साक्षी है। वेद में हमें ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिनमें राज्य को निर्देश दिया गया है कि वह इन्हें संरक्षण और नाना प्रकार की सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन देकर इनकी अभिवृद्धि करे। एक मन्त्र में राजा से प्रार्थना की गई है कि हे सम्राट्! (इन्द्र) तेरे गुणों की स्तुति करने वाले अथवा अपनी विद्या का उपदेश करने वाले शिल्पियों की आप अपने रक्षा साधनों द्वारा रक्षा कीजिए–

एवा न इन्द्रोतिभिरव याहि गृणतः शूर कारून् ।

ऋग्. 5.33.7

इसी तरह एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हे इन्द्र (सम्राट्) आप शिल्पियों के हजारों विघ्नों को मार डालते हो–

'यत् कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः ।।

ऋग्. 1.53.6

शिल्प उद्योग पर जब भी कोई संकट आता है तो उस संकट के निवारण के लिए शिल्पी जन राजा को ही स्मरण करते हैं। इस भाव को निम्न मन्त्र में अभिव्यक्त किया गया है–

इमा उ त्वा पुरूतमस्य कारोर्हव्यं वीर हव्या हवन्ते ।[3]

अर्थात् संकट के समय बुलाने योग्य (हव्य) हे ! वीर सम्राट् (इन्द्र) बड़े-बड़े (पुरुतमस्य) शिल्पियों की पुकारें (हव्या) तुम्हें बुलाती हैं।

राजा शिल्पियों की रक्षा करता है। इसलिए उन्हें राजा का गुणगान करना चाहिए और सदैव राज्य के अनुकूल आचरण करना चाहिए। मन्त्र सन्देश देता है–

'त्वामिद्धि त्वायवो ऽनुनोनुवतश्चरान् । सखाय इन्द्र कारवः ।।[4]

अर्थात् हे सम्राट् (इन्द्र) सदा तुझे चाहने वाले और तेरी वन्दना करने वाले तेरे मित्र (सखायः) ये शिल्पी लोग (कारवः) तेरे अनुकूल चलते हैं।

शिल्पियों का कर्त्तव्य है कि वे सदा अपने राष्ट्र के राजा से प्रेम रखें और उसकी आज्ञाओं को मानकर उसके अनुकूल चलें। दूसरी ओर राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने देश के शिल्पियों

---

1. चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ।। मनु. 9.282

2. असंदितानां संदाता संदितानां तु मोक्षकः ।
दशाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्विषम् ।। मनु. 8.342

3. ऋग्. 6.21.1

4. ऋग्. 8.92.33

को अपना मित्र समझे क्योंकि उनके ऊपर ही राष्ट्र का अभ्युदय निर्भर है।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में (इन्द्र) राजा को 'कारुधाया:'[1] कहा गया है। इस विशेषण का अर्थ है कारू लोगों को धारण करने वाला। धारण करने का अभिप्राय है, अपने अधिकार में रखना, पालन पोषण करना, रक्षा करना आदि। इस प्रकार राजा को अपने राष्ट्र में शिल्पी लोगों को नाना प्रकार से प्रोत्साहित करना चाहिए। उनकी रक्षा करनी चाहिए और उनके कार्यो पर अधिकार और निरीक्षण रखना चाहिए।

हम पंचम अध्याय में चर्चा कर चुके हैं कि उद्योगों का विशेष प्रशिक्षण देने के लिये राज्य की ओर से शिक्षणालयों की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए।

वेदभाष्यकार **स्वामी दयानन्द** ने भी अपने वेदभाष्य में राज्य को यह निर्देश दिया है कि वह उद्योग-व्यवसायों को उन्नत बनाने में अपना योगदान दें। वे लिखते हैं–

'हे राजन्! आप शूरवीर शिल्पीजनों की रक्षा करें।'[2]

'राज पुरुषों को चाहिए कि मन के समान वेगवाले बिजली आदि पदार्थो से युक्त अनेक प्रकार के रथ आदि यानों का निर्माण करा प्रजाजनों को सन्तोष देवें।[3]

'जो शिल्पविद्या में निपुण होते हैं उनका यथायोग्य सत्कार राजा आदि को करना चाहिए।'[4]

'हे इन्द्र! कृपा करके हम लोगों में उत्तम धन देने वाली सब शिल्प विद्या के उत्तम विद्वानों को सिद्ध कीजिये।'[5]

छोटे-बड़े उद्योग एवं शिल्प का विकास राजकीय संरक्षण के बिना कथमपि संभव नहीं है। क्योंकि एक उद्योग को चलाने के लिए अनेक विभागों के सहयोग की आवश्यकता रहती है, वह राजकीय संरक्षण से ही प्राप्त हो सकता है।

■ वाणिज्य को राजकीय संरक्षण–

राष्ट्र की समृद्धि के प्रमुख अंग के रूप में वाणिज्य का स्थान होता है। छठे अध्याय में विस्तार से इसकी चर्चा की जा चुकी है। व्यापार करने वाले सामान्य रूप से वैश्य या वणिक् जन होते हैं। इनके परिश्रम और बुद्धि-कौशल से वाणिज्य की वृद्धि होती है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार द्वारा हमारे राजकोष में विदेशी मुद्रा का समावेश होता है। यह व्यापार राजकीय संरक्षण के बिना कथमपि निर्विघ्न रूप से विकसित नहीं हो सकता। अथर्ववेद के वणिक् सूक्त (3.15) के अध्ययन से यह स्पष्ट है। इस सूक्त में इन्द्र (सम्राट्) राजा को ही सबसे बड़ा व्यापारी मानते हुए उससे प्रार्थना की गई है कि वही हमारा नेता बनें। सम्राट् और वणिक् के इस औपचारिक तादात्म्य का भाव यही है कि सम्राट् को राष्ट्र के वाणिज्य-व्यवसाय की वृद्धि में विशेष प्रयत्न करने वाला होना चाहिए।

---

1. ऋग्. 3.32.10, 6.21.8, 6.24.2, 6.44.12,15

2. ऋ. द.भा. 5.33.7

3. ऋ. द.भा. 1.117.2

4. पुनाने तन्वा मिथ: स्वेन दक्षेण राजथ: । ऊह्याथेसनादृतम् । ऋ.द.भा. 4.56.6

5. ऋ.द.भा. 1.31.8

व्यापार में बाधा डालने वाले चोर-डाकू, हिंसक पशुओं तथा अराजक तत्त्वों को हटाकर व्यापारियों के लिये निर्भय और निरापद वातावरण बनाने का दायित्व भी राज्य का है।

सभी प्रकार के वाहन सुगमतापूर्वक इधर-उधर जा सकें, आवागमन में किसी प्रकार की असुविधा न हो इस दृष्टि से सुन्दर-सुन्दर मार्गो का निर्माण, नदियों पर पुलों का निर्माण अथवा नौकाओं की व्यवस्था और व्यापारियों के लिए लम्बे मार्गों में भोजन, विश्राम आदि की व्यवस्था भी राज्य का कर्त्तव्य है।

व्यापार में कहीं कोई विवाद उत्पन्न हो तो उसका न्याय करना और अपराधियों को दण्ड देना। साथ ही व्यापार में जो वणिक् छल कपट या मिलावट करते हैं उनको रोकने का कार्य भी राज्य का है।

राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये ताकि वैश्यों की रुचि सदैव व्यापार में बनी रहे। रुचिपूर्वक किये गए कार्य में ही सफलता प्राप्त होती है। राजकीय संरक्षण से व्यापार में रुचि उत्पन्न होती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार मानकर उत्पादन करने वालों को राज्य की ओर से उत्पादन के साधन दिये जाने का निर्देश देते हैं। उन साधनों से उत्पादन कर व्यक्ति द्वारा अपने लिये और सम्पूर्ण समाज तथा राष्ट्र के लिए उपभोग के साधनों की पूर्ति राज्य के अनुशासन में स्वतन्त्र रूप से की जाए– यह मानते हैं। उनका यह भी विचार है कि विनिमय-व्यापार के साधनों पर भी राज्य का नियन्त्रण रहे। राज्य व्यापारियों से कर वसूलता है तो उसका यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वह व्यापारियों को व्यापार करने में सहयोग करे तथा विनिमय-व्यापार आदि की व्यवस्था की ऐसी संरचना करे जिससे व्यापारी सुगमता से व्यापार कर सके।

राज्य-व्यापारियों की सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करे। उनके लिए यातायात के साधनों की व्यवस्था भी राज्य को ही करनी चाहिए।

व्यापार न केवल वैश्यों के लिए अपितु राज्य के लिए धनप्राप्ति का प्रमुख साधन है, जितना कर राजा को व्यापारियों से प्राप्त होता है, उतना किसी अन्य स्रोत से प्राप्त नहीं हो सकता। व्यापार के शान्तिपूर्वक विकसित होने के लिए सुन्दर सुरक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। सत्यमार्ग से व्यापार करने वाले वणिक् प्रायः शान्तिप्रिय होते हैं, वे ऐसे स्थानों पर व्यापार करना चाहते हैं जहाँ किसी प्रकार की अशान्ति न हो।

व्यापार के अनेक रूप होते हैं। जैसे– स्थानीय, अन्तर्देशीय, विदेशी व्यापार आदि। इसी प्रकार कृषिजन्य, पशुजन्य, उद्योगजन्य तथा खनिज एवं वनों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का व्यापार वैदिक काल से चला आ रहा है।

प्राचीन साहित्य में रस, धातु, मिश्रधातु, महारस, उपरस, साधारण रस, रत्न आदि की प्राप्ति और इनके व्यापार का उल्लेख मिलता है।

महान् अर्थशास्त्री चाणक्य ने समुद्र से तथा वनों से प्राप्त होने वाले पदार्थों के एकत्रित करने तथा उनके प्रबन्ध करने के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त करने का निर्देश दिया है।

मूल्यों के निर्धारण और शुद्ध वस्तुओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने में भी राजकीय

भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी गयी है।

व्यापार की दृष्टि से एक राज्य में उत्पन्न पदार्थों को दूसरे राज्य में पहुँचाने के लिए भी राजकीय भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी गयी है।

अन्तर्देशीय एवं विदेशी व्यापार में निश्चित रूप से राजकीय संरक्षण की आवश्यकता रहती है। क्योंकि जब अपने देश के व्यापारी दूसरे देश में जाते हैं अथवा विदेश के व्यापारी हमारे देश में व्यापार करने आते हैं, तब रक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न होने का भय रहता है, कभी-कभी व्यापार के साथ विदेशी संस्कृति का अज्ञात आक्रमण भी अनर्थकारी बन जाता है। इतना ही नहीं स्वदेशी का स्थान विदेशी वस्तुएँ ले लेती हैं और हम अपने ही घर में पराये हो जाते हैं। परिणामस्वरूप आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। इन सब बिन्दुओं पर प्रशासन का सजग होना अपरिहार्य है। किस वस्तु का आयात या निर्यात कितना हो यह देखना भी राजकीय दायित्व है। प्राचीन काल में दूसरे देशों से आने वाली और अपने देश से दूसरे देश जाने वाली वस्तुओं पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। राज्य की ओर से इस बात की देखभाल की जाती थी कि आयातित वस्तुओं के कारण राज्य के उद्योग और व्यापार को हानि न पहुँचे तथा अवांछनीय वस्तुओं का आयात न होने पावे। राज्य का गुप्तचर विभाग इस बात की निरन्तर देखभाल करता था।

प्राचीन भारत में व्यापार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, राज्य स्वयं व्यापार में भाग नहीं लेता था, परन्तु कुछ उद्योगों पर राज्य का अधिकार होता था। खानों, समुद्रों, और इनसे प्राप्त होने वाले स्वर्ण, रजत, हीरे, ताम्बा, सीसा, रांगा, लोहा, शिलाजीत आदि द्रव्यों को खानों से निकालने, कच्ची धातुओं को शुद्ध करने, समुद्रों से मोती, सीप, प्रवाल, शंख आदि निकालने और नमक तैयार करने का कार्य या तो राज्य को स्वयं करना चाहिए या इसके लिए लाइसेंस देना चाहिए, ऐसा अनेक अर्थशास्त्रियों का विचार है।

महाभारत के अनुसार राजा सर्वोच्च 'व्यापाराधिकृत' है।

▪ कराधान–

सर्वसाधारण के हित के कार्यों का संचालन करने के लिए सरकार जो धन जनता से अनिवार्य रूप में वसूलती है वह 'कर' कहलाता है।[1]

प्लेहन के शब्दों में 'कर' धन के रूप में दिया गया सामान्य अनिवार्य चन्दा है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए किये गये व्यय को पूरा करने के लिए नागरिकों से लिया जाता है।[2]

राज्य-व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए धन की नितान्त आवश्यकता होती है। इसीलिए धन को प्रशासन का जीवनरक्त तथा इंधन कहा जाता है। कुशल प्रशासन की समस्या के विविध तत्वों में वित्तीय प्रशासन से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं पेचीदा कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। इसलिए प्रशासन और अर्थ को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण

---

1. वितरण एवं राजस्व, पृ. 187

2. वही, पृ. 188

है कि भारतीय राज-दर्शन में राज्य के अर्थ-संग्रह के विभिन्न कारकों का विवेचन किया है जिसमें सर्वप्रमुख कर संग्रह है।

राजा प्रजाओं से कर लेकर ही धन प्राप्त कर सकता है। अतएव 'राजा प्रजाओं से कर लिया करे' ऐसा निर्देश अनेक वेदमन्त्रों में दिया गया है। इस विषय के कतिपय मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं–

इन्द्र सोमं पिब ऋतुनाऽत्वा विशन्तिन्दवः ।
मत्सरासस्तदोकसः ।। ऋग्. 1/15/1

हे इन्द्र! (राजन्) तू ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य का (सोमं) पान कर, ये ऐश्वर्य (इन्दवः) तुझे प्राप्त हों, तुझे हर्षित करने वाले हों और सदा तेरे घर अर्थात् राज्य-कोष में रहें।

इस मन्त्र में कुछ बातों पर विचार करना उचित होगा। मन्त्र के 'राजा ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य का पान करे' इस वाक्य का भाव यह है कि ऋतु-ऋतु में राज्य में जो नाना प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनका जो लेन-देन होता है उससे प्रजाओं को प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य में से राजा भी कुछ भाग लिया करे। जिससे वह राज्य-प्रबन्ध कर सके। 'यह ऐश्वर्य तुझे प्राप्त हो' का आशय यह है कि राजा को यह देखना चाहिए कि प्रजाओं से प्राप्तव्य धन राज-कोष में अवश्य प्राप्त होता रहे। उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार की ढील न रहे। 'हर्षित करने वाले हों' का भाव यही है कि राजा प्रजा से प्राप्तव्य धन को इस रीति से प्राप्त करे और उसका व्यय भी इस रीति से करे कि राजा और प्रजा सभी को हर्ष प्राप्त हो। 'तेरे घर अर्थात् राज्य-कोष में रहे।' का अभिप्राय यह है कि राज्य-कोष कभी रिक्त नहीं रहना चाहिए। वह सदा धन से भरा रहे।

इस मन्त्र में सोम और इन्द्र दोनों शब्द अन्य अर्थों के साथ ऐश्वर्य के वाचक हैं। इन्द्र शब्द 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से तथा सोम शब्द 'षु' प्रसवैश्वर्ययोः' से निष्पन्न होता है। इस प्रकार धात्वर्थ के बल पर इनका ऐश्वर्य (धन-सम्पत्ति) अर्थ-सर्वथा उपयुक्त है। वेद की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम शब्द पशु[1], दधि[2], अन्न[3], रस[4], औषध[5], आदि अनेक अर्थों में व्याख्यायित हुआ है।

ये सारी वस्तुएँ मिलकर ही ऐश्वर्य कहलाती हैं। इतना ही नहीं स्पष्ट रूप से सोम को सुवर्ण अथवा श्री कहा गया है।[6]

ऋतु-ऋतु के अनुसार सम्राट् द्वारा ऐश्वर्य पान का भाव यही होगा कि वह प्रजा के ऐश्वर्य से कुछ भाग प्राप्त करे। अर्थात् प्रजाओं से उनकी आय के अनुसार कर प्राप्त करे।

---

1. पशवो हि सोमः । शत. 12.7.2.2

2. सोमो वै दधि । कौ. 8.9

3. अन्नं सोमः । शत. 3.3.4.28

4. रसः सोमः । शत. 7.3.1.3

5. सौम्या ओषधयः । शत. 12.1.1.2

6. श्रीर्वै सोमः । शत. 4.1.3.9
सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरूदक्रामत् तत्सुवर्ण हिरण्यमभवत् । तै. 1.4.7.4, 5

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है-

मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमा सोमपीतये ।
सजूर्गणेन तृम्पतु ।। ऋग्. 1/23/7

अर्थात् मरुतों (सैनिकों) वाले इन्द्र (सम्राट्) को हम बुलाते हैं कि वह हमारे ऐश्वर्य (सोम) का पान करे। हमसे ऐश्वर्य लेकर वह (सम्राट्) अपनी सेना आदि राज्य कर्मचारियों के समूह के साथ तृप्त होकर रहे।

यहाँ प्रजाओं को कहा गया है कि उन्हें सदा ही अपने ऐश्वर्य में से राज्य का देय भाग प्रदान करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। राजकीय कर देने में आनाकानी न करके स्वेच्छा से अहमहमिकया राज्य को कर प्रदान करना चाहिए।

इस प्रकार ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में शिक्षा दी गई है-

'सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् ।' ऋग्. 3.47.2

अर्थात् राष्ट्रोन्नति के बाधक विघ्नों को मारने वाले (वृत्रहा) हे विद्वान, इन्द्र (सम्राट्) आप हमारे ऐश्वर्य का पान कीजिए।

यहाँ भी सोमपान की प्रार्थना द्वारा वही उपदेश दिया गया है। यहाँ पर इन्द्र के लिए 'विद्वान्' विशेषण महत्त्वपूर्ण है। विद्वान् का अर्थ है जानने वाला, समझदार। राजा प्रजाओं से कर प्राप्त करे, लेकिन बहुत सोच-समझकर, वह इतना कर ले, जिसको लोग सुगमतापूर्वक प्रदान कर सकें। प्रजाओं को कर-भार से इतना न लाद दे कि वे उस भार को उठा ही न सकें, तभी कर-चोरी की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है।

प्राचीन अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों में करके पर्याय रूप में दो शब्द प्रचलित थे- भाग और बलि। अमरकोष में कर, बलि, भाग तीनों पर्यायवाची माने गये हैं।[1]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि हे राष्ट्र में से बुरी बातों को छुड़ाने और अच्छी बातों को राष्ट्र में लाने वाले (यविष्ठ) अग्ने (सम्राट्) प्रजाजन (क्षतयः) समीप और दूर सब कहीं से कर (बलि) लाकर तुझे देते हैं।[2]

इस ऋचा में तो एकदम स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि राजा को राष्ट्र की राजधानी के निकट या दूर कहीं भी रहने वाले प्रजाजनों से कर प्राप्त करना चाहिए। यहाँ करके लिए बलि शब्द का प्रयोग हुआ है, जोकि संस्कृत के ग्रन्थों में प्रायः देखने को मिलता है।

जो-जो ईमानदारी से राजा को कर प्रदान करते हैं उन्हें सुख ही सुख मिलता है। इस भाव को व्यक्त करने वाला निम्न मन्त्र दर्शनीय है-

'य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति ।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ।।[3]

अर्थात् अपने व्यवहारों की सिद्धि चाहने वाले जो प्रजाजन (राजा उसके बदले में हमारी रक्षा करेगा ऐसी) कामना वाले मन के साथ अपने पूरे दिल से इन्द्र (सम्राट्) के

1. *अमरकोष, पृ. 148, श्लोक 27, पृ. 257 श्लोक 164*
2. *तुभ्य भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात् । ऋ. 5.1.10*
3. *ऋग्. 10.160.3*

लिए ऐश्वर्य उत्पन्न करके देता है, उसकी गौवों (गाय, भूमि आदि) को यह राजा नहीं छीनता और उसके लिए यह प्रशंसनीय और मंगल ही मंगल करता है।

भाव यह है कि जो राजा को कर रूप में ऐश्वर्य प्रदान करते हैं उन्हीं का मंगल और रक्षण राज्य करता है। जो राज्य को कर प्रदान न करे उनकी गौ, भूमि आदि को भी सम्राट् छीन सकता है।

जो धनवान होकर भी राजा को नियमानुसार कर नहीं देते उन्हें यह नहीं समझना चाहिए कि वे चालाकी से बच जायेंगे। राज्यकर्मचारी ऐसे करवंचकों का पता लगाकर उनके सामने जा पहुँचेंगे और उन्हें वश में कर लेंगे। वे किसी प्रकार छूट नहीं सकते। जो निर्धन हों उन्हें कर देने की कोई आवश्यकता नहीं। धनी होकर भी राजा, को कर न देने वालों को वेद ब्रह्मद्वेषी मानता है। इस भाव को अभिव्यञ्जित करने वाली निम्न ऋचा दर्शनीय है–

'अनुष्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम् ।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ।।[1]

इस मन्त्र में ब्रह्म का अर्थ राष्ट्र कर लेना चाहिए। अथवा इस ब्रह्म का अर्थ ज्ञान कर लिया जा सकता है। यदि राजा को कर प्राप्त न होगा तो वह राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्र में ज्ञान का, शिक्षा का प्रचार नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे लोग वास्तव में ब्रह्मद्वेषी ही हैं।

एक अन्य मन्त्र में प्रजा के लिए स्पष्ट रूप से 'बलिहृतः' अर्थात् 'कर देने वाली' विशेषण का प्रयोग हुआ है।

'अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्'।[2]

अर्थात् हे अभिषिच्यमान राजन्! इन्द्र ने प्रजाओं को, तुझे कर देने वाली और केवल तेरी ही होकर रहने वाली अथवा तुझे सुख देने वाली बना दिया है।

इसी प्रसंग में ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र दर्शनीय है–

'उत्तिष्ठतावपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन ।।'[3]

अर्थात्– प्रजाजनो! उठो, और ऋतु-ऋतु में देने योग्य जो इन्द्र (सम्राट्) का भाग है उसकी ओर देखो। यदि वह भाग पका हुआ (श्रातं) अर्थात् पूरी तरह तैयार हो तो उसे समय पर दे दो (जुहोतन) और यदि पका हुआ अर्थात् तैयार नहीं है (अश्रातं) तो राजा को यह वचन देकर कि अगली ऋतु में अर्थात् अगले वर्ष हम अपना भाग चुका देंगे, मस्त हो जाओ।

इस मन्त्र का 'कर' परक अर्थ सर्वथा सुसंगत है, क्योंकि कर के लिए बलि और भाग दो शब्दों का प्रयोग संस्कृत भाषा में प्रचुर प्रमाण में होता है, इस मन्त्र में भाग का प्रयोग हुआ है।

---

1. ऋग्. 10.160.4
2. ऋग्. 10.173.6
3. ऋग्. 10.179.1

प्रजाओं द्वारा राजा को कर देना अनिवार्य है, इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं– 'प्रजाजनों की योग्यता है कि सभाध्यक्ष को प्राप्त होकर उसके लिए अपने समस्त पदार्थों में से यथायोग्य भाग दे। जिस कारण राजा प्रजापालन के लिए संसार में उत्पन्न हुआ है, इसी से राज्य करने वाला यह राजा संसार के पदार्थो का अंश देने वाला होता है।[1]

'जो राजा न्यायपूर्वक प्रजा से कर लेता है वह सबको बढ़ाने योग्य होता है।'[2]

'राजा कर लगाने से पूर्व विचार करे - जैसे राजा और कर्मों का कर्ता राजपुरुष व प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त होवें वैसे विचार करके राजा तथा राज्यसभा राज्य पर कर स्थापन करें।'[3]

'जैसे जोंक, बछड़ा और भंवरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थो को ग्रहण करते हैं वैसे राजा, प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे।'[4]

महर्षि दयानन्द ने प्राय: वेद और मनुस्मृति के आधार पर अपने मन्तव्य प्रकाशित किये हैं। मनुस्मृति में मनु ने वेदाक्त सिद्धान्तों का ही पल्लवन किया है। वे वेद के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं। **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** कह कर इस भावना को मनु ने स्पष्ट रूप से उद्‌घोषित किया है। स्वामी दयानन्द भी वेद को ही सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानते हैं। अत: इन दोनों महापुरुषों ने जो कुछ कहा है, वह वेदानुकूल है।

▪ कराधान की पद्धति–

कराधान के सम्बन्ध में मनु का नामोल्लेख करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती राजा को उपदेश देते हैं कि जैसे जोंक शरीर के किसी अंग पर चिपकती है तो एकदम सारा ही रक्त नहीं चूसती अपितु धीरे-धीरे और थोड़ा-थोड़ा रक्त चूसती है। जैसे गाय का बछड़ा थोड़ा-थोड़ा दूध पीता है, और भवंरा थोड़े-थोड़े पुष्परस का पान करता है वैसे ही राजा को भी प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर लेना चाहिए। क्योंकि थोड़ा-थोड़ा कर लेने से प्रजा को अधिक भार प्रतीत नहीं होता और प्रजा बड़ी सुविधा से बिना किसी कष्ट के श्रद्धा से कर दे सकती है। कर निर्धारण का स्वरूप मनुजी इस प्रकार बताते हैं–

राजा को व्यापारी से कर लेते समय उसकी खरीद और बिक्री उस पर लाभ और भरण-पोषण-व्यय को ध्यान में रखते हुए कर लेना चाहिए।[5]

राज्य में व्यापार से जीविका करने वाले प्रत्येक व्यक्ति से राजा को थोड़ा-बहुत वार्षिक कर के नाम से कुछ न कुछ लेना ही चाहिए।[6]

राजा कर लेते समय लोभ न करे। अपितु लोभ करने से राजा और प्रजा दोनों के सुख

---

1. *यजु. द.भा. 6.30*
2. *विशश्चक्रे बलिहृत: ऋ.द.भा. 7.6.5*
3. *सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समु. पृ. 145*
4. *वही, पृ. 145*
5. *क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं सपरिव्ययम् ।*
   योगक्षेमं च सप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ।। मनु. 7.127
6. *यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्कर संशितम् ।*
   व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ।। मनु. 7.137

मूल नष्ट होते हैं।[1]

जिस प्रकार राजा, प्रजा की आय-व्यय की स्थिति देखकर कर लेता है और उसके बदले में वह उसी धन को प्रजा के परोपकार में लगा देता है, उसी प्रकार प्रजा का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह बहुत ही ईमानदारी से अपना कर्त्तव्य समझ कर राजा को बिना कर की चोरी किये कर देवे।[2]

अथर्ववेद में कहा गया है कि प्रजा को प्रसन्न होकर राजा को भाग, बलि और कर देना चाहिए।[3]

ऋग्वेद में एक मन्त्र से यह ध्वनि निकलती है कि राजा को प्रजा से कर वर्ष में दो बार लेना चाहिए। मन्त्र इस प्रकार है–

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम् ।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ।।[4]

अर्थात् हे इन्द्र (सम्राट्) तुम्हें देने योग्य (हवि) भाग पका हुआ है अर्थात् पूर्णरूप से तैयार है। सूर्य अपने मार्ग के मध्य में जा चुका है अर्थात् आधा वर्ष बीत चुका है हम तेरे मित्र प्रजाजन स्वजनों को लेकर (निधिभिः) तेरे पास आते हैं जैसे कि कुलों के रक्षक पुत्र गृहपति (व्राजपति) के पास आते हैं।

इस मन्त्र से यह संकेत मिल रहा है कि कर लेने के लिए वर्ष को दो भागों में बांट देना चाहिए। एक साथ पूरा कर लेने पर भार अधिक पड़ सकता है। वर्ष के एक भाग की समाप्ति पर उसका ऋत्विय प्रजाजनों को स्वयं अपने आपको राजा का मित्र समझते हुए राज्यकोष में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए।

वेदमनीषी आचार्य प्रियव्रत जी वेदवापचस्पति ने अन्य कुछ मन्त्रों द्वारा प्रजाओं से कर-ग्रहण की वेदोक्त पद्धति प्रतिपादित की है–

1. **इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनामिवा वहत् ।** **अथर्व. 1.8.1**
2. **यातुधानस्य सोमपं जहि प्रजाम् ।** **अथर्व. 1.8.3**
3. **सोमपा अभयङ्करः ।** **अथर्व. 1.21.1**
4. **बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ।** **अथर्व. 3.4.3**
5. **दीर्घनआयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ।** **अथर्व. 12.1.62**
6. **ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।** **अथर्व. 7.94.1**

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है–

(1) हमारे इस हवि अर्थात् राजा को दिये जाने वाले कर भाग ने यातुधानों अर्थात प्रजापीडकों को इस तरह बहा दिया है, जैसे नदी झाग को बहा देती है।

(2) हे हमारे ऐश्वर्य का पान करने वाले अग्नि (राजन्) तू प्रजापीडकों को नष्ट करदे।

---

1. यजु.द.भा. 23.28

2. ऋ.द.भा. 7.8.6

3. अच्छात्वायन्तु हविनः सजाता अग्निर्दतो अजिरः संचरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रतिपश्यासा उग्रः ।। अथर्व. 3.4.3

4. ऋग्. 10.179.2

ये दोनों मन्त्र खण्ड जिस सूक्त के हैं वहाँ अग्नि से यातुधानों (प्रजापीड़कों) को मारने की प्रार्थना की गई है। प्रजाजन कहते हैं कि हे सम्राट् हम तुझे ऐश्वर्य (सोम) की हवि देते हैं तू उसका पान कर और बदले में हमारी रक्षा कर।

(3) यह इन्द्र (सम्राट्) हमारे ऐश्वर्य (सोम) का पान करता है, उसके बदले में हमारे लिए अभय करता है।

(4) हे सम्राट् प्रजाओं से प्राप्त होने वाले प्रभूत कर (बलि) की ओर देख।

(5) हे मातृ-भूमि हम लम्बी आयु भोगते हुए तुझे कर (बलिं) देते रहें। मातृभूमि को कर देने का अभिप्राय अपने राज्य को कर देना है।

(6) ध्रुव दान द्वारा (हविषा) हम इन्द्र (सम्राट्) के पास ध्रुव ऐश्वर्य (सोम) पहुँचाते हैं।

यहाँ पर प्रजाजन कह रहे हैं कि हम स्थिर और निश्चित कर द्वारा राज्यकोष को स्थिर बना देते हैं। इस मन्त्र में प्रजाओं पर स्थिर रूप में कर लगाने का स्पष्ट निर्देश है।[1]

स्वामी दयानन्द के अनुसार करारोपण का अधिकार अकेले राजा को ही नहीं, अपितु इस कार्य के लिए सभा को अधिकृत किया जाना चाहिए। वे लिखते हैं 'विचार करके राजा तथा राज-सभा राज्य में कर स्थापन करे।[2] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं– सभा ही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है।[3] इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कर संग्रह और निर्धारण में सभा की सहमति और स्वीकृति आवश्यक है।

कर संग्रह करने वाले अधिकारी एवं कर्मचारीगण सत्यनामी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारी, निष्पक्ष तथा विद्वान् पुरुष होने चाहिए। जिससे शोषण, अन्याय अथवा अधर्म की संभावना न रहे।

▪ कर-संग्रह के सूत्र–

महर्षि दयानन्द ने वेद के आधार पर कर-संग्रह के सम्बन्ध में सुन्दर मार्गदर्शन किया है–

(1) राजा को उतना ही ऐश्वर्य (धन) धारण करना चाहिए कि जितना सेना और प्रजा के पालन और मन्त्रियों की रक्षा के लिये पूरा हो।[4]

(2) राजा को राज्य का भाग (अंश) ही ग्रहण कर भोग करना चाहिए न अधिक न न्यून।[5]

(3) अतिलोभ से अपने, दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे।[6]

(4) जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं।[7]

---

1. *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, आचार्य प्रियव्रत, पृ. 189-190*
2. *मनु. 7.28*
3. *ऋ.भा. भूमिका, पृ. 359*
4. *ऋ.द.भा. 3.37.10*
5. *ऋ.द.भा. 3.40.4*
6. *सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 102 (मनु. 7.136)*
7. *सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 102 (मनु. 7.112)*

(5) जो भी धन ले, तो इस प्रकार से ले कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावे।[1]

(6) जैसे राजा और कृषिबलादि प्रजा सुखी रहे, वैसा कर-प्रबन्ध प्रजा में करे।[2]

महर्षि ने ऋग्वेद का भाष्य करते हुए एक मन्त्र की व्याख्या में यह व्यवस्था दी है कि जो राजा सूर्य-मेघ के स्वभाव के सदृश स्वभाव वाला हुआ, धर्मशास्त्र में कहे हुए अष्टमास तक प्रजाओं से कर लेता है और चार मास यथेष्ट पदार्थों को देता है, इस प्रकार सब प्रजाओं को प्रसन्न करता है, वही सब प्रकार से प्रसन्न होता है।[3]

▮ कर-प्रयोजन-

वैदिक अर्थ-व्यवस्था का मूल मन्त्र है प्रजा-रंजन, रक्षण और संवर्धन। राजा, प्रजा तथा अन्य राजपुरुषों का यही कर्त्तव्य है कि वे ऐसी अर्थ-व्यवस्था को अपनायें जिसमें अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा, रक्षित की वृद्धि और बढ़े हुए धन से वेद-विद्या, धर्म-प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ-अनाथों का पालन हो।[4]

महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य करते समय कतिपय मन्त्रों की व्याख्या में कर-प्रयोजन को स्पष्ट किया है।

यथा - 'जो राजा प्रजा से कर लेके पालन न करे, तो वह राजा डाकुओं के समान है, इसीलिए प्रजा राजा को कर देती है कि जिससे यह हमारा पालन करे और राजा इसलिए पालन करता है कि जिससे प्रजा मुझको कर दे।'[5]

▮ करारोपण की मात्रा-

राजा किससे कितना कर ले इस विषय में कोई बहुत स्पष्ट दिशा निर्देश हमें वेद में प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु वेद यह निर्देश अवश्य देता है कि कर इतना लगाया जाना चाहिए जो प्रजाजनों को कष्ट देने वाला न हो। सब जन उसे प्रसन्नता से राजकोष में जमा कर सकें। इस विषय में ऋग्वेद का एक मन्त्र पठनीय है-

स जायमानः परमे व्योमन् वायुर्न पाथः परि पासि सद्यः ।
त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो शस्यन् ।।[6]

मन्त्र का अर्थ है - 'सबके हितकारी हे राजन्! (वैश्वानर) तुम प्रादुर्भूत होते ही रक्षा के साधन अपने उत्कृष्ट राज्यासन पर (परमेव्योमन्) बैठकर, वायु जैसे पानी को (पाथः) पीता है वैस ही प्रजा से कर रूप में प्राप्त पेय ऐश्वर्य को (पाथः) पीते हो (परिपासि) प्रजा में धन और ज्ञान उत्पन्न करने वाले हे राजन्! (जातवेदस्) प्रजा की कामनाओं को

---

1. *सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 108 (मनु. 7.130)*
2. *सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 102 (मनु. 7.128)*
3. *ऋग्. द.भा. 30.11*
4. *ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 112*
5. *ऋग्. द.भा. 1.114.3*
6. *ऋग्. 7.5.7*

पूरा करते हुए (दशस्यन्) तुम, जनों की चाहना से युक्त होकर (जनयन्) राष्ट्र में (भुवना) सन्तानों के लिए (अपत्याय) घोषणा करते हो (अभिक्रन्)।

इस मन्त्र में 'वायु जैसे जल पीता है वैसे ही तुम प्रजा से कर रूप में प्राप्त पेय ऐश्वर्य को पीते हो' इस वाक्य का भाव यह है कि वायु जैसे बिना जाने जल को पी लेता है वैसे ही राजा को भी प्रजा में धन-ग्रहण ऐसी सूक्ष्म रीति से करना चाहिये कि उनको मालूम ही न पड़े। अर्थात् उतना ही कर लेना चाहिए जो उन्हें पीड़ा देने वाला न हो। पीड़ा-रहित कर लगाने से प्रजा निर्धारित कर-राशि को प्रसन्नता से देती है तथा संतुष्ट रहते हुए राज्य के साथ पूरा सहयोग करती है।

अथर्ववेद में दो मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें आय का सोलहवां हिस्सा कर रूप में ग्रहण करने का निर्देश है। मन्त्र इस प्रकार है–

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ।। अथर्व. 3.29.1

(यत्) जो (यमस्य अभी राजानः सभासदः) पूर्णतः नियमानुकूल प्रजा का पूर्ण हित ध्यान में रखते हुए शासन करने वाले राजा या राज्याधिकारी के राज्य की उचित व्यवस्था करने वाले सभासद या राज्य के प्रतिनिधि (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) इष्ट एवं पूर्तस्वरूप राज्य की सामूहिक आय से प्राप्त अन्न एवं अन्य पदार्थों का सोलहवाँ भाग विभक्त कर कर रूप में ग्रहण करते हैं। (दत्तः) वह प्रजा द्वारा अनिवार्य रूप में दिया गया भाग (अविः) सकल स्वतंत्र राष्ट्र का रक्षक (शितिपात्) शान्ति व्यवस्था भंग करने वाले अथवा राष्ट्र में अवांछनीय तत्त्व उत्पन्न करने वाले शासकों का संहारक होकर राष्ट्र को (स्वधा) अपनी शक्ति से स्वयं धारण करे (तस्मात् विमुञ्चति) इस प्रकार वही कर राष्ट्र को समस्त प्रकार के भय से मुक्ति दिलवाता है।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकृतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ।। अथर्व. 3.29.2

(दत्तः) कर के रूप में प्रजा द्वारा दिया हुआ यह भाग (आकूतिप्रः) संकल्पों को पूर्ण करने वाला (शितिपात्) दुष्टों को दमन करने वाला (अविः) समस्त शत्रुओं से रक्षाकरने वाला (आभवन्) राष्ट्र का विस्तारक (प्रभवन्) वीर, विद्वान एवं योग्य व्यक्तियों की कीर्ति एवं प्रभाव को उत्पन्न करने वाला (भवन्) राष्ट्र के अस्तित्व का हेतु होकर (सर्वान् कामान् पूरयति) राष्ट्र की समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है और इस प्रकार (न उपदस्यति) राष्ट्र या समाज की विनाश से हम सबकी रक्षा करता है।

अथर्ववेद के इन दो मन्त्रों में कर व्यवस्था का आदर्श बताया गया है। आदेश दिया गया है कि इस प्रणाली को अपना कर स्वतंत्र राष्ट्र प्रजा के मध्य एक अलौकिक समृद्धि उत्पन्न कर सकता है। यहाँ पर इष्ट और पूर्त आय के दो साधन बताये हैं। जो आय अनवरत इच्छा या चेष्टा द्वारा होती है उसको इष्ट कहते हैं। कृषि, उद्योग-धन्धे एवं शिल्प आदि का इसमें समावेश है। इस आय के लिए कर्ता को अनवरत प्रयत्नशील रहना पड़ता है, एक बार अधिक प्रयत्न करने से जो आय अनवरत होती है, पूर्त कहलाती है। एक बार

महान किराये पर चढ़ा कर या धन जमाकर पुनः पुनः किराया या ब्याज लेना इसके उदाहरण हैं। एक बार उद्यान लगाकर प्रतिवर्ष फल प्राप्त करना भी पूर्त का उदाहरण है।

इस इष्ट अथवा पूर्त से नागरिकों को जो आय होती है उसका सोलहवाँ भाग कर रूप में एकत्रित करने का वैदिक विधान है। बाद में स्मृतिकालीन साहित्य में यह सोलहवाँ भाग बढ़कर छठा भाग ग्रहण करने की प्रणाली कालिदास के काल में भी प्रचलित थी जैसा कि उनके प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है–

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यः नृपाणां क्षयि तद्धनम् ।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ।।

अभि. शाकुन्तलम् 2.13

▪ ब्राह्मणों से कर न ले–

अथर्ववेद के एक मन्त्र में राजा को ब्राह्मण से शुल्क अथवा कर लेने का निषेध किया गया है। कहा है कि जो लोग ब्राह्मण से शुल्क लेते हैं– **'ये वास्मिन् शुल्कमीषिरे'** वे अनर्थ करते हैं और इसीलिए विपत्ति में फंसते हैं।

वेद में कृषि आदि भिन्न-भिन्न साधनों से धन प्राप्त करने पर कर का विधान है, जो कि बहुत संतुलित है।

▪ कृषिकर–

इस दृष्टि से अथर्ववेद का निम्न मन्त्र विचारणीय है–

'तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभिमृशामसि ।।

अथर्व. 3.24.6

अर्थात् – तीन मात्राएं गन्धर्वो की हैं, चार गृहपत्नी की हैं। उनमें से जो सबसे समृद्ध मात्रा है उससे हे धान्य! हम तुझे बढ़ाते हैं। इस मन्त्र में एक महत्त्वूपर्ण बात विचारणीय है कि कृषि से जो अन्न उत्पन्न हो उसके तीन भाग (मात्राः) तो गन्धर्वो के पास जाने चाहिए। और चार भाग (मात्राः) गृहपत्नी के पास अर्थात् कृषक के घर जाने चाहिए। यदि गन्धर्व का अर्थ राज्य-कर्मचारी ले लिया जाये तो, क्योंकि वे गौ अर्थात् पृथिवी को धारण करते हैं, इसका यह भाव होगा कि कृषि की उपज का 3/7 भाग तो राज्य ले और 4/7 भाग कृषक के पास रहे। कृषक का कृषि की फसल पर जो व्यय होगा उसे निकाल कर उसके पास जो शुद्ध आय बचेगी उसी में से राज्य को यह 3/7 भाग कर के रूप में दिया जायेगा।

▪ जल सिंचाई से कर–

तृतीय अध्याय में यह विचार किया जा चुका है कि कृषि की उन्नति के लिए राज्य नहर आदि की व्यवस्था करे। वेद में इसी कुल्या आदि निर्माण के प्रसंग में कर की चर्चा

भी की गई है। ऋग्वेद का निम्न मन्त्र कहता है कि राजा जो सिंचाई की व्यवस्था करता है वह प्रजा से प्राप्त कर द्वारा ही संभव होती है। प्रकारान्तर से इस मन्त्र से यह ध्वनि निकलती है कि प्रजा, राज्य निर्मित नहरों से खेती के लिए यदि पानी लेती है तो उसे उसका कर भी देना चाहिए। मन्त्र इस प्रकार है–

अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चन् ।
प्र यद् वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त ।।
ऋग्. 2.19.2

अर्थात् यह इन्द्र (सम्राट्) जलों को रोकने वाले शिला, भूमि आदि रूप अहि को वज्र हाथ में लेकर जो मार देता है, फिर जो नहरों के (नदीनां) यानी पक्षियों की भांति तीव्र गति से अच्छी तरह बह निकलते हैं, वह प्रजाओं से **कर रूप** में मिलने वाले इस ऐश्वर्य (मध्व: सोमस्य) को प्राप्त प्रसन्नता के कारण ही कर पाता है।

■ गोधन पर कर–

जिस प्रकार कृषि से प्राप्त आय पर कर का निर्देश वेद ने दिया है, उसी प्रकार गोधन अथवा पशुधन से प्राप्त आय पर भी कर का स्पष्ट निर्देश है। कृषि व्यापार, उद्योग के समान पशु पालन में राज्य का पूर्ण सहयोग रहता है, यह तभी संभव है, जब पशुधन से राज्य को नियमित रूप से कर की प्राप्ति होती रहे। इसका निर्देश देते हुए कहा गया है कि 'जो व्यक्ति अपने गो-धन की आय में से राज्य को अपना देय-भाग प्रदान करता रहता है राज्य उसकी गौवों की रक्षा करता है और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता।[1]

इसमें यह बात स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रही है कि राज्य को गौवों की विशेष रक्षा और चिन्ता करनी है, इसलिए प्रत्येक गृहस्थ से एक विशेष **गो-कर** भी राज्य ले सकेगा।

इस मन्त्र में **'भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्'** इस वाक्य का भाव यह है कि जिनसे लोगों के गो-धन की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रह सके ऐसे उपाय सर्वसाधारण को बताते रहना राज्य का एक कर्त्तव्य होगा। गोपालन के विशेषज्ञ रख कर राज्य को यह कार्य कराते रहना होगा। तभी उसके लिए लोगों से गो-कर लेना संगत हो सकेगा।

■ सामान्य पशु-कर–

वेद में एक अन्य मन्त्र आया है, जिसमें गौ, अश्व आदि पशु एवं भोजन आदि की रक्षा के निमित्त राज्य को कर देने का निर्देश है–

आदङ्गिरा: प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नय: शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वं पणे: समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नर: ।।[2]

अर्थात् जिन्होंने यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित कर रखा है, अर्थात् जो यज्ञों को, अपने संघटनों को चमकाये रहते हैं, जो उत्तम कर्म कराने वाली कर्मशक्ति से युक्त होते हैं, सब विद्याओं को जानने वाले और वायु की भाँति बलवान् प्रजाजन पहले सम्राट् को अन्न अर्थात् राज्य चलाने के लिए जीवनोपयोगी करादि रूप में देय ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, तदनन्तर ही वे दस्यु लोगों से घोड़ों, गौओं और पशुओं से युक्त संपूर्ण भोजन प्राप्त करते हैं।

---

1. ऋग्. 6.28.2,

2. ऋग्. 1.83.4, अथर्व. 20.25.4

मन्त्र का भाव यह है कि दस्युजन हमारे पशुओं को बलपूर्वक छीन कर न ले जा सकें इसलिये हमें बलिष्ठ बनाना चाहिये, अपने संगठन बनाने चाहिए। साथ ही राज्य का **देयांश कर** रूप में राजा को देना चाहिए।

■ व्यापार कर–

अथर्ववेद के वाणिज्य सूक्त के एक मन्त्र में कहा है **'विश्वाहा ते सदमिद् भरेम।'**[1] अर्थात् हे राजन्! हम सदा तुझे भरण-पोषण देते रहें। इसका अभिप्राय यह है कि व्यापार की वृद्धि के लिए हम कर रूप में धन प्राप्त करें, जिससे राज्य-प्रबन्ध की सारी आवश्यकताएँ पूरी होती रह सकें। राजा को कर देने से हमें उसकी रक्षा प्राप्त होगी। उस रक्षा से हम अपने वाणिज्य व्यवसाय अच्छी प्रकार कर सकेंगे। वाणिज्य द्वारा धन और अन्न प्राप्त होंगें जिससे हमें पुष्टि प्राप्त होगी।

इस प्रकार वेदों में कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में सूत्ररूप में संकेत प्राप्त होते हैं–

वेदों से प्राप्त संकेतों के अनुसार स्मृतियों में सात प्रकार के कर वर्णित हैं–
1. बलि-कर, 2. शुल्क-कर, 3. दण्ड-कर, 4. सन्तरण-कर, 5. पशु-कर, 6. श्रमजीवी एवं शिल्पियों पर कर, 7. आय-कर।

1. बलि-कर

प्रजा के रक्षणार्थ राजा धन की आवश्यकता की पूर्ति धन-धान्य तथा अन्य विविध वस्तुओं पर कर लगाकर करता था। खाद्यान्न पर लगाया हुआ कर प्राचीन काल में **'बलि'** नाम से जाना जाता था। विष्णुस्मृति ने भाग कर के लिए 'बलि' शब्द का प्रयोग किया है।[2] महाभारत आदि ग्रन्थों ने भाग या बलिकर के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला है। महाभारत में कृषि पर दसवाँ भाग कर लेने का निर्देश है।[3]

राजा को आप्त पुरुषों द्वारा प्रजा से वार्षिक बलि संचय करनी चाहिए और इस बलि के द्वारा प्रजा का पालन उसी प्रकार करना चाहिए जैसे पिता अपने पुत्र का पालन करता है।[4]

बलि कर राजकोष की आय का प्रमुख साधन था और इसका व्यय प्रजा-रक्षण में होता था।

2. शुल्क-कर

राजकोष की आय का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन था। यह कर व्यापारिक सामग्री तथा उन वस्तुओं पर लगाया जाता था, जो बाजारों में विक्रय हेतु वणिक्गण लाते थे। मनु के अनुसार व्यापारी के लाभ का बीसवाँ भाग राजा को शुल्क-कर मिलना चाहिए।[5] शुल्क संचय की सुविधा के लिए शुल्क संचय स्थान बनाने चाहिए। ये स्थान बाजारों या हाटों को जाने वाले

---

1. अथर्व. 3.15.8

2. विष्णु. 221, 3. महाभारत, शान्तिपर्व

4. सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत हितवन्नृषु ।। मनु. 7.80

5. शुल्कस्थानेषु कुशला: सर्वपण्य विचक्षणा: ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेतु ।। मनु. 8.398

मार्गो पर अथवा राज्य और नगरों की सीमा पर बनाये जाते थे। यह नियम था कि कोई व्यक्ति यदि इन स्थानों पर शुल्क कर न देकर अपना माल बेचता है अथवा अन्य का माल क्रय करता है या असमय में क्रय-विक्रय करता है अथवा गिनती या तौल में झूठ बोलता है तो उस व्यक्ति पर निर्धारित राजकर का आठ गुना या जिस हिसाब से झूठ बोला हो उसका आठ गुना दण्ड होता था।[1]

विभिन्न वस्तुओं पर विविध प्रकार का शुल्क लगता था। यह कर लाभपर बीसवाँ अंश निर्धारित था। यह कर व्यापारी के लाभ में से लिया जाता था। मनु के मत से क्रय- विक्रय, रक्षा सम्बन्धी व्यय तथा व्यापारी के भरण-पोषण आदि बातों को ध्यान में रखकर शुल्क लगाना चाहिए। राजा तथा व्यापारी को अपने उद्योग के अनुसार परिणाम मिले इसका विचार करके राजा को राज्य में कर लगाना चाहिए।[2]

3. दण्डकर या अर्थदण्ड–

राजकोष की समृद्धि के लिए स्मृतियों ने तृतीय महत्त्वपूर्ण साधन दण्ड कर को बताया है। इससे प्राप्त धन को भी प्रजापालन में लगाना राजा का कर्त्तव्य था। मनु ने दण्ड के दस स्थान बताए हैं। ये हैं– लिंग, उदर, जिह्वा, हस्त, पाद, नेत्र, नासा, कर्ण, शरीर तथा धन। धन का चुराना भी अपराध था। जिस पर अर्थदण्ड दिया जाता था। राज्य के नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से ये दस प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। मनु के अनुसार अपराधी के अपराध को देखकर, देशकाल को देखकर, अपराधी की आर्थिक स्थिति को समझ कर दण्ड देना चाहिए।[3]

4. सन्तरण-कर

नदी-नालों को पार करने के लिए राज्य की ओर से पुलों अथवा नौकाओं की व्यवस्था की जाती थी। इनका उपयोग करने वाले व्यक्तियों को कर देना पड़ता था। इसी का नाम सन्तरण कर था। पुल से नदी पार करने वाली गाड़ी का एक पण, अधिक भारी मनुष्य का आधा पण, गाय-बैल आदि पशु तथा स्त्री का चौथाई पण और भाररहित मनुष्य का पण का आठवाँ भाग संतरण कर लिया जाता था। नदी आदि को नाव से पार करने में खाली गाड़ी का एक पण, एक आदमी के बोझ अर्थात् एक मन का आधा पण, गौ आदि पशु तथा स्त्री का चौथाई पण तथा सामान सहित मनुष्य का अष्टांश पण नाव का भाड़ा होता था।[4]

तरण सम्बन्धी व्यवस्था पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था, इसलिए यह राशि राजकीय कोष में जमा होती थी। कुछ विशेष अवस्थाओं अथवा विशिष्ट व्यक्तियों से यह कर नहीं लिया जाता था। दो मास से अधिक की गर्भिणी, संन्यासी, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी, और ब्राह्मण से सन्तरण कर नहीं लिया जाता था।[5]

---

1. *शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी । मिथ्यावादी व संस्थाने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ।। मनु. 8.400*
2. *क्रयविक्रयमध्यवानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान् ।।*
   यथाफलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् । तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् । मनु. 7.127, 128
3. *अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः । सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ।। मनु. 8.126*
4. *पणं यानं तरेदाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे । पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ।। मनु. 8.404*
5. *गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणालिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे । मनु. 8.407*

5. पशु-कर

पशुओं के व्यापार कर्ता पर यह कर लगाया जाता था। यह कर लाभ के पचासवें अंश या भाग पर लिया जाता था। इस कर को प्रजा ने अपने राजा मनु के कोष के लिए निर्धारित किया था। शुक्रनीति ने भैंस, भेड़, बकरी, और अश्वों की वृद्धि में से अष्टांश राजा को ग्रहण करने को कहा है।[1]

6. श्रमजीवी एवं शिल्पियों पर कर

गात्म का कथन है कि राजा प्रजा की रक्षा करता है। इसलिए राजा का वेतन कर है।[2] इस कारण मनु ने विधान बनाया कि प्रत्येक व्यक्ति राजा को कर दे।

राजा के अधीन राज्यों में जो शिल्पी एवं श्रमजीवी लोग रहते हैं और वे श्रम एवं शिल्प-कला के द्वारा अपना जीवन-यापन करते हैं, उनसे एक प्रकार के कर से धन प्राप्त नहीं होता है, इसलिए यह कर कोष-वृद्धि का कारण नहीं माना जा सकता। मनु के अनुसार राजा को बढ़ई, लोहार, कारीगर, मजदूर आदि तथा जो शूद्र श्रम द्वारा अपनी जीविका यापन करते हैं उनसे महीने में एक दिन कुछ कार्य करा लेना चाहिए।[3] इनसे कार्य करा लेने से इनके कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। और आर्थिक कर न लेने से इन्हें कष्ट नहीं होता। मनु के इस मत का समर्थन शुक्राचार्य ने किया है। इनके मतानुसार कारीगर, बढई, मजदूर आदि से पन्द्रह दिन में एक दिन काम करा लेना चाहिए।[4]

इन साधनों से राजकोष की वृद्धि होती है। राज्य को अपना अथवा राजस्व का सम्बन्ध बनाए रखने के लिए यह स्पष्ट आदेश था कि वह इन करों को अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इसी के द्वारा प्रजा से उसका सम्बन्ध स्थिर रहता है। मनु के मतानुसार अत्यन्त क्षुद्र, दरिद्र, शाकभाजी आदि बेचने वाले तथा साधारण से साधारण व्यक्ति से भी वार्षिक कर कुछ न कुछ अवश्य लेना चाहिए।[5]

7. आयकर

यह कर आय का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। वर्तमान समय में यही कर सबसे अधिक धन संग्रह का माध्यम है। राजा प्रजा से स्वर्ण के लाभ का पचासवाँ भाग कर रूप में ग्रहण करे। चावल आदि अन्नों में छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग लिया करें।[7] मनु ने खानों से प्राप्त वस्तुओं और दैनिक कार्य में उपयोगी वस्तुओं पर भी कर लगाने का विधान किया है। उनके अनुसार राजा, वृक्ष, मांस, मधु, घी, गन्ध, दवा, रस, पुष्प, मूल, फल, शाकपत्र, चमड़ा, मिट्टी तथा पत्थर की बनी हुई वस्तुओं का षष्ठ भाग कर रूप में प्रजा से ग्रहण करे।[6]

गौतम के विधानानुसार राजा मूल, फल, फूल, औषधि, मधु, मांस, तृण और लकड़ी बेचने वालों से षष्ठ भाग ग्रहण करे।[7]

---

1. *शुक्र. 4.231,*
2. *गो. 10.28*
3. *कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चाल्पोपजीविन: । एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपति: । मनु. 7.138*
4. *शुक्र. 4.232,* **5.** *मनु. 7.137*
6. *पञ्चाशद् भाग आदेयो राजा पशुहिरण्ययो: ।*
   धान्यानामष्टमो भाग: षष्ठो द्वादश एव वा ॥ मनु. 7.130
7. *आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।*
   मन्त्रोषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ मनु. 7.131

महाभारत के शान्तिपर्व में स्वर्ण लाभांश में पचासवाँ भाग कर लेने का वर्णन है।[1] **विष्णुधर्मसूत्र** के अनुसार राजा स्वदेशी वस्तुओं पर दसवाँ भाग तथा आयातित वस्तुओं पर बीसवाँ भाग ग्रहण करे।[2] **बोधायन** धर्मसूत्र के मत में समुद्र मार्ग से लाई वस्तुओं पर दसवाँ भाग शुल्क लेना चाहिए।[3]

बृहत्पराशर के मत में कोष रिक्त हो जाने पर मन्दिरों पर भी कर लगाया जा सकता है। आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाने पर धन वापस कर देना चाहिए। आपत्ति के समय में राजा को महाजनों, कृपणों, अधम जातियों, अधर्मियों, वेश्याओं का धन ले लेना चाहिए क्योंकि इन सबकी रक्षा का उत्तदायित्व राजा पर है। राजा के रहने पर ही रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती।[4]

■ कर न देने योग्य व्यक्ति–

विभिन्न स्मृतियों में कुछ व्यक्तियों से राजा को कर लेने का निषेध किया गया है। नारद के अनुसार श्रोत्रिय को दैनिक उपयोग की वस्तुओं पर शुल्क नहीं देना पड़ता था। ब्राह्मणों को उपहार की वस्तुओं पर कर नहीं देना पड़ता था। अभिनेता की सम्पत्ति एवं वाहन पर कर नहीं लगता था।[5] मनु के अनुसार राजा के पास सब कुछ समाप्त हो जाने पर निर्धनता की स्थिति में भी ब्राह्मण से कर नहीं लेना चाहिए।[6] ऐसे ही राजा अन्धा, मूर्ख, पंगु, वृद्ध तथा श्रोत्रिय से निर्धन होने पर भी कर वसूल न करें।[7]

■ अधिक एवं अनुचित कर का निषेध–

राजा को ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए जिससे राजा और प्रजा दोनों का मूलोच्छेद न हो, वरन् उनका कल्याण हो। राजा को कार्य के अनुसार तीक्ष्ण एवं मृदु होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार का आचरण धारण करने से राजा सबका प्रिय होता है।[8] जो राजा अज्ञानवश अपनी प्रजा का शोषण करता है वह राजा से शीघ्र भ्रष्ट होकर अपने बन्धु-बान्धव एवं स्वयं का विनाश करता है।[9] जिस प्रकार शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र का शोषण करने से राजाओं के प्राण क्षीण होते हैं। इस व्यवस्था का कविकुल गुरु कालिदास ने अपने अमर महाकाव्य रघुवंश में अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा– राजा सूर्य के समान है, जो समुद्र से जल लेकर पुनः वर्षा

---

1. *विष्णु धर्मसूत्र 3.29, 30*
2. *बो.धर्म. 1.100-15-16*
3. *बृ. परा. 10 पृ. 282*
4. *नारदस्मृति - सम्भूयसमुत्थान् 14-15 श्लोक*
5. *म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम् ।। मनु. 7.133*
6. *अन्धो-जडः पीढसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।*
   श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्यः केनचित्करम् ।। मनु. 8.394
7. *मनु. 7.139-140,*
8. *मनु. 7.111*
9. *मनु. 7.112*

करके प्रजा को आनन्दित करता है। इसी प्रकार राजा प्रजा से कर लेकर, राज्य की रक्षा करता है। प्रजा को आपत्तियों से बचाता है तथा हर प्रकार से प्रजा का रंजन करता है।[1]

प्रजा को पीड़ित न करते हुए विभिन्न उपायों से राजा कर के माध्यम से धन-संग्रह कर अपने कोष की वृद्धि करता रहे यह वेद का सन्देश है, किन्तु इस धन का दुरुपयोग कथमपि नहीं होना चाहिए, इसे जनकल्याण में ही व्यय किया जाना चाहिए।

इस धन से राष्ट्र की शत्रुओं से रक्षा करना राजा का प्रथम कर्त्तव्य है।

दुष्टों, समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले अपराधी एवं हिंसकों को दण्डित करने में इस अर्थ का उपयोग श्रेयस्कर है।

यह धन राष्ट्र में उत्तम शिक्षा, उत्तम चिकित्सा और पक्षपात रहित न्याय-व्यवस्था पर लगना चाहिए।

इस कर से राजा और प्रजा के शुभसंकल्प पूर्ण होने चाहिए। प्रजा को किसी प्रकार का अभव पीड़ित न करे। कोई राष्ट्रवासी भूखा, प्यासा या वस्त्रहीन न रहे, किसी को औषधि के अभाव में दम न तोड़ना पड़े, कोई निर्धन बालक साधनों के अभाव में शिक्षा से वंचित न रहे, ऐसी व्यवस्था कर से प्राप्त अर्थ द्वारा राजा को करनी चाहिए।

कर से प्राप्त धन के द्वारा राजा की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति का विधान वेद ने किया है, किन्तु राजा भी इसका दुरूपयोग विलासितापर न करके, उचित व्यय करे।

कर की मात्रा कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं है, इसे देश, काल, परिस्थिति के अनुसार, न्यून वा अधिक किया जा सकता है, जैसे अथर्ववेद में सोलहवाँ भाग कर रूप मे ग्रहण करने का निर्देश है जबकि आगे चलकर स्मृतियों में यह छठे भाग तक बढ़ा दिया गया था। संस्कृत साहित्य में राजा के लिए **'षष्ठांशवृत्ति'** शब्द प्रसिद्ध हो गया था।

आधुनिक काल में आय का बहुत अधिक भाग कर रूप में ग्रहण किया जाता है, फिर भी राजकोष समृद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि राष्ट्रीय सम्पत्ति का अनावश्यक एवं हानिकर कार्यों में दुरूपयोग किया जा रहा है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कर की मात्रा बहुत अधिक होने से कर चोरी में वृद्धि होती है। इसलिए राजा विद्वान्, चरित्रवान्, अर्थनीतिनिपुण अधिकारियों के परामर्श से कर निर्धारण की व्यवस्था करे। राजा के गुप्तचर संपूर्ण देश में इस प्रकार से नियुक्त होने चाहिए कि वे कर चोरी अथवा राष्ट्रीय सम्पत्ति के दुरुपयोग की जानकारी समय-समय पर राजा को देते रहें।

▪ सम्पत्ति का अधिकार--

यह प्रश्न अत्यन्त जटिल और विवादास्पद है, इस विषय में अर्थशास्त्रियों और समाज शास्त्रियों के विविध विचार हैं। अनेक चिन्तकों ने वेद के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सम्पत्ति पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है अपितु सम्पत्ति समस्त समाज या राष्ट्र की है। बहुतों का यह मत है कि सम्पत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का अपना अधिकार होता है।

---

1. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।। रघु. 1.18

इस विषय को समझने के लिए हमें वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था पर विचार करना होगा। वैदिक साहित्य में मानव-समाज को सुव्यवस्थित, मर्यादित एवं सुखमय बनाने के लिये चार वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) का स्पष्ट विधान किया गया है।[1]

वर्ण व्यवस्था का मूलाधार जन्म न होकर गुण, कर्म, स्वभाव को माना गया है।[2] साम्यवाद में सबको समान मानने का उद्घोष सुनने में कर्ण-प्रिय होते हुए भी वास्तविकता से परे है। जैसे संसार के समस्त मानवों की यहाँ तक कि भाई-भाई की शरीर संरचना बौद्धिक क्षमता, कार्यक्षमता एक जैसी नहीं होती।[3] तब सबको समान कैसे बनाया जा सकता है। ब्राह्मण में यदि विद्या धन की प्रधानता है तो क्षत्रिय में शारीरिक-शक्ति की और वैश्य में भौतिक धन-ऐश्वर्य की बहुलता अभीष्ट है। इसी प्रकार चारों आश्रमों में से संन्यास और ब्रह्मचर्य आश्रम सांसारिक ऐश्वर्यों से दूर रहने का निर्देश देते हैं तो गृहस्थ आश्रम **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** का सन्देश देता है। आशय यह हुआ कि वैश्य वर्ण में और गृहस्थ आश्रम में सम्पत्ति का बाहुल्य होना चाहिए। अन्य वर्णो के पास धन केवल निर्वाह मात्र के लिये होना चाहिए।

वर्णाश्रम-मर्यादा के सिद्धान्त में ममत्व की वृत्ति कार्य कर रही होती है। जब मनुष्य का किसी कार्य के साथ ममत्व जुड़ जाता है तो वह उस काम को बहुत अधिक उत्साह से करता है। यदि हम अपना कार्य किसी नौकर से कराते हैं तो वह निश्चित घण्टों तक करके उसे छोड़कर चला जाता है। उसके पश्चात् उस कार्य को करने की उसकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती, परन्तु जब व्यक्ति सेवक भाव को छोड़ कर स्वयं को उसका स्वामी समझ लेता है तब घण्टों का प्रश्न नहीं रहता, वह दिन-रात परिश्रम करके उस कार्य को पूर्ण करने में उद्यत रहता है। वह उसमें तन्मय रहता है। ममत्व के रहने अथवा न रहने पर कार्य-क्षमता में इतना अन्तर आ जाता है।

मनुष्य का यह ममत्व अपने तक ही सीमित नहीं रहता। अपनी संतान के साथ भी मानव का यही ममत्व हो जाता है। वह सन्तान को अपना रूप समझता है। किसी कार्य का लाभ स्वयं को मिलने की भावना से प्रेरित होकर मानव जितनी तन्मयता से कार्य करता है, उतनी ही तन्मयता से अपनी सन्तान को फल मिलने की अभिलाषा से भी करता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा में मनुष्य की इस ममत्व वृत्ति से लाभ उठाया गया है। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा में प्रत्येक वर्ण के गृहस्थ को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने-अपने वर्ण के कर्त्तव्य-कर्म को सुखपूर्वक करने के लिये आवश्यक साधन सामग्री और सम्पत्ति को उपार्जित कर सके और फिर उसे उत्तराधिकार में अपनी सन्तानों को भी दे सके।

ममत्व की वृत्ति पर आधारित वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार से राष्ट्र के व्यक्ति

---

1. *ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः ।*
   ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।। ऋग्. 10.90.12
2. *जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते । मनु*
3. *समौ चिद्धस्तौ न समं विशिष्टः समातरा चिन्न समं दुह्यते ।*
   यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञानी चित् सन्तौ न समं पृणीतः ।। ऋग्. 10.117.9

अपने-अपने निर्धारित काम को और अधिक तत्परता और मनोयोग से करते हैं। इससे उत्कृष्ट वस्तुओं का निर्माण और वह भी प्रचुर मात्रा में होता है। गुणवत्ता के साथ मात्रा में भी वृद्धि होती है। इसी से स्पर्धा की भावना उत्पन्न होती है। राष्ट्र को अधिक लाभ होता है। इस पद्धति में कार्य करने वाला व्यक्ति अधिक कष्ट सहिष्णु, अधिक परिश्रमी, अधिक उत्साही, अधिक साहसी, अधिक निडर, अधिक स्वावलम्बी बन जाता है।

▪ वेद में सम्पत्ति का अधिकार–

हम अपनी उपार्जित सम्पत्ति के स्वामी हों और उसे उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकें ऐसे निर्देश वेदमन्त्रों में प्राप्त हुए हैं उदाहरण के रूप में निम्न मन्त्र पठनीय है–

– **रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः ।** ऋग्. 1.73.1

अर्थात् जो अग्नि पिता से प्राप्त होने वाले (पितृवित्त) धन की (रयिः) तरह हमें अन्न (वयः) देने वाला है।

इस उपमा से अग्नि को पिता से प्राप्त होने वाले धन जैसे धन देने वाला कहा गया है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि वेद की सम्पत्ति में पिता की सम्पत्ति पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकती है।

– **ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः ।**

ऋग्. 1.73.9

अर्थात् पिता से पुत्र को इस प्रकार परम्परा से प्राप्त होने वाले (पितृ वित्तस्य) धन के (रायः) स्वामी होते हुए हमारे विद्वान् पुत्र सौ वर्ष तक भोगें को प्राप्त करते रहें।

इस मन्त्र में भी स्पष्ट निर्देश है कि सम्पत्ति पिता से पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकती है। धन के स्वामी होते हुए - '**रायः ईशानासः**' इस कथन से यह भी स्पष्ट सूचित होता है कि वेद सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार करता है और इसीलिए सम्पत्ति उत्तराधिकार में सन्तानों को दिये जाने का निर्देश है।

– **रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ।** ऋग्. 7.32.3

अर्थात् धन की कामना वाला मैं वज्रधारी और उत्तम दक्षिणा देने वाले इन्द्र को पुकारता हूँ, जैसे कि पुत्र पिता को पुकारता है।

'जैसे धन की कामना वाला पुत्र पिता को पुकारा करता है, वैसे ही धन की कामना वाला मैं इन्द्र को पुकारता हूँ।' इस उपमा से भी यही संकेत मिलता है कि पिता की सम्पत्ति उसकी अपनी है ओर वह उसे अपने पुत्र को दे सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रखण्ड में कहा है–

– **नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।** ऋग्. 7.4.7

अर्थात् हम नित्य रहने वाले धन के पति बनें।

इस मन्त्र से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदानुसार सम्पत्ति अर्जन करने वाले के पास सदैव रह सकती है और वह उसका पति अर्थात् स्वामी होता है और इसीलिए वह उसे उत्तराधिकार में अपने पुत्रों को भी दे सकता है।

इस प्रकार मानव में स्वाभाविक रूप से विद्यमान ममत्व की प्रवृत्ति के अनुसार वेद

सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार की अनुमति प्रदान करता है।

■ पाँच आलम्बन पदार्थ–

वैदिक वर्णव्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के होते हुए भी राजा को यह स्पष्ट आदेश है कि उसके राज्य में कोई भी प्रजाजन भूखा नहीं मरना चाहिए। जीवन के लिये आवश्यक भोजन, वस्त्र, घर, औषधि और शिक्षा ये पाँच सबको मिलने चाहिये। वैदिक राज्य में प्रत्येक प्रजाजन को ये पाँच आलंबन पदार्थ प्राप्त कराने की पूरी व्यवस्था की गई है।

वेद कहता है–

क्षुध्यद्भ्यो वयं आसुतिं दाः । **ऋग्. 1.104.7**

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः । **ऋग्. 10.117.1**

अर्थात् हे इन्द्र (सम्राट्) तुम भूखों के लिए अन्न (वयः) और दुग्धादि रसीले पदार्थ प्रदान करो।

देवों ने किसी भी प्रजाजन के लिए भूख को मरने का साधन बनाकर नहीं दिया है।

आशय यह है कि राष्ट्र में कोई भूखा नहीं रहना चाहिए। देव नहीं चाहते कि कोई प्रजाजन भूख से मरे। देव तो चाहते हैं कि सबको खाने के लिए यथेष्ट अन्न आदि प्राप्त होता रहे। वेद में स्थान-स्थान पर राजा को, प्रजाओं को ऐश्वर्य देने वाला कहा गया है। वेद में प्रजाजन सम्राट् से नाना प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।

■ सम्पत्ति छीनी जा सकती है–

वैदिक अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति पर अधिकार ऐसा नहीं है कि व्यक्ति संपत्ति का मनचाहा प्रयोग या दुरुपयोग करे। वैयक्तिक सम्पत्ति स्वार्थ में भरकर केवल अपने लिए संग्रह करके रखने के लिए नहीं है, अपितु उसको समाज हित में दान करना भी आवश्यक है। उसे अपनी सम्पत्ति को औरों के साथ मिला कर भोगना चाहिए।

यहाँ कुछ ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनमें धन का सदुपयोग न करने वालों के धन को छीनने का स्पष्ट निर्देश है। यथा–

'अयज्वनो विभजन्नेति वेदः । **ऋग्. 1.103.6**

इन्द्र (सम्राट्) अयज्वा लोगों के धन को लोगों में बांटता हुआ चलता है।

लोकोपकार के कर्मों को वैदिक चिन्तनधारा में यज्ञ कहा गया है। जो लोकोपकार के काम करता है वह यज्वा है, जो ऐसे कार्य न करके केवल स्वार्थ साधन में ही लगा रहे वह अयज्वा कहा जाता है। राजा से कहा गया है कि वह ऐसे स्वार्थी व्यक्ति की सम्पत्ति छीन कर प्रजाओं में बांट दे।

यज्वेदयज्वोर्विभजाति भोजनम् । **ऋग्. 2.26.1**

अर्थात् ब्रह्मणस्पति स्वयं यज्वा है, वह अयज्वा लोगों के भोजन को प्रजाओं में बांट देता है।

इस मन्त्र में भी अयज्वा के अन्न आदि को प्रजाजनों में बांटने का निर्देश है।

अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे । **ऋग्. 10.48.2**

मैं इन्द्र (सम्राट्) दस्यु लोगों से धन छीन लेता हूँ। चोर, डाकू, लुटेरे लोगों को दस्यु कहते हैं। राजा ऐसे लोगों के धन को छीन लेता है। जो धनपति प्रजा से धन कमा तो लेते हैं किन्तु उस धन को प्रजा के कल्याण में खर्च नहीं करते वे भी एक प्रकार के दस्यु ही हैं। ऐसे दस्यु धनपतियों के धन को राजा छीन लेता है। वेद में राजा द्वारा शत्रुओं को पराजित कर उनसे प्राप्त धन को प्रजाओं में बांटने का वर्णन तो हमें अनेक मन्त्रों में प्राप्त होता है। यहाँ पर जो धनपति धनसंग्रह कर प्रजा को उससे लाभान्वित नहीं करते उन्हें भी राष्ट्र का शत्रु मानकर उनसे धन छीनने का निर्देश दिया है।

वेद के इन और इस प्रकार के अन्य स्थलों से यह स्पष्ट सूचित हो जाता है कि जो धन स्वामी अपनी धनसम्पत्ति को प्रसन्नता से स्वयं राष्ट्र के भले के लिये खर्च न करे राज्य को उसकी सम्पत्ति छीन लेनी चाहिये।

इस प्रकार अयज्वा लोगों की सम्पत्ति के राज्य द्वारा अधिगृहीत किये जाने का भय बने रहने पर धनपति वैश्य कभी कोई अनुचित कार्य नहीं करेंगे और परोपकार की वृत्ति को अपना कर सुमार्ग पर चलते रहेंगे जिससे राष्ट्र में समृद्धि के साथ-साथ सुखशान्ति और सौहार्द्र बना रहेगा। वैश्य जनों को सही मार्ग पर चलाने के लिए केवल यह राजनियम या दण्ड विधान ही निर्दिष्ट नहीं है, अपितु प्रजाजनों को सम्पत्ति का सदुपयोग करने की सत्प्रेरणा भी दी गई है। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार विद्याग्रहण करने वाले सभी छात्रों को प्रारम्भ से ही लोक-कल्याण का व्रत लेकर धन कमाने की शिक्षा दी जाती थी। उनका हृदय प्रारम्भ से ही परोपकार के कार्य करने की भावना से ओतप्रोत हो जाता था। मैं अपने लिये नहीं अपितु लोकोपकार के लिये धन अर्जन कर रहा हूँ, यह भावना राष्ट्रवासियों में आध्यात्मिक सौन्दर्य का आधान कर देती थी तब वे स्वार्थी, अन्यायी और अत्याचारी न बन कर निःस्वार्थ परोपकारी, न्यायप्रिय, सहृदय और परदुःखकातर बन जाया करते थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में कहा है कि यह धरती आर्य अर्थात् सामाजिक व्यवस्थाओं का पालन करने वाले श्रेष्ठजनों की है।[1] इस प्रकार सम्पत्ति पर अधिकार सामाजिक व्यक्ति का ही हो सकता है, असामाजिक का नहीं। जन्म से प्रायः कोई व्यक्ति श्रेष्ठ या सामाजिक गुणों वाला नहीं होता। शिक्षा-दीक्षा से उसे उस प्रकार का बनाना पड़ता है।

महर्षि दयानन्द के विचार इतने उदार और व्यापक थे कि वे सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति अथवा राज्य का अधिकार न मानकर ईश्वर का ही अधिकार या स्वामित्व स्वीकार करते हैं। अतएव वे सम्पत्ति को सबका मानते हैं।[2]

कतिपय विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती के हवाले से सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार न मान कर राज्य का स्वामित्व मानते हैं। उनका यह विचार पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। हा, व्यावहारिक दृष्टि से अधिकार वैयक्तिक है, और पारमार्थिक दृष्टि से सब कुछ ईश्वर का है।

वेदों में बहुत-सी ऐसी प्रार्थनाएँ हैं जिनमें ईश्वर से धन की याचना करते हुए

---

1. ऋ.द.भा. 4.26.2

2. यजु. द.भा. 40.1.3.29

बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जैसे–

'वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।'[1]
हम सब धनों के स्वामी बनें।

'वयं भगवन्तः स्याम ।'[2]
हम सब ऐश्वर्यवान् बनें।

इन सामूहिक प्रार्थनाओं से विद्वानों का यह विचार बनता है कि सम्पत्ति पर सबका अधिकार है। हमारे विचार से इस बहुवचन का आशय सम्पत्ति पर सामाजिक अधिकार न मान कर महर्षि दयानन्द के शब्दों में -''प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी ही उन्नति समझनी चाहिए।'' यह सन्देश लेना अधिक उपयुक्त होगा।

यजुर्वेद भाष्य के माध्यम से महर्षि कहते हैं– ''सन्तान लोग जब तक पिता आदि जीवें तब तक उनकी सेवा किया करें और पुत्रलोग जब तक पिता आदि की सेवा करें तब तक वे सत्कार योग्य होवें। और जो पिता आदि का धन आदि वस्तु हो वह पुत्रों का और जो धन पुत्रों का हो वह पिता आदि का रहे। इस भावार्थ के साथ ही मन्त्र का पदार्थ इस विषय को और स्पष्ट कर देता है। (जीवेषु) इस लोक में जीते हुए (समानाः) समान गुण, कर्म, स्वभाव वाले (समनस) समान धर्म में मन रखने वाले (मामकाः) मेरे (जीवाः) जीते हुए पिता आदि हैं (तेषाम्) उनकी (श्री) लक्ष्मी-धन सम्पत्ति (मयि) मेरे पास (शतम्) सौ वर्ष तक रहे अथवा उपयोगी होवे।'' अर्थात् पिता की सम्पत्ति पर उन पुत्रों का अधिकार होगा जो पुत्र पिता के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल हो अथवा पिता के व्रत के अनुगामी हों और जो जीते-जी पिता आदि की वाणी, भोजन, वस्त्र आदि से सेवा कर रहे हों। अर्थापत्ति से जो पुत्र पिता के व्रत के अनुगामी न हों उन पुत्रों का पिता की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होगा।[3]

वैदिक अर्थव्यवस्था में व्यावहारिक रूप से सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार स्वीकार कर लेने पर भी यह अधिकार स्वार्थप्रेरित न होकर परोपकार की यज्ञमयी भावना से ओतप्रोत रहता है। **''इदं राष्ट्राय इदंनमम''** की उदात्त भावना सम्पत्ति के स्वामी को राजा जनक के समान विदेह बनने की शुभ प्रेरणा देती है। वैदिक चिन्तनधारा मानव को अर्थ का दास न बनाकर उसे अर्थ का स्वामी बनाती है।

❒

---

1. यजु. द.भा. 26.65

2. यजु. 34.38

3. ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयिंकल्पतामस्मिल्लोकेशतं समाः ।। यजु. द.भा. 19.46

अष्टम अध्याय

राजकीय व्यय के सिद्धान्त

अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत, सामूहिक एवं राजकीय तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं का समावेश हो जाता है। गत अध्यायों में यह स्पष्ट हो गया है कि वैदिक काल में प्रजायें कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं उद्योग-शिल्प आदि के द्वारा अर्थोपार्जन किया करती थी, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सुविधानुसार इस धन को व्यय करती थीं। व्यय करते समय यह दृष्टिकोण भी रहता था कि अर्थ केवल अपने लिए ही नहीं है अपितु जनकल्याण के लिये भी है। वेद के सन्देशानुसार भोजन ग्रहण करते समय भी यही भाव रहता था **'केवलाघो भवित केवलादी'** जो केवल अकेले भोजन करता है, वह पाप भक्षण करता है। दूसरों को खिलाकर खाने में अधिक सुख है अतिथि यज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वैदिक-संस्कृति से प्रेम करने वाला मानव **'अतिथि देवो भव'** का आचार्योपदेश सदा स्मरण रखता हुआ अतिथि विद्वान् संन्यासी का आदर करने में परम गौरव अनुभव करता था, और केवल मानव ही नहीं, कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि को खिलाकर आनन्दित होता था।

सामूहिक रूप से कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं उद्योग आदि के द्वारा भी धन प्राप्त किया जाता था, और यह धन भी सामाजिक सर्वहितकारी कार्यो में विपुल परिमाण में व्यय किया जाता था। ऐसी अनेक प्रार्थनाएँ वेदों में विद्यमान हैं, जिनमें बहुवचन का प्रयोग है, जो सिद्ध करता है कि वैदिक काल में बहुत से लोग सहकारी-समितियों के रूप में सामूहिकता की भावना से कार्य करते थे। जैसे– **'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** इत्यादि। सामूहिक कार्यों से प्राप्त धन का व्यय प्राय: सामूहिक हित में होता था।

उस काल में राज्य अपनी प्रजा पर विविध प्रकार के कर (कृषि-कर, उद्योग-कर, वाणिज्य-कर, पशुपालन-कर, आय-कर, लगाकर राजकीय कोष में धन एकत्रित करता था। इस धन के मुख्य रूप से दो प्रयोजन हुआ करते थे, (1) व्यक्तिगत राजा का व्यय, (2.) प्रजा एवं राष्ट्र के हित में व्यय। आदर्श राजाओं का यह नियम था कि वे कर अथवा राजस्व के रूप में प्राप्त अर्थ में से बहुत बड़ा भाग प्रजा के लिए व्यय करते थे और बहुत थोड़ा-सा हिस्सा अपने व्यक्तिगत हित में प्रयुक्त करते थे। राजकीय-व्यय को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है– (1) राजा का व्यक्तिगत व्यय, (2)

प्रशासन संचालन का व्यय, (3) सेना और सुरक्षा पर व्यय, (4) शिक्षा, चिकित्सा, न्याय आदि पर व्यय।

(1) **राजा का व्यक्तिगत व्यय–**

प्रजा द्वारा निर्वाचित होने पर भी राजा एवं राज-परिवार राष्ट्र की अमूल्य धरोहर हुआ करते हैं। राजा का प्रजा के साथ पिता-पुत्र के समान स्नेहिल सम्बन्ध होता है। राजा प्रतिक्षण अपनी प्रजा के कल्याण का चिन्तन करता है, उसका अपना कुछ नहीं रह जाता, अपितु वह प्रतिक्षण प्रजा के मंगल भविष्य की चिन्ता करता है। राजा के पास व्यक्तिगत आय का कोई प्रबल स्रोत भी नहीं होता, इसलिये प्रजाओं से प्राप्त धन में से ही वह अपना व्यक्तिगत व्यय करता है। वेदों में और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

राजा अपना व अपने कुटुम्ब का नित्य-नैमित्तिक व्यय नियमपूर्वक राजकीय कोष से करे। इस विषय में वेद कहता है कि हे राजन् जितना आपको राज्य का भाग लेना चाहिए उतना ही ग्रहण कर भोग कीजिये न अधिक न न्यून।[1] वेद के इस विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य राजा की निजी सम्पत्ति नहीं है। वह वेतन लेकर राज्य के एक सर्वोच्च अधिकारी के रूप में कार्य करता है।

महर्षि दयानन्द का मत है कि राजा राज्य की आय का 20 प्रतिशत धन व्यय कर सकता है।[2] स्वामी जी ने तत्कालीन राजाओं से जो पत्र-व्यवहार किया उसमें राजाओं द्वारा अपने भोग-विलास पर राष्ट्रीय-सम्पत्ति के व्यय किये जाने का निषेध किया था।[3]

राजा को राज्याभिषेक के समय पर उपदेश दिया जाता था कि वह सिंहासनारूढ़ होकर स्वयं को कभी प्रजा से भिन्न दैवी-व्यक्ति न समझे अपितु प्रजाओं को दैवी माने। यदि वह प्रजाओं को दैवी न मानकर उनके पालन-पोषण से विमुख होकर राष्ट्रीय-संपत्ति को अपने व्यक्तिगत भोग-विलास में व्यय करेगा तो प्रजा उसे पदच्युत कर देगी। ऐसे राजा के राज्य में सुख, शान्ति भी नहीं रह सकती। दूसरी ओर वैदिक साहित्य में राजा को अग्नि, इन्द्र, वरुण, माता, पिता आदि संबोधनों से पुकारा गया है, जो यह सिद्ध करता है कि प्रजा, राजा को कितना सम्मान देती थी, और राजा-प्रजा में परस्पर कितना प्रेम-भाव था। संस्कृत की यह उक्ति **'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'** हमारे देश के चिन्तन को व्याख्यायित करने में समर्थ है। वैदिक प्रजायें राजा को ईश्वर तुल्य जानकर उसकी आज्ञा का पालन करती हैं। वेद के कतिपय मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनसे राजा-प्रजा के प्रेममय सम्बन्धों का सुन्दर चित्र प्रस्तुत होता है–

1. **त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥**[4]

---

1. इन्द्र सोमाः, सुता इमे तव प्रयन्ति सत्पते । क्षयं चन्द्रास इन्दवः । ऋग्. 3.40.4

2. ऋषि द.स. के पत्र और विचार, पृ. 632

3. वही, पृ. 797-798

4. ऋग्. 8.98.11

अर्थात् सैकड़ों प्रकार के धर्म और प्रजा वाले और सबको बसाने वाले हे इन्द्र! तू ही हमारा पिता और तू ही हमारी माता है, और इसलिए हम तुझसे ही सुख माँगते हैं।

2. **शिवा नः सख्या सन्तु भ्रात्राऽग्ने देवेषु युष्मे ।**[1]

हे अग्ने (सम्राट्) तुझ हमारे भाई के साथ हमारी मित्रताएं मंगलकारी हों, राज्य के अन्य कर्मचारी देवों के साथ भी हमारी मित्रताएं मंगलकारी हों।

3. **मातेव यद् भरसे पप्रभानो जनं जनं धायसे चक्षसे च ।**
वयो वयो जरसे यद् दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि ।।[2]

हे अग्ने (सम्राट्) अपनी शक्तियों के कारण पृथु तू माता की तरह प्रजा के एक-एक व्यक्ति का भरण करता है जिससे उनका धारण हो सके और जिससे उन्हें दर्शन अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो सके, बृद्धावस्था तक राष्ट्र के लोगों के लिए भांति-भांति के अन्न धारण करने वाला तू अनेक रूपों वाला होकर अपने स्वरूप से सब लोगों तक पहुँचता है।

4. **रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ।**[3]

मैं ऐश्वर्य की कामना वाला होकर, वज्रधारी और सुचतुर, बलवान् इन्द्र को पुकारता हूँ जैसे कि पुत्रा पिता को पुकारता है।

5. **वयं हि त्वा बन्धुमन्तमबन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम ।**[4]

हे इन्द्र! (सम्राट्) तेरे बिना हमारा वास्तव में कोई बन्धु नहीं है। हम ज्ञानी होकर अर्थात् समझ के साथ तुझे अपना बन्धु बनाते हैं।

6. **त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ।**[5]

हे अग्ने! (सम्राट्) तू राष्ट्र के तैराने में अर्थात् उद्देश्य तक पहुँचाने में समर्थ ज्ञान वाला है, तू सदा ही मनुष्यों का पालन करने वाला पिता और माता है।

इस प्रकार के और भी अनेक मन्त्र हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक राज्य व्यवस्था में राजा और प्रजा के मध्य शोषक और शोषित, स्वामी-सेवक अथवा शासक-शासित जैसा कोई दुराव वाला सम्बन्ध न होकर परिवार जैसा सम्बन्ध था। परिवारका मुखिया जैसे अपने सुखों की चिन्ता न कर समस्त परिवार को सुख देना अपना धर्म समझता है, स्वयं भूखे रहकर बच्चों को भोजन कराता है, स्वयं महंगे वस्त्र न धारण कर परिवार के सदस्यों को धारण कराता है, उसी प्रकार राजा भी राष्ट्रीय कोष से अपने व्यक्तिगत कार्यों के लिए धन-व्यय करते समय यही धारणा रखता था, परिणामतः आज के समान राष्ट्रीय सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होता था।

वैदिक व्यवस्था को मानने वाले राजा जनक या श्रीराम के समान अपरिग्रह की वृत्ति को अंगीकार कर सीमित व्यय किया करते थे, किन्तु शनैः शनैः राजा स्वयं को भूपति, महीपति मानकर राष्ट्र की समग्र संपत्ति हमारे भोग-विलास के लिए ही है ऐसा सोचने लगे,

---

1. ऋग्. 4.10.8
2. ऋग्. 5.15.4
2. ऋग्. 7.32.3
3. ऋग्. 8.21.4
4. ऋग्. 6.1.5

फलतः राष्ट्र निर्धनता की ओर बढ़ने लगे, प्रजा अनेक प्रकार के कष्टों से पीड़ित जीवन यापन के लिए विवश हो गयी। यही कारण है कि महर्षि दयानन्द ने अपने पत्र-व्यवहार में मध्यकालीन राजाओं के भोग-विलास पर हो रहे पर्याप्त व्यय पर रोक लगाने की चर्चा की है।[1]

शुक्रनीति के अनुसार व्यय के छः विभाग हैं– बल, दान, प्रकृति, अधिकारी, आत्मभोग और कोष। **बल,** अर्थात् सेना पर राजकीय आय का आधा भाग, **प्रकृति** अर्थात् प्रजा के हितकारी कार्यो पर बारहवाँ भाग, **पदाधिकारियों** के वेतन पर बारहवाँ भाग, राजा के **व्यक्तिगत** खर्चो पर बारहवाँ भाग और दान पर बारहवाँ भाग व्यय किया जाना चाहिए। आय का छटा भाग स्थिर कोष के लिए सुरक्षित रहना चाहिए।[2]

(2) राज्य-प्रशासन संचालन का व्यय –

राजकुल अथवा राज-परिवार के व्यय विधान के पश्चात् दूसरे क्रम में समस्त राजकीय और प्रशासनिक अधिकारियों, कर्मचारियों तथा भृत्यों का वेतन, पेंशन आदि का समावेश होता है। इस विषय में वेद-मन्त्रों में सूत्र रूप से जो संकेत दिये गए हैं उनका विस्तार करते हुए मनु एवं महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार व्यवस्था दी है–

1. राज्य-कर्मचारियों का परिवार सहित भली-भांति निर्वाह हो जाए उतना वेतन, नगद, धन अथवा भूमि के रूप में, मासिक/वार्षिक अथवा एक बार में ही मिलना चाहिए।
2. सेवा निवृत्त होने के बाद पेन्शन रूप में आधा वेतन मिलना चाहिए।
3. मरने के बाद उसके पत्नी व बच्चों को आधा वेतन मिलना चाहिए।
4. यदि उसके बच्चे समर्थ हो गए हों तो उन्हें राज्य में अपने पिता के स्थान नौकरी मिलनी चाहिए।
5. युद्ध में मरने वाले सैनिकों की पत्नियों को जीवन-भर पूरा वेतन पेन्शन रूप में मिलना चाहिए।
6. यदि उनके पुत्र समर्थ हो गये हों तो उन्हें भी राज्य के सेनाविभाग में नौकरी मिलनी चाहिए। पश्चात् उनकी पत्नियों को आधा वेतन मिलना चाहिए।
7. किसी ने 30 वर्ष तक भी यदि नौकरी कर ली हो तो उसको जीवनपर्यन्त आधा वेतन मिलना चाहिए।
8. मृतक कर्मचारी के यदि स्त्री-पुत्र कुकर्मी हों या धन का दुरुपयोग करते हों तो राजा को चाहिए कि वह उनको धन देना बन्द कर दे।
9. राजा इसका सदैव ध्यान रखे कि जितना मासिक वेतन दिया गया, उतना भृत्य ने कार्य किया है या नहीं।[3]

राजकर्मचारियों के साथ राजा का व्यवहार यथायोग्य होना चाहिए। सत्यनिष्ठ, परिश्रमी, राजभक्त और देशभक्त कर्मचारियों को प्रोत्साहन, सम्मान, पदोन्नति, आदि तथा कार्य करने

---

1. ऋषि दया. सरस्वती के पत्र और विचार, पृ. 798-798

2. शुक्रनीति । 1.316, 317

3. स्वामी दयानन्द का आर्थिक चिन्तन - डॉ. रामकृष्ण आर्य, पृ. 177

में अकुशल, असत्यभाषी, आलसी, प्रमादी देशभक्तिहीन कर्मचारियों को दण्डित करना राजा का कर्त्तव्य है। अच्छे कार्य करने वालों को यदि पुरस्कृत किया जायेगा तो अच्छा कार्य करने वालों की संख्या में वृद्धि होगी। इन पर व्यय भी सन्तुलित रूप में करना चाहिए।

■ सैन्य व्यवस्था पर व्यय–

राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा के लिए सैन्य व्यवस्था अत्यावश्यक है। सुदृढ़, सुव्यवस्थित सैन्य-शक्ति के अभाव में राजा अपने राज्य की बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा नही कर सकता। वेद का लक्ष्य विश्व-शान्ति होते हुए भी चोर, डाकू, अन्यायी, अत्याचारी, हिंसक दुष्टों को नष्ट करने के लिये सेना का एवं अस्त्र-शस्त्रों का होना वेद ने स्वीकार किया है।

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के प्रथम तथा द्वितीय सूक्त में राजा के नेतृत्व में शत्रुओं को नष्ट करने, उनकी सेनाओं को खदेड़ने, उन्हें व्याकुल करने, व्यूह बनाकर उनका मुकाबला करने, शत्रु सेनाओं को निहत्था करने आदि का ओजस्वी वर्णन मिलता है।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में अनेक मन्त्र रुद्र सेनापति को स्वयं विभिन्न प्रकार के हथियारों व युद्धोपकरणों से सुसज्जित होने तथा योद्धाओं को भी युद्ध की सामग्री से तैयार करने का संदेश देते हैं। सैन्य व्यूहों तथा शस्त्रास्त्रों एवं युद्धोपयोगी विभिन्न उपकरणों का वर्णन भी वेद में पाया जाता है, जैसे अश्व, रथ, विमान, जल नौका आदि।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "धनुर्विद्या से हम उत्तरोत्तर पृथिवियों को जीतें, धनुर्विद्या से हम विविध मार्गों को जीतें और धनुर्विद्या से तीव्र वेगवाली शत्रु-सेना को जीतें। धनुर्विद्या से शत्रु की सब काममाएँ नष्ट हो जाती हैं, अतः इसके आश्रय से समस्त दिशाओं को जीतें।"[1]

वीर सैनिकों के अस्त्र-शस्त्रों तथा गणवेष का वर्णन निम्न मन्त्रों में बहुत सुन्दरता से हुआ है–

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः,
सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथा पृश्निमातरः,
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ।।

ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि,
सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम् ।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो,
विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ।।[2]

"बर्छियां धारण करने वाले, भाले धारण करने वाले, उत्तम धनुष धारण करने वाले, बाण और तरकस रखने वाले, उत्तम रथ में बैठने वाले, उत्तम घोड़े अपने पास रखने वाले,

---

1. धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम ।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ।। यजु. 29.39

2. ऋग्. 5.57.2, 6

मातृ-भूमि की उपासना करने वाले आप वीर मन को अपने अधीन रखने वाले हैं- ऐसे आप शुभ कर्म करने के लिए आगे बढ़ो।''

आपके कंधों पर भाले हैं, आपके बाहुओं में बल, सामर्थ्य और ओज है, आपके सिर पर साफे हैं (नृम्णा हिरण्ययानि पदोष्णीषादीनि इति सायणः) रथों में आयुध रखे हैं। सब शोभा इनके शरीरों में चमकती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि वैदिक काल में सैन्य था, सेना में वीरों की भरती होती थी, उन सबका मिलकर एक गणवेश था, सबके अस्त्र-शस्त्र समान थे। वेद में राष्ट्र की रक्षा तथा पीड़ितों के त्राण के लिए युद्ध और सैन्य की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गई है।

इतने बड़े सैन्य-संगठन की सुव्यवस्था में राज्य की आय का बहुत बड़ा हिस्सा व्यय होना स्वाभाविक है। जब अपने राष्ट्र के अनुकूल समय हो तब शत्रु पर आक्रमण करना, अपनी सेना, कोष आदि की रक्षा करना, ये सब काम धन-व्यय के बिना हो ही नहीं सकते। जो राजा अपने सैनिकों को ठीक समय पर वेतन देता है, उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखता है उसकी सेना समय आने पर अपने प्राण देकर भी राष्ट्र की रक्षा करती है, इसके विपरीत वेतन आदि न मिलने पर सैनिक राजा को छोड़कर चले जाते हैं।

स्वामी दयानन्द यजुर्वेद भाष्य में लिखते हैं- राजा युद्ध में मरे सैनिकों को पेन्शन दे।[1] राजा नित्य प्रति अपनी सैन्य व्यवस्था एवं कोष का निरीक्षण करे जिससे राजा को राज्य के आय-व्यय की जानकारी होती रहे।[2]

वेद ने सैनिकों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी राजा को दी है। 'राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिए कि योद्धा लोगों की सब प्रकार से रक्षा, सबके सुखदायी घर, खाने-पीने योग्य पदार्थ, प्रशंसित पुरुषों का संग, अत्युत्तम बाजे आदि देने के अपने अभीष्ट कार्यों को सिद्ध करे।[3]

सैनिकों के स्वास्थ्य-संरक्षण के प्रति राजा को जागरुक रहना चाहिए। सैनिकों को दिया जाने वाला भोजन वैद्यक रीति से सुपरीक्षित, आयु, बल, बुद्धि, तथा पराक्रमवर्धक एवं ऋतुओं के अनुकूल होना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह सेना में चिकित्सकीय सुविधा प्रदान करने हेतु उच्चकोटि के चिकित्सकों की नियुक्ति करे। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो राजा सेना के भोजन के उत्तम प्रबन्ध को और आरोग्य के लिए वैद्य को रखता है वही प्रशंसित होकर राज्य बढ़ाता है।[4]

जो युद्ध में घायल, क्षीण, थके, पसीजे, छिदे-भिदे, कटे-फटे, अंग वाले और मूर्च्छित हों, उनको युद्धभूमि से उठाकर चिकित्सालय में पहुँचा कर औषधी-पट्टी कर स्वस्थ करना चाहिए। जो मर जावें उनको विधि से दाह दें। राजा-जन उनके माता-पिता, स्त्री और बालकों की सदा रक्षा करें।[5]

---

1. यजु. द.भा. 17.48, 18.77

2. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समु., पृ. 152

3. यजु. द.भा. 16.35

4. उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर ।। ऋग्. 5.6.9

5. यजु. द.भा. 17.48

महर्षि दयानन्द ने सैनिकों के मनोरंजन एवं उत्साह के संवर्धन हेतु वाद्य-यन्त्रों को भी आवश्यक माना है। उनका कथन है कि 'हे राजादिजनो! तुम लोग दुन्दुभि आदि वाद्यों से भूषित, हर्षित वा पुष्टि से युद्ध में सेनाओं को अच्छे प्रकार रख कर विजयी बनो।[1] इस कथन से ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द ने मनोहारी तथा वीर-भावयुक्त दुन्दुभि आदि वाद्य-यन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों से वीरों का पौरुष उद्दीप्त करने हेतु यह व्यवस्था करने का निर्देश दिया है।

■ सैनिकों का सम्मान और उनके परिवारों की व्यवस्था–

सेना राष्ट्र के अस्तित्व, विकास एवं सुरक्षा का मूलाधार है। अतः राजा संग्राम में तेज़स्वी, भय-रहित, अग्रगामी एवं शत्रुनाशक वीरों का धन, अन्न, गृह और वस्त्रादि से निरन्तर सत्कार करते हुए उन्हें पुत्रवत् पाले।[2]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने युद्ध में प्राप्त धन आदि के सेना में वितरण तथा वीरगति प्राप्त योद्धाओं के आश्रितों हेतु दी जाने वाली सहायता के सम्बन्ध में मनु के माध्यम से निर्देश दिये हैं–

1. इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य या अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियाँ तथा अन्य प्रकार के द्रव्य और घी-तेल आदि के कुप्पे जीते हों, वही उस-उस धन का ग्रहण करे।[3]

2. सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थो में से सोलहवाँ भाग राजा को दें तथा राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से सोलहवाँ भाग दे।[4]

इसी तथ्य को अपने वेद-भाष्य में (यजु. भा. 17.51) भी स्पष्टतः स्वीकार करते हुए लिखा है कि '. . . . जो सभापति अपने हित को किया चाहे, तो लड़ने हारे भृत्यों का भाग आप न लेवे।'

■ सैनिकों के लिए क्रीड़ा का प्रबन्ध–

वेद में मरुतों (सैनिकों) के लिए अनेक स्थानों पर **'क्रीडयः'** और **'प्रक्रीडिनः'** विशेषणों का प्रयोग हुआ है। इनका अर्थ होता है– 'खेलने वाले'। इससे यह भाव निकलता है कि सैनिकों के खेलने का प्रबन्ध सेनाधिकारियों को करना चाहिए।

'उपक्रीडन्ति क्रीडाः'[5] – ये मरुत् क्रीड़ाएं अर्थात् खेल खेलते हैं।

'क्रीळथ मरुतः'।[6] – हे मरुतो तुम खेलते हो।

आदि वेदवचनों से यह स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है कि राज्य को सैनिकों के खेलने की भली-भांति व्यवस्था करनी चाहिए। सैनिकों में बल-वृद्धि करने और उनके स्वास्थ्य

1. ऋग्. द.भा. 6.47.31
2. ऋग्. द.भा. 4.15.4 तथा यजु. भा. 17.50
3. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 99 (मनु. 7.96)
4. वही, पृ. 99 (मनु. 7.97)
5. ऋग्. 1.166.2
6. ऋग्. 5.06.3

को ठीक रखने के लिए जहाँ उनको पौष्टिक आहार देना आवश्यक है, वहाँ नाना प्रकार के खेलों का प्रबन्ध भी राज्य को करना चाहिए। इस कार्य में जो व्यय होता है वह राज्य का दायित्व है।

▮ सैनिकों को वेतन–

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है– ये मरुत् ऐसे हैं जिनमें न कोई बड़ा, न कोई छोटा है, ये सब भाई हैं, ये सब राष्ट्र के सौभाग्य के लिए मिल कर बढ़ते हैं, अपनों की रक्षा करने वाला, युवा सेनापति रुद्र उनका पिता है अर्थात् पिता के समान हित बुद्धि से उनकी पालना करने वाला है, पृश्नि अर्थात् मातृभूमि इनके दिनों अर्थात् जीवन को उत्तम बनाने वाली बन जाती है।[1]

इस मन्त्र से स्पष्ट सूचित होता है कि राष्ट्र को अपने सैनिकों का भरण-पोषण बहुत अच्छी तरह करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है–

'सहस्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम् ।'[2]

अर्थात् हे मरुतो! जो गृहस्थों को दिया जाता है, जो घर में रखा जाता है, और जो हजारों की संख्या में दिया जाता है अथवा जो हजारों का पालन कर सकता है, ऐसे अपने इस भाग को प्रीति पूर्वक सेवन करो।

इस मन्त्र से प्रत्येक सैनिक को उसके सेवन के लिए उसके खाने पीने के लिए उसका नियत भाग देने का निर्देश है। इस 'भाग' के 'जो गृहस्थों को दिया जाता है' और 'जो घर में रखा जाता है' ये विशेषण द्योतित करते हैं कि सैनिक को जो कुछ भरण-पोषण के लिए मिले वह इतना थोड़ा न हो कि उससे केवल उसी का गुजारा हो सके, प्रत्युत इतनी मात्रा में होना चाहिए कि उससे एक गृहस्थ के घर का सारा व्यय ठीक प्रकार चल सके, उसके स्त्री-पुत्र आदि की सब आवश्यकताएँ भी अच्छी तरह पूर्ण हो सकें। उस 'भाग' की पुष्कलता को बनाने के लिए ही 'सहस्रियं' विशेषण दिया गया है। इसका आशय यह है कि सैनिक को जो 'भाग' (वेतन) भरण-पोषण के लिए दिया जाये वह सहस्रों की संख्या में हो अथवा इतना अधिक हो कि यदि उसे हजार आश्रितों की पालना करनी पड़े तो कर सके। **'सहस्रियं'** पद का प्रयोग केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि सैनिक की सब आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूर्ण होनी चाहिए। 'सहस्रियं' का 'सहस्र संख्या में' ऐसा अर्थ करने पर इस पद से यह ध्वनि भी निकलती प्रतीत होती है कि सैनिक को मुद्रा (सिक्के) के रूप में वेतन मिलना चाहिए।

▮ शिक्षा पर व्यय –

भारतीय मनीषियों ने शिक्षा को शरीर, आत्मा और मन के विकास का प्रमुख साधन माना है। शिक्षा केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित न रह कर आत्मचिन्तन अथवा

---

1. *अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।*
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ।। ऋग्. 5.60.5

2. *ऋग्. 7.56.14*

आत्मदर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है। शिक्षा ही मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाती है, उसे सुयोग्य नागरिक बनाती है, शिक्षाविहीन मानव पशुतुल्य हैं। मानव का शारीरिक, बौद्धिक आत्मिक, सामाजिक सर्वांगीण विकास शिक्षा से ही संभव है, अतः वैदिक साहित्य में शिक्षा को अनिवार्य माना गया है। शिक्षा वह दीपक है जो जीवन भर हमारा पथप्रदर्शन करता है। यही कारण है कि राष्ट्र में और कोई व्यवस्था हो या न हो सर्वप्रथम संस्कार युक्त शिक्षा की व्यवस्था अपरिहार्य है। इसी से राजा-प्रजा में अपेक्षित गुणों का विकास होता है। ऋषियों ने विद्यादान को 'अक्षयदान' माना है। महर्षि दयानन्द ने शिक्षा की परिभाषा करते हुए कहा है- 'वही शिक्षा है, जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि हो और अविद्यादि दोष छूटें।'[1] 'सुविधा से ही चक्रवर्ती राज्यश्री आदि की प्राप्ति, रक्षण और उन्नति का सामर्थ्य उत्पन्न होता है।'[2] तथा मूर्ख और विद्वानों के संग्राम में विद्वानों की ही विजय होती है।'[3]

शिक्षा के विषय में महर्षि द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषा और संकल्पना से यह स्पष्ट होता है कि उनके लिए शिक्षा वह अनुशासन है, जो बौद्धिक और शारीरिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्तियों में संयम तथा आत्मनियन्त्रण की शक्ति उत्पन्न करती है और साथ ही सत्यासत्य, धर्माधर्म एवं कर्तव्याकर्तव्य का बोध भी कराती है, जिससे व्यक्ति का सर्वविधि हित होता है। अतः राजा को चाहिए कि वह विद्या के प्रकाश से राज्य और यश की वृद्धि करे। स्वामी दयानन्द ऋग्वेदभाष्य में लिखते हैं- ''सभापति राजा पुत्र के समान प्रजा को शिक्षा देने।''[4] 'उत्तम शिक्षा से हम लोगों की प्रातःकाल के सदृश रक्षा करें।'[5] इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए महर्षि ने एक विज्ञापन में शिक्षा-व्यवस्था को राज्य का आवश्यक कार्य मानते हुए कहा था कि 'राजा का मूर्ख होना बहुत बुरा है, परन्तु प्रजा का भी मूर्ख होना बहुत बुरा है। किन्तु मूर्खों के ऊपर राज्य करने से राजा की शोभा नहीं, किन्तु प्रजा को विद्यायुक्त धर्मात्मा और चतुर करके उन पर राज्य करने में राजा और प्रजा की शोभा और सुखों की उत्पत्ति होती है।[6]

इस विज्ञापन से भी यह स्पष्ट होता है कि राज्य को शिक्षा की अनिवार्य रूप से व्यवस्था करनी चाहिए।

राजा को राष्ट्र में शिक्षा का प्रचार करना चाहिए और अज्ञानकृत अन्धकार को राष्ट्र में से नष्ट कर देना चाहिए, ऐसा निर्देश वेद के अनेक मन्त्रों से प्राप्त होता है। उदाहरण रूप में कतिपय मन्त्र अथवा मन्त्रखण्ड प्रस्तुत हैं-

1. **'तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ।'[7]**

अर्थात् हे अग्नि! (सम्राट्) मनुष्य लोग (मरुतः) तेरे नियमों में रह कर क्रान्तदर्शी

---

1. सत्यार्थप्रकाश, पृ. 406 (स्वमन्त.)

2. ऋ. भा. भू. पृ. 291

3. यजु. द.भा. 33.63

4. ऋग्. द.भा. 1.31.11

5. ऋग्. द.भा. 4.1.5

6. ऋ.द.स.के प. और वि.भाग। पृ. 42

7. ऋग्. 1.31.1

विद्वान्, सब कर्मो को जानने वाले तीव्र दृष्टि वाले हो जाते हैं।' राजा का धर्म है कि वह इस प्रकार का शिक्षा-प्रबन्ध करे कि प्रजा के लोग ज्ञानवान् बन जायें।

2. **'शिक्षा नर:'।**[1]

हे इन्द्र! (सम्राट) तू राष्ट्र के लोगों को शिक्षित कर। यहाँ तो स्पष्ट ही शिक्षा प्रचार राज्य का एक कर्त्तव्य माना गया है।

3. **'द्युमान् असि क्रतुमान् इन्द्र धीर: शिक्षा शचीवस्तव न: शचीभि: ।**[2]

हे इन्द्र! (सम्राट्) तू प्रकाशमान है, कर्मशील और प्रज्ञावान् है, शक्तिशाली है, अपनी शक्तियों से हमें शिक्षित कर। यहाँ भी प्रजा में शिक्षा प्रचार का स्पष्ट वर्णन है।

4. **इन्द्र . . . . . तब प्रणीती तव शूर शर्मन्ना विवासन्ति कवय: सुयज्ञा:।**[3]

हे इन्द्र! (सम्राट्) उत्तम रीति से संगति करने वाले क्रान्तदर्शी विद्वान् तेरी प्रकृष्ट नीति और मंगल में रहकर प्रजा के अन्धकार को दूर करते हैं। प्रजाओं के अन्धकार को दूर करना उनमें शिक्षा प्रचार के बिना नहीं हो सकता।

5. **शिक्षानर: . . . . . समिथेषु प्रद्यवान् ।**[4]

हे इन्द्र! (सम्राट्) तू शिक्षा से मनुष्यों का नेतृत्व करने वाला है और इस प्रकार युद्धों में शत्रुओं को मारने वाला है।

राजा प्रजाओं का नेतृत्व, उनका शासन, उनमें शिक्षा का प्रचार करके करता है। इन्द्र 'शिक्षानर' होकर युद्धों में शत्रुओं को मारता है, इस वाक्य से यह भाव भी निकलता है कि राजा युद्ध शिक्षा का भी प्रबन्ध करे।

6. **इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।**
शिक्षाणो अस्मिन् पुरूहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ।।[5]

हे इन्द्र! (सम्राट्) पिता जैसे अपने पुत्रों को ज्ञान और कर्म का उपदेश देता है, वैसे ही तू हम प्रजाजनों को इनका उपदेश दे, हे पुरुहूत! तू हमें जीवन मार्ग में शिक्षित कर जिससे हम जीव लोग प्रकाश को प्राप्त कर सकें।

इस मन्त्र में राजा द्वारा राष्ट्र में शिक्षा प्रचार द्वारा प्रकाश फैलाने का स्पष्ट निर्देश है।

7. **प्रावां देवां अतिरो दासमोज: प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र।**[6]

हे इन्द्र! (सम्राट्) तूने जो इस प्रजा में शिक्षा का प्रचार किया उससे तूने देवों की तो रक्षा कर ली और दास अर्थात् प्रजा को क्षीण करने वाले लोगों के बल को क्षीण कर लिया।

शिक्षा प्रचार से राष्ट्र में देव-शक्ति बढ़ जाती है। इस देवशक्ति की वृद्धि करने वाली शिक्षा का राजा को प्रजा में सदा प्रचार करते रहना चाहिए।

8. **अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे ।**
आच्छीद्रोहनी पीपयद्यथा न: सहस्रधारा पयसा मही गौ: ।।[7]

---

1. ऋग्. 1.53.2
2. ऋग्. 1.62.12
3. ऋग्. 3.51.7
4. ऋग्. 4.20.8
5. ऋग्. 7.32.26
6. ऋग्. 10.54.1
7. ऋग्. 10.133.7

हे इन्द्र! (सम्राट्) आप हमें उस वाणी (गां) अर्थात् ज्ञान की सुशिक्षा दीजिए जो स्तुतिकर्ता शिष्य को प्रतिफल के रूप में अनेक वर देती है जिससे पूर्ण ऊधस वाली और अनेक धाराओं वाली वह महान् गौ (वाणी-विद्या) हमें अपने दूध से वृद्धि देवे। - वाणी का अलंकार से गौ के रूप में वर्णन किया गया है। वेद में वाणी-वाची शब्दों का प्रयोग विद्या-विज्ञान के अर्थो में अनेक स्थलों में हुआ है। वाणी की सुशिक्षा देने के लिए सम्राट् से प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्राय निकलता है कि राजा को राष्ट्र में सुशिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

राष्ट्र में सुशिक्षा की व्यवस्था राजा करे, इस वेद के सन्देश के पीछे देश को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने की उदात्त भावना है। जिस राष्ट्र के नागरिक सुशिक्षित, संस्कारवान् होंगे वह राष्ट्र सदा वृद्धि करता है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में भूमि के लिए एक वाक्य आता है– **'ब्रह्मणा वावृधानाम्'**। अथर्व. 12.1.29

अर्थात् यह हमारी मातृभूमि ब्रह्म अर्थात् महान् ज्ञान द्वारा हमारी वृद्धि करने वाली है। ज्ञान द्वारा मातृभूमि तभी वृद्धि कर सकती है जबकि उसमें शिक्षा का प्रचार हो।

इस प्रकार वेद में स्थान-स्थान पर उपदेश दिया गया है कि राजा को अपने राज्य में सब प्रकार की ज्ञानवर्धक शिक्षा का व्यापक प्रचार करना चाहिए।

▪ कन्याओं की शिक्षा–

राजा का यह भी कर्त्तव्य बताया गया है कि वह जैसे बालकों के लिए उत्तम शिक्षा का प्रबन्ध करे वैस ही कन्याओं की शिक्षा का प्रबन्ध भी उसे करना चाहिए। बालकों के समान कन्याओं को भी ऊँची शिक्षा दी जानी चाहिए। ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा गया है कि 'कन्या ब्रह्मचर्य पालन द्वारा युवा पति को प्राप्त करती है।"[1]

ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी के व्रतों, नियमों और कर्त्तव्य-कर्मो का पालन करना। विद्यार्थी के कर्त्तव्य कर्मों में एक कर्त्तव्य वेदादिशास्त्रों और अन्य शास्त्रों की ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करना भी है।

वेद राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य शिक्षा का पक्षपाती है। इसीलिए वेद के अद्वितीय वेत्ता महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि 'राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि बालक और बालिकाओं को पढ़ने योग्य आयु होते ही उनको पाठशालाओं में पढ़ने के लिए भेज दिया जाय, कोई भी अपने बालकों को घर में न रखे, जो माता-पिता ऐसा न करें वे दण्डित किए जाएं।[2]

महर्षि ने राज्य के बजट में से शिक्षा के लिए 10 प्रतिशत धन व्यय करने का प्राविधान रखा है।

वैदिक शिक्षा में विद्यालयों का निर्माण, उनमें सुयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति, छात्रों का प्रवेश, उनके आवास, भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था यह सब राज्य का दायित्व था। वेद के आधार पर स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि विद्यालय में सबको एक समान वस्त्र, खान-पान तथा आसन दिया जाय, चाहे वह राजकुमार हो या राजकुमारी हो अथवा दरिद्र

1. *ब्रह्मचर्येण कन्यायुवानं विन्दते पतिम् । अथर्व. 11.5.18*
2. *सत्यार्थ प्रकाश, 2 समुल्लास ।*

की सन्तान।[1] महर्षि का मत है कि गुरुकुलों में नियुक्त किये जाने वाले अध्यापक या अध्यापिका भ्रष्ट तथा दुराचारी न हों, अपितु जो मनुष्य कहने योग्य को कहें, पाने योग्य को पावें, नमने योग्य को नमें, मारने योग्य को मारें, और जानने योग्य को जानें, वे ही आप्त होते हैं।[2]

महर्षि का यह भी निर्देश है कि राजा विद्या देने वालों के लिए उत्तम धन भी दे।[3]

छात्रों को निःशुल्क शिक्षा, चिकित्सा, भोजन आदि–

वेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में काव्यमयी भाषा में आचार्य के लिए कहा गया है कि वह शिष्य के लिए औषधि भी है, पय भी है[4] आदि। तात्पर्य यह है कि आचार्य शिष्यों को औषधियाँ देता है और नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ भी प्रदान करता है। आचार्य के इस वर्णन से यह संकेत मिलता है कि रोगी हो जाने पर सब प्रकार की चिकित्सा तथा खाने-पीने के लिए सब प्रकार के भोजन और दूध आदि पदार्थ छात्रों को राज्य की ओर से आचार्य के माध्यम से मिलने चाहिए। मन्त्र के औषधि और पय शब्द वस्त्रादि सभी प्रकार की सामग्री के उपलक्षक हैं। इस कार्य के लिए शिक्षणालयों को राष्ट्र की ओर से पुष्कल आर्थिक सहायता दी जायेगी। धनाभाव या गरीबी के कारण राष्ट्र की कोई भी बालिका या बालक शिक्षा से वंचित न रहने पायें यह व्यवस्था राज्य को करनी चाहिए।

आचार्य के द्वारा शिक्षणालय की ओर से मिलने वाली सभी प्रकार की सामग्री और सुविधाएँ सभी छात्रों को एक समान मिलेंगी। छात्रों के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं बरता जायेगा, चाहे कोई छात्र किसी निर्धन मजदूर का बालक है, चाहे किसी प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति का बालक है। वेद में अनेक स्थलों पर मानवमात्र को उपदेश दिया गया है कि सबको परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिए और सबको अपना खान-पान समान रखना चाहिए।[5] अपने नागरिक जीवन में किसी राष्ट्र के लोग समानता के इस ऊँचे आदर्श का पालन तभी भली-भाँति कर सकेंगे, जबकि शिक्षा काल में उनके गुरुओं ने अपने शिक्षणालयों में उनसे इस ऊँचे आदर्श का पालन करवा रखा होगा।

वेद के महान् ज्ञाता **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने सत्यार्थ प्रकाश में निर्देश दिया है कि 'वेद-विद्या, धर्म-प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक, असमर्थ और अनाथों के पालन में राज्य का धन व्यय करे।[6] विद्वान् अनुसन्धानकर्ता, लेखक, कवि, आचार्य एवं विद्यावान् होनहार छात्रों का सहयोग और सत्यकार करने में अपने राज्य के धन को लगावें।[7] इस प्रकार प्रजा को पुत्र मानकर अपने राज्य के कोष की एक अच्छी राशि उनके पालन-पोषण

---

1. *सत्यार्थ प्रकाश, 2 समुल्लास ।*
2. *ऋग्. द.भा. 2.1.9*
3. *ऋग्. द.भा. 3.62.4*
4. *आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः । अथर्व. 11.5.14*
5. *समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योवत्रे सह वो युनज्मि ।*
   सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।। अथर्व. 3.30.6
6. *स.प्र. षष्ठ समु. पृ. 142*
7. *स.प्र. षष्ठ समु. पृ. 139.140*

और शिक्षा-प्रसार में व्यय करें।[1]

शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला धन सर्वाधिक उपयोगी एवं लाभप्रद होता है, जिस देश की प्रजायें सुशिक्षित होंगी, उस देश में शान्ति, सुव्यवस्था स्थापित करने में राजा को अधिक प्रयत्न नहीं करना होगा। उस राष्ट्र में कला-कौशल की वृद्धि होगी, लोग परस्पर प्रेम से रहेंगे। मातृभूमि के प्रति अपार श्रद्धा धारण कर प्रजाजन देश रक्षा के लिए सर्वदा तत्पर रहेंगे। गुरुकुलीय शिक्षा में चारित्रिक, नैतिक शिक्षा पर बल दिये जाने से नैतिक मूल्यों की सुरक्षा होगी। इस देश का जीवन-सन्देश **'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्वभूतेषु'** स्वयं चरितार्थ होगा। इसलिए राजा को शिक्षा-व्यवस्था पर मुक्तहस्त से व्यय करना चाहिए।

प्रजाओं में जो धनवान् धार्मिक, परोपकारवृत्तिवाले नागरिक हैं उन्हें अपनी व्यक्तिगत आय में से कुछ भाग शिक्षा पर अवश्य लगाना चाहिए। क्योंकि वैदिक संस्कृति कहते है-

'सर्वेषां दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।'

प्राचीन कालमे नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशीला, उड्डयन्तपुर, वलभी आदि बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों एवं पुस्तकालयों का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि उस काल में शिक्षा पर प्रचुर मात्रा में राजकीय अर्थ व्यय किया जाता था।

■ चिकित्सा पर व्यय-

वेद के अनेक मन्त्रों में सम्राट् से ऐसी प्रार्थनाएँ की गई हैं जिनसे स्पष्ट संकेत मिलता है कि राष्ट्रवासियों की चिकित्सा का प्रबन्ध राज्य को करना चाहिए। इस विषय के कुछ मन्त्र प्रस्तुत हैं-

1. **विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ।** **ऋग्. 1.9.7**

हे इन्द्र! (सम्राट्) तू हमें क्षीणता रहित आयु दे।

2. **नव्यमायुः प्र सू तिर ।** **ऋग्. 1.10.11**

हे इन्द्र! (सम्राट्) तू हमारी आयु को बढ़ाकर लम्बी कर और उसे ऐसा बना दे जिससे सब उसकी प्रशंसा करें।

3. **बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।** **ऋग्. 3.15.1**

हे अग्नि! (सम्राट्) तू हमारे शत्रुओं को रोक, छिपे-छिपे नाश करने वालों को रोक, रोगों को रोक।

4. **स त्वं नो रायः शिशीहि . . अनमीवस्य.** **ऋग्. 3.16.3**

हे अग्नि! (सम्राट्) जिसके सेवन करने से रोग न हों, ऐसे धन से हमें समृद्ध कर।

5. **वयोवयो जरसे यद् दधानः ।** **ऋग्. 5.15.4**

हे अग्नि! (सम्राट्) तू वृद्धावस्था तक जीने के लिए आयु और अन्न देता है।

6. **बलं धेहि तनुषु नो बलमिन्द्रानुळुत्सु नः ।**
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ।। ऋग्. 3.53.18

---

1. *ऋग्. द.भा. 4.49.4*

हे इन्द्र! (सम्राट्) तू हमारे शरीरों में बल धारण करा, हमारे बैलों में बल धारण करा, हमारे पुत्र और पौत्रों में बल धारण करा। तू ही जीवन के लिए बल देनेवाला है।

उपर्युक्त मन्त्रों में प्रयुक्त सम्राट् के विशेषणों और उनसे की जाने वाली प्रार्थनाओं का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि वेद की सम्मति में राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे उसके राष्ट्र के लोग नीरोग, बलवान ओर दीर्घ आयु वाले हों। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राज्य को राष्ट्र के स्वास्थ्य का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिए। इस विषय में कुछ अन्य मन्त्र भी प्रमाण रूप में उद्धृत किये जा रहे हैं–

1. **अग्ने त्वमस्मद् युयोध्यमीवाः ।** **ऋग्. 1.189.3**

हे (सम्राट्) अग्नि तू रोगों से युद्ध करके उन्हें हमसे परे भगा दे।

2. **विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् ।** **अथर्व. 7.84.1**

हे अग्नि (सम्राट्) तू सब प्रकार के रोगों को छुड़ाने वाला है।

3. **उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी ।** **अथर्व. 12.1.62**
4. **अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गधऽपामीवामथ रक्षांसि सेध ।**

ऋग्. 10.98.12

हे अग्नि (सम्राट्) तू हमारे शत्रुओं को रोक, कठिनता से मारी जाने वाली हमारी और विपत्तियों को रोक, रोगों को हमसे परे भगा दे। और राक्षसों अर्थात् छिपे-छिपे क्षीण करने वाली कृमि आदि को दूर कर दे।

इन मन्त्रों से स्पष्ट सूचना मिल रही है कि वेद के अनुसार राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र को सब प्रकार के रोगों से निरापद करे – उसके स्वास्थ्य का पूर्ण प्रबन्ध करे।

राजा को प्रजा की स्वास्थ्य रक्षा के लिए सबसे बड़ा प्रयत्न यह करना चाहिए कि कहीं पर रोगोत्पादक क्रिमि न रहने पाये। इन क्रिमियों के नाश के लिये अथर्ववेद के एक संपूर्णसूक्त में पाँच मन्त्रों द्वारा बहुत सुन्दर उपदेश दिया गया है। सूक्त का अन्तिम मन्त्र इस प्रकार है–

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
येअस्माकं तन्वमविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रीमीणाम् ।

अथर्व. 2.31.5

अर्थात् – पर्वतों में, जंगलों में, औषधियों में, पशुओं में, जलों में और हमारे शरीरों में जो क्रिमि घुसे हुए हैं, इन सब स्थानों में उनकी उत्पत्ति के कारणों को मैं नष्ट कर देता हूँ।

इन क्रिमियों को भिषक् किस प्रकार मारता है, इसका वर्णन सूक्त के प्रथम मन्त्र में दर्शनीय है–

इन्द्रस्य या महीदृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँ इव ॥ **अथर्व. 2.31.1**

अर्थात् – सब प्रकार के क्रिमियों को मारने वाले जो इन्द्र (सम्राट्) की महान् दृषद् है उससे मैं सब क्रिमियों को पीस मारता हूँ, जैसे कि शिला से चनों को पीस देते हैं।

मन्त्र में भिषक् कह रहा है कि मैं इन्द्र की दृषद् से क्रिमियों को मारता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि सम्राट् की ओर से नगर-नगर में क्रिमि-नाशक औषधियों और रासायनिक पदार्थों का प्रबन्ध रहना चाहिए और ऐसे वैद्य रखे जाने चाहिए जो उन औषधों के प्रयोग

से रोग-जनक क्रिमियो को नष्ट करते रहें तथा उनकी उत्पत्ति को रोकते रहें।

राज्य की ओर से बहुत बड़ी मात्रा में ऐसे प्रबन्ध किये जाने चाहिए जिससे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उनसे लाभ पहुँच सके।

वेद यह भी निर्देश देता है कि स्त्री-रोगों की चिकित्सा की व्यवस्था भी पृथक् से राज्य को करनी चाहिए। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में स्त्री के गुप्त अंगों के तथा शरीर के अन्य अंगों के रोगों को दूर करने का वर्णन है। दोनों वेदों में इस विषय में एक मन्त्र समान रूप से आया है–

ब्रह्माग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ।।[1]

अर्थात् ब्राह्मण के साथ मिलकर राक्षसों को मारने वाला अग्नि (सम्राट्) तेरे गर्भाशय में और योनि में जो रोग आ बैठा है उसे यहाँ से हटाये।

स्वास्थ्य संरक्षण के सन्दर्भ में महर्षि ने राजा को यह सुझाव दिया है कि वह मनुष्यों के भोजन में धर्मशास्त्रीय एवं वैद्यक शास्त्रीय वर्जनाओं के परिपालन पर ध्यान दे। प्रजा को ऐसा अन्न-पानादि ग्रहण न करने दे, जिससे बाल-बुद्धि का नाश हो, आत्मा विकृत हो तथा धर्मार्थ कामादि से च्युत होकर पशुवत् आहार-विहार, भय-निद्रा तथा मैथुन आदि कर्मो में ही लिप्त हो जाय। राजा द्वारा ध्यान दिये जाने पर भी लोगों का रुग्ण एवं अस्वस्थ होना स्वाभाविक है। अतः महर्षि ने राजा को चिकित्सकों की नियुक्ति का परामर्श दिया है। उनका मत है कि राजादि सभासद लोग सबके अधिष्ठाता, मुख्य धर्मात्मा, जिसने सब रोगों व औषधियों की परीक्षा ली हो, उस वैद्य को राज्य और सेना में रख के बल और सुख के नाशक रोगों को निवृत्त करे।[2] तथा राजा के वैद्य धर्म की नीति औषधि के दान, हस्त-क्रिया की कुशलता और शल्य-चिकित्सा करके रोगों से बचा के सब सेना और प्रजाओं को प्रसन्न करें।[3]

■ स्वास्थ्य रक्षा के लिए वन-सम्पदा संरक्षण–

राष्ट्रीय स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जहाँ चिकित्सकों की व्यवस्था, उत्तम पौष्टिक भोजन आदि का प्रबन्ध आवश्यक है वहाँ प्रदूषण के निवारण के लिए वन-सम्पदा का संरक्षण और पर्यावरण रक्षा भी अत्यावश्यक है। प्रदूषण के कारण अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, वनों की रक्षा से एक ओर पर्यावरण की रक्षा होती है तो दूसरी ओर वर्षा भी यथेष्ट होती है। वन संपदा की रक्षा राज्य द्वारा ही संभव है, महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य में वन-संपदा के संरक्षण और उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि वन के वृक्षों की रक्षा के बिना बहुत वर्षा और रोगों की न्यूनता नहीं होती है।[4] अतः राजा को वन आदि के रक्षक मनुष्यों को अन्नादि पदार्थ देकर वृक्षों और औषधि आदि पदार्थो की उन्नति करनी चाहिए।[1] क्योंकि जो वनादिकों की रक्षा से घास-फूस और औषधियों को बढ़ाते हैं, वे सब

---

1. ऋग्. 10.162.1 तथा अथर्व. 20.96.1

2. यजु. द.भा. 16.5

3. यजु. द.भा. 16.46

4. यजु. द.भा. 12.33

का उपकार करने योग्य होते हैं।[2]

प्रदूषण की समस्या मनुष्य जनित है, ईश्वर जनित नहीं। दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से नाना प्रकार के रोग होते हैं तथा रोग से प्राणियों को दुःख पहुँचता है। मनुष्य के शरीर से उत्पन्न दुर्गन्ध भी वायु और जल को विषाक्त कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होती है। इसलिए महर्षियों ने वायु-प्रदूषण एवं जल-प्रदूषण से छुटकारा पाने के लिए यज्ञ करने का निर्देश दिया है। महर्षि दयानन्द के अनुसार 'यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु ओर वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है'[3] यज्ञ-क्रिया का विज्ञान तथा लाभ समझाते हुए दयानन्द लिखते हैं कि यज्ञ का धूम जब परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं, फिर वे परस्पर मिल के बादल हो के उनसे वृष्टि, वृष्टि से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म तथा कर्म से कल्याण बनता है।'[4]

ये यज्ञ प्रत्येक घर में होने चाहिएं, तो दूसरी ओर इन यज्ञों का बृहद् रूप में आयोजन राज्य की ओर से भी किया जाना चाहिए क्योंकि उसके लिए पुष्कल साधनों की एवं धन की आवश्यकता होती है, जोकि राज्य ही कर सकता है। प्राचीन काल में राज्य की ओर से ऐसे प्रदूषण निवारक विशाल यज्ञ संपन्न किये जाते थे।

■ न्याय एवं दण्ड व्यवस्था–

अपने देश में निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था करना एवं अपराधियों को उचित दण्ड देना राजा का प्रधान कार्य है। न्याय-व्यवस्था का संचालन पूर्ण रूप से राज्य के अधीन होता है। न्याय-व्यवस्था के लुप्त होने पर सम्पूर्ण राष्ट्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मनु ने राजा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि संसार में जब अराजकता छायी हुई थी, तथा सब लोग उससे भयसंत्रस्त थे तब परमेश्वर ने राजा की सृष्टि की[5] इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि राजा की सृष्टि यथायोग्य न्याय-व्यवस्था द्वारा प्रजा को निर्भय करने के लिये हुई है। इसीलिए वेदों में और हमारे प्राचीन स्मृति-ग्रन्थों में न्याय-व्यवस्था को ठीक प्रकार से चलाने पर बल दिया गया है।

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार समाज में व्याप्त बुराईयों एवं अपराधों की रोकथाम के लिए दुष्टों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देना तथा श्रेष्ठ कर्मो के प्रचार-प्रसार के लिए सज्जनों को उनके श्रेष्ठ कार्यो के लिए पुरस्कृत करना न्याय कहलाता है। वेद में अनेक स्थानों पर न्याय-प्रणाली के सम्बन्ध में सुन्दर-सुन्दर विचार देखे जा सकते हैं। विभिन्न दण्डों के निर्धारण, न्यायालयों की स्थापना, न्यायालयों के अधिकारी तथा सर्वोच्च निर्णायक पुरोहित आदि की सम्यक् व्यवस्था करने का राज्य को निर्देश दिया गया है।

---

1. यजु. द.भा. 16.19

2. ऋग्. द.भा. 1.188.10

3. ऋ.भा. भू. पृ. 49-50

4. वही, पृ. 50

5. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः । मनु. 7.3

वेदों में न्याय, न्यायाधीश, न्यायवित्, न्यायाध्यक्ष आदि शब्द स्पष्ट रूप से नहीं होते हैं तथापि दूसरे ढंग से न्याय-व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है। आधुनिक युग के महान् वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द ने अग्नि, इन्द्र, वरुण, अर्यमा, यम, सोम, आदित्य आदि वैदिक देवों की न्यायाधीश के पक्ष में अर्थ योजना की है।[1]

न्याय-व्यवस्था के लिए राजा को न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का निर्देश अथर्ववेद में इस प्रकार दिया गया है–

परीमं सोममायुषे महे क्षत्राय धत्तन।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेऽधि जागरत् ।। अथर्व. 19.24.3

अर्थात् हे राज्य के प्रधान पुरुषो। इस सौम्य गुण सम्पन्न न्यायाधीश को राष्ट्र की स्थिरता अर्थात् दीर्घायुष्य के लिए, प्रजा के कष्टों व विवादों को सुनने के लिए नियुक्त करो। ये न्यायाधीश दीर्घकाल तक प्रजा के कष्टों को सुनने के लिए जागरुक रहें।

नियुक्त न्यायाधीश तथा अन्य सहयोगी वर्ग के साथ राजा के न्यायादि कार्य करने की पुष्टि एक अन्य मन्त्र से निम्न प्रकारहोती है– 'हे राजन्! हमारी प्रार्थनाओं को प्रीतिपूर्वक सुनिये तथा इस महान् राष्ट्र के शासन के लिए अपने सहयोगी जनों के साथ तैयार रहिये।[2]

वरुण राजा के कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए वेद में उसे सत्यासत्य का दर्शन करने वाला बतलाया है।[3]

सम्राट् न्यायाधीश के रूप में प्रजा के अपराधों का निर्णय करने से पूर्व गुप्तचरों या अन्य माध्यमों से यथावत् विवेचन करता है। इन्द्र राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी माना गया है। वेद में राजा के लिए धर्मकृत् (न्याय करने वाला) शब्द का प्रयोग मिलता है।[4]

वरुण राजा से प्रार्थना करते हुए कहा गया है– हे राजन् ऋतसे अनृत को पृथक् करते हुए तू मेरे राष्ट्र का अधिपति बन।[5]

सत्यासत्य का विवेकी, उत्कृष्ट ज्ञानी, सोमगुणयुक्त न्यायकर्ता असत्य का नाश तथा सत्य की रक्षा करता है।[6]

इस प्रकार वेदों में न्याय के विषय में सुन्दर उपदेश मिलते हैं। वेद में सुदृढ़ न्याय-

---

1. द्रष्टव्य - दयानन्दभाष्य, अग्ने-न्यायाधीश। ऋग्. 6.16.31; इन्द्र नयेश विद्वन्। ऋग्. 6.21.8 वरुण - न्यायकारिन्। यजु. 6.22; अर्यमा योऽनि मन्यते स न्यायाधीशः। यजु. 36.9; यमाय नियन्त्रे न्यायाधीशाय वायवे वा। यजु. 39.13; यमेन - न्यायाधीशेन। यजु. 12.63; सोमः सुखैश्वर्यकारको न्यायः। ऋग्. 1.136.4; आदित्यानाम् - अखण्डित न्यायाधीशानाम्। यजु. 25.6

2. आत्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षीविड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ।। अथर्व. 2.5.4

3. सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। ऋग्. 7.49.3

4. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिे पनस्यवे ।। ऋग्. 8.98.1

5. ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। ऋग्. 10.124.5

6. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यसत् ।। अथर्व. 8.4.12

व्यवस्था का स्वरूप दिखायी देता है। राजा से यह कहा गया है कि निरपराधियों के ठगने, दूसरों को पीड़ित करने तथा शत्रुवत् व्यवहार करने वाला व्यक्ति वैश्वानर अग्नि अर्थात् न्यायाधिकारी या न्यायालय द्वारा निर्धारित कानून के बन्धन में बन्धे बिना न रहे।[1]

दुष्टों से रक्षा के लिए न्याय के कानून की पहुँच नगर, ग्राम अर्थात् सर्वसाधारण जन तक होनी चाहिए जिससे कि न्यायद्रोही या राष्ट्रद्रोही जन न्याय बन्धन से छूटने न पाये।[2]

वेदों में लिखित रूप से न्याय व्यवस्था का निर्देश है। न्यायतन्त्र में वादी, प्रतिवादी के समस्त व्यवहारों को लिखित रूप में रखने से पूर्वापर प्रसंग या तथ्यों को देखकर न्याय करने में सरलता हो जाती है। तथा सभी साक्ष्यों के लिखित रूपों में समक्ष होने से अन्याय होने की संभावना भी कम रह जाती है। ऋग्वेद में इसका बड़ा सुन्दर उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है– हे विद्वन्! आप व्यवहार करने वालों के व्यवस्था पत्रों को सब ओर से लिखो और दुष्टों के हृदय को अति पीड़ा दो और हम लोगों के लिए सुख करो।[3]

वेद में भिन्न–भिन्न प्रकार के अपराधियों को कैसे–कैसे दण्ड दिये जाये इसका विस्तार से वर्णन है। यथा – जल, अन्न को छीनने वाले, गौओं और अश्वादि पुरुषों को बल पूर्वक हस्तगत करने वाले तथा मानव शरीरों को भी अपने अधिकार में करने या बन्धन में डालने वाले को पुत्रों सहित मृत्युदण्ड का पात्र माना गया है।[4] कुटिलचारी हत्यारे को प्यास से तड़फाना, धुएँ से व्याकुल करना, उसका सिर कटवा देना, एकान्त में रोककर मारने वाले डाकुओं की आँखें निकालना तथा वृक्ष के खूँटे से बाँध कर मारने का उल्लेख भी मिलता है।[5]

राजा के लिए कहा गया है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे यातुधान दूसरों की जानमाल हड़पने वाले लोग राजा के दण्ड के भय से स्वयं आकर विलाप करें अर्थात् आत्मसमर्पण कर अपराध स्वीकार करें।[6]

इस प्रकार के अनेक मन्त्र जिनमें राजा को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह न्याय की सुन्दर व्यवस्था करे। यह सारा प्रबन्ध राजकीय कोष से ही होता है।

वेदों के पश्चात् मनुस्मृति में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। मनु ने न्यायव्यवस्था का सूंपर्ण दायित्व राजा पर डालते हुए कहा है– अभियोगों को देखने के लिए राजा विद्वान् सलाहकारों और मन्त्रियों के साथ विनीत भाव से न्यायालय में प्रवेश करे। विनीत

---

1. *यो नो दिप्सदिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।*
   वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ।। अथर्व. 4.36.2
2. *मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उपाशान्न मुच्यते । अथर्व. 4.36.10*
3. *आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे ।*
   अथेमस्मभ्यं रन्धय । ऋग्. 6.53.7, दयानन्द भाष्य
4. *यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।*
   रिपुस्तेन स्तेयकृद दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च ।। अथर्व. 8.4.10
5. *अधरात्रि तृष्टधूमेमशीर्षाणमहिं कृणु । अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ।। अथर्व. 19.50.1*
6. *विलपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः । अर्थव. 1.7.3*
   अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ।। अथर्व. 1.7.4

वेश में सुविधानुसार बैठकर या खड़े होकर दाहिने हाथ को उठाकर विवादों को देखे और सनातन धर्म का आश्रय लेकर न्याय करे।[1] मनु के अनुसार न्याय सभा में बैठकर अन्याय करना अधर्म है। उस स्थिति में सभी सभासद और राजा समान रूप से अधर्म के भागी होते हैं। जिस सभा में निन्दा योग्य व्यक्तियों की निन्दा और स्तुतियोग्य जनों की स्तुति की जाती है, तथा यथोचित निर्णय किया जाता है वहाँ राजा और सभासद पापमुक्त रहते हैं। और पाप करने वाला व्यक्ति ही पाप का भागी होता है।[2] मनुजी कहते हैं– 'दण्ड के सम्यक् संचालन से राजा धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की सिद्धि पा लेता है। कामी, कुटिल, ईर्ष्यालु और तुच्छ बुद्धि राजा दण्ड से ही मारा जाता है। असहाय, मूढ़, लोभी, अकृत बुद्धि, विषयासक्त राजा दण्ड को न्यायपूर्वक नहीं चला सकता और पवित्र सत्यप्रतिज्ञ, यथावत् शास्त्रानुकूल चलने वाला, श्रेष्ठ पुरुषों की सहायता से युक्त बुद्धिमान् राजा दण्ड के सम्यक् संचालन में समर्थ होता है। तथा अनुचित दण्ड का प्रयोग राजा के अपयश का कारण बनता है।[3]

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में न्याय-व्यवस्था का सांगोपांग वर्णन किया है। उनकी न्याय व्यवस्था विधि की उदात्त संकल्पना से परिपूर्ण है। वे विधि को प्राकृतिक विधि से उपमित करते हुए लिखते हैं कि 'जैसे ईश्वर के नियमों में सूर्य की किरणें आदि पदार्थ यथावत् वर्तमान हैं, वैसे ही तुम (राजा) प्रजापुरुषों को भी राजनीति के नियमों में वर्तना चाहिए।[4] इससे स्पष्ट होता है कि राज्य के सफल संचालन हेतु विधि उसी प्रकार आवश्यक है जैसे सृष्टि के संचालन के लिए प्राकृतिक या ईश्वरीय विधि की आवश्यकता होती है।

विधि के निर्माण के साथ ही उसके अनुपालन के लिये महर्षि ने तीन प्रकार की सभाओं के निर्माण पर बल दिया है। उन्होंने भारतीय वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए न्याय को धर्म माना है। वे कहते हैं 'धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना।'[5] इसलिए उन्होंने न्यायपूर्वक राज्य पालन को क्षत्रियों का 'अश्वमेध'[6] यज्ञ तथा मोक्ष का कारण[7] भी स्वीकार किया है। उनका मत है कि वही राजा है, जो न्याय को बढ़ाने वाला है।[8] जैसे प्रातः वेला सबको

---

1. तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ।। मनु. 8.2

2. राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ।। मनु. 8.19

3. तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ।।
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्योन्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ।।
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ।। मनु. 7.27, 30, 31

4. ऋग्. द.भा. 1.105.11

5. ऋ.द.स. के प. और वि. भाग 1, पृ. 42

6. ऋ.भा.भू. पृ. 254

7. भवानीलाल भारतीय - नवजागरण के पुरोधा, पृ. 503

8. यजु. द.भा. 17.15

चैतन्य करती है, वैसे न्याय से सम्पूर्ण प्रजाओं को चैतन्य करो।[1] जैसे सूर्य और चन्द्रमा नियम से दिन-रात्रि चलते हैं, वैसे न्याय मार्ग को प्राप्त हूजिए।[2]

स्वामी दयानन्द ने न्याय कार्य में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी योग्य माना है। वे स्पष्ट रूप से वेद भाष्य में लिखते हैं - 'जिस देश व नगर में विदुषी स्त्री-स्त्रियों का न्याय करने वाली और पुरुषों का न्याय करने वाला विद्वान् पुरुष हो, उस देश व नगर में दिन-रात्रि निर्भय होते हैं।[3]

स्वामी जी ने न्याय एवं दण्ड व्यवस्था के प्रत्येक अंग पर पूर्ण ध्यान दिया है। वे राजा को निर्देश देते हैं कि झूठे साक्षी, चोर, डाकू, बलात्कारी, वेद-शास्त्र-विरोधी अधर्मी, व्यभिचारी स्त्री-पुरुष, आर्थिक अपराधी, मद्यप, पशुहिंसक, तथा जुआरी को दण्ड प्रदान करे। इतना ही नहीं अपराध करने पर राजपुरुषों तथा राजा-रानी को भी दण्ड का विधान किया है। स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित न्याय व्यवस्था वेद एवं मनुस्मृति के अनुसार है। अतः सर्वथा प्रामाणिक होने के साथ-साथ वर्तमान युग में अत्यन्त उपयोगी है।

इस प्रकार इस वैदिक न्याय-व्यवस्था को पूर्णरूप से सुस्थापित करने के लिए जो भी व्यय होगा वह राज-कोष से ही होना चाहिए। यह कुल बजट का कितना प्रतिशत हो इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश वेद में नहीं है, हाँ इतना अवश्य है कि इसे लागू करवाने का दायित्व राज्य करता है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभाग है।

▪ यातायात–

राष्ट्रीय कोष का कुछ भाग यातायात अथवा परिवहन व्यवस्था पर व्यय किये जाने का निर्देश वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। वेद के अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें कहा गया है कि राज्य देशवासियों के सुखपूर्वक आने-जाने के लिए स्थान-स्थान पर सड़कों का और नदियों पर पुलों का निर्माण करायें। वेद गमनागमन के लिए कहता है–

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा
दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा । यजु. 22.22

पृथिवी पर गमनागमन के साधनों के लिए वेद कहता है–

वोढाऽनडवान् आशुः सप्तिः रथेष्ठाः । यजु. 22.22

भारवाही वृषभादि हों - शीघ्रगामी घोड़े आदि हों तथा रथयानों से सम्पन्न हों। अर्थात् पृथिवी पर गमनागमन पशुओं से तथा स्वनिर्मित रथयानादि से सिद्ध होता है।

वेद का निम्न मन्त्र पृथिवी पर चलने वाले यन्त्र का संकेत करता है।

हिरण्यशृङ्गो अयो अस्य पादा मनोजवा । यजु. 29.20

जिस यान पर सुवर्ण के समान अग्नि प्रकट करने वाले श्रृंग लगे हैं। जिसके पैर लोहे के हैं और मनोजवा - मन के समान तेज गति से गमन करने वाला है। यह वर्णन ऐसे वाहन का संकेत कर रहा है जिसमें लोहे के पहिये हों और द्रुत गति के लिये अग्नि का प्रयोग किया जाता हो। इसी प्रकार एक अन्य वर्णन से भी तीव्रगामी वाहन का संकेत मिलता है–

---

1. ऋग्. द.भा. 4.40.1

2. ऋग्. द.भा. 5.52.15

7. ऋग्. द.भा. 2.27.14

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः ।

ऋग्. 4.35.1

अश्वरहित एवं लगाम विहीन तीन चक्र वाला रथ यन्त्रचालित वाहन ही हो सकता है। इसी प्रकार जल में चलने वाली नौकाओं का वर्णन भी वेद में है।

सुनावमारूयमस्रवन्तीमनागसम् । शतारित्रां स्वस्तये ।

यजु. 21.7

यह ऐसी सुन्दर नाव है जोकि कहीं से भी स्रवित नहीं होती और सब प्रकार के दोषों से रहित है। इस नौका में सैकड़ों चप्पू लगे हुए हैं।

इससे भी बड़ी नौका का वर्णन वेद-मन्त्रों में प्राप्त होता है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।।

यजु. 21.6

अर्थात् हम कल्याण के लिए उत्तम रक्षा करने वाली, सुविस्तीर्ण, प्रकाशवाली, दोषरहित, उत्तम सुख देने वाली, सुप्रणेत्री, सुन्दर चप्पूओं वाली, त्रुटिरहित, स्रवित न होने वाली दिव्य नौका पर आरूढ़ हों।

वेद में पृथिवी तथा समुद्र के यातायात-साधनों का उल्लेख होने के अतिरिक्त अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों का वर्णन भी किया गया है। अनेक मन्त्रों में से उदाहरण रूप में निम्न मन्त्र दर्शनीय है—

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने ।
ताभ्यां पतेम सुकृतामुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ।।

यजु. 18.52

अर्थात् इस तेरे विमान में जो पक्ष हैं वे उत्तम एवं सुदृढ़ हैं, नष्ट न होने वाले हैं, और इनमें पतनशीलता के गुण हैं जिससे कि जहाँ उतारना चाहे वहाँ उतर सकता है। हे अग्ने। इसमें ऐसे पंख हैं जिनकी आन्तरिक विघ्न-बाधाओं को तुम नष्ट कर देते हो। इनके द्वारा उन उत्तम लोकों को पहुँचा जा सकता है, जहाँ प्राचीन ऋषि (वैज्ञानिक) जाते थे।

इस प्रकार वेद में यातायात के अनेक विध यानों का सुन्दर वर्णन है। छठे अध्याय में आवागमन के साधनों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ पर विशेष रूप से यह ध्यातव्य है कि यातायात के सड़कनिर्माण, नदियों पर पुल निर्माण, मार्ग में रक्षा-प्रबन्ध, मार्गो पर चलने वाले वाहन, इन सबकी व्यवस्था करने का दायित्व राज्य का है। राजकीय बजट में इस व्यवस्था के निमित्त कुछ धन अवश्य रखा जाना चाहिए। यातायात में व्यय किया जाने वाला यह वित्त, व्यापार, सैन्य-व्यवस्था, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, शिक्षा-प्रचार आदि अनेक दृष्टियों से बहुत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

▪ साहित्य, संगीत, कला आदि—

वैदिक साहित्य में ललित कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य लोग भले ही प्राचीन भारतीयों को असभ्य या अर्धसभ्य कहकर भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हों,

किन्तु प्राचीनतम वैदिक-साहित्य स्पष्ट रूप से साक्षी है कि वैदिक काल से ही यहाँ सब प्रकार का ज्ञान-विज्ञान विद्यमान था। वैदिक ऋषि जहाँ अध्यात्म में उच्चतम अवस्था को प्राप्त थे, वहाँ शिल्प-कला और साहित्य, संगीत आदि में भी नदीष्ण थे।

वेद में सुन्दर-सुन्दर वाद्यों का वर्णन हैं, संगीत का उल्लेख है, शिल्पकला के उत्कर्ष को सिद्ध करने वाले नाना प्रकार के भवनों का वर्णन है। महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में स्वर्ण से मण्डित घर के द्वारों पर स्वर्णपत्र लगाये जाने का उल्लेख किया है।[1] सहस्रों खम्भों वाले भवनों का वर्णन भी वेद में है।[2]

महर्षि दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में लिखित शब्द इस विषय में प्रेरणा देने वाले हैं–

"शिल्प-शिक्षा की उन्नति करने वाले जो उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वान् हैं, वे जितना अर्थ समझें उतना अर्थ उन सबके सुख के लिए नित्य प्रकाशित करें, जिससे हम लोग ईश्वर की सृष्टि के पवन आदि पदार्थो से अनेक प्रकार के उपकार लेकर सुखी हों।[3] संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य की विभिन्न शाखाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि आर्यो ने आश्चर्यजनक साहित्यिक विकास किया था। वेदों से ऐसे अनेक मन्त्र उद्धत किये जा सकते हैं जिनका काव्य-सौन्दर्य संसार की किसी भी भाषा के और किसी भी महाकवि के काव्यसौन्दर्य से कम नहीं है। कला का क्षेत्र भी वैदिक आर्यों से अछूता न रह सका। सांस्कृतिक विकास में कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस सिद्धान्त के अनुसार वैदिक आर्यों ने ऋग्वेद के समय से ही वास्तुनिर्माण, संगीत, नृत्य आदि का विकास प्रारम्भ कर दिया था।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्यो का स्वर-ज्ञान पर्याप्त रूप से विकसित हुआ था। धैवत, निषाद, गान्धार, पञ्चम, ऋषभ, षड्ज, मध्यम आदि स्वरों का उपयोग वेद मन्त्रोच्चारण में किया जाता था। सामवेद का सामगान तो प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार नृत्य कला का विकास भी वैदिक काल से प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद के उषा मन्त्रों में उषा को नर्तकी की उपमा दी गई है, तथा यजुर्वेद में **'वंशनर्तिन्'**[4] (बांस पर नाचने वाला) का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में देवताओं के नाचने का भी वर्णन है।[5] युवक युवतियों के सजधज कर नाचने गाने, झूला झूलने आदि का उल्लेख भी आता है।[6]

वैदिक आर्यों ने जीवन के गाम्भीर्य व भार को हलका बनाकर उसे सच्चे अर्थ में आनन्दमय बनाने के लिए खेल-कूद व अन्य मनोरंजन के साधन भी ढूंढ़े थे, जिनका उल्लेख वैदिक संहिताओं में देखा जा सकता है।

इन साहित्य, संगीत, शिल्प आदि का राज्य में समुचित विकास हो, यह सुनिश्चित करने का दायित्व राज्य का है। इस कार्य के लिए भी राजा को राजकीय बजट का कुछ भाग अवश्य निर्धारित करना चाहिए।

---

1. यजु. द.भा. 28.28, 26.26

2. ऋग्. द.भा. 2.41.5, 4.30.20, 7.3.7

3. ऋग्. द.भा. 1.89.4

4. ऋग्. 1.10.1, यजु. 30.21

5. ऋग्. 10.72.6

6. ऋग्. 7.87.5, 7.88.3

■ धर्म, संस्कृति प्रचार–

वेदों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ण्य विषय रहा है धर्म एवं दर्शन। वैदिक धर्म, किसी देश, जाति अथवा विशिष्ट मानवसमूह के लिए न होकर संसार के मानवमात्र के लिए है। यही कारण है कि इस धर्म को मानवधर्म अथवा मानववाद के नाम से जाना जाता है। वेद के ऐसे सहस्रों मन्त्र हैं जिनमें ईश्वर का स्वरूप, आत्म-ज्ञान, मानव-कल्याण, भद्र-भावना, स्वस्ति-कामना, विश्व-शान्ति, बुद्धि और मेधा की उपासना, विद्या-प्रेम, पाप-निर्मोक्षण, निर्भयता, द्वेष-त्याग, अमृतत्व आदि विषयों पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

इन उत्तमोत्तम गुणों का व्यापक प्रचार-प्रसार राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। जैसे राजदूत देश-विदेश में जाकर अपने राज्य का हित सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार ये धर्म या संस्कृति दूत प्रत्येक राष्ट्र में भेजे जाने चाहिये, जिससे कि संपूर्ण संसार में मानवता का साम्राज्य स्थापित हो सके। वेद का **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** सन्देश इस सत्य को बता रहा है।

राज्य के बजट का कुछ भाग इस पर व्यय किया जाता था। धर्म एवं संस्कृति के प्रचार हेतु जो धन व्यय होता है वह अपराधों और दुर्वृत्तियों को नियन्त्रित कर राज्य को सुव्यवस्थित करता है, इसलिए यह अत्यन्त लाभदायक व्यय है। ये धर्म, संस्कृति दूत ही विश्वशान्ति के प्रतिष्ठापक होते हैं। इसी से विश्व-बन्धुत्व की भावना परिपुष्ट होती है।

वेद में ऐसे भी मन्त्र विद्यमान हैं जिनमें राजा को अपनी प्रजाओं में धन बांटने वाला कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र दर्शनीय हैं–

1. **विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः । ऋग्. 1.22.7**

वृद्धि करने वाले, अद्भुत धन के विभाजन-कर्ता सम्राट् को हम पुकारते हैं।

2. **वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् ।**
ऋग्. 4.54.1

सम्राट् हम मनुष्यों के लिए रत्नों का विभाजन करता है, जिससे कि वह हम सबको श्रेष्ठ धन दे सके।

इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर राजा द्वारा प्रजा-जनों की सहायतार्थ राजकीय-कोष से वित्त देने का स्पष्ट विधान वेद में किया गया है।

■ कोष-निर्माण–

राज्य के संचालन के लिए राजा के पास भरपूर कोष की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के व्यय राजा तभी कर सकता है, जब उसके पास विपुल मात्रा में धन हो। बिना वित्त के न तो सैन्य-व्यवस्था हो सकती है, न न्याय और न चिकित्सा। शिक्षा, यातायात आदि सभी कार्यों के लिए अर्थ अत्यावश्यक है। जिस राजा का कोष जितना समृद्ध होगा वह अपने राज्य को उतना ही सुदृढ़ और जनहितकारी बना सकेगा। राजकोष के क्षीण हो जाने पर सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था चरमरा जाती है।

वैदिक साहित्य में और स्मृति ग्रन्थों में ही नहीं अपितु रामायण, महाभारत आदि में राजा के लिए धन की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया है। राजा के लिए इन्द्र शब्द का बहुत प्रयोग यह बताता है कि वह इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य वाला होना चाहिए। अर्थ से दुर्बल

राजा को छोड़कर राजसेवक दूसरे राजाओं के पास चले जाते हैं। उसकी कोई नीति सफल नहीं होती। महान् अर्थशास्त्री और राजनीति के आचार्य महामति चाणक्य ने भी अर्थ के महत्व को उद्घोषित किया है। इसीलिये अपने राजनीति के महान् ग्रन्थ का नाम उन्होंने अर्थशास्त्र रखा है। वेद में नाना प्रकार के व्यापार, उद्योग, शिल्प आदि का वर्णन हम गत अध्यायों में विस्तार से देख चुके हैं। ये सब सुव्यवस्थित रूप से चलें, इस दृष्टि से धन की महती आवश्यकता है। व्यापार आदि की वृद्धि पर समाज के व्यक्तियों के पास अपनी आवश्यकता पूर्ति के पश्चात् जो द्रव्य बचता है उसका संग्रह होने लगता है और उस एकत्रित धन से अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एवं सार्वजनिक कार्यों के लिए देने तथा व्यय करने की शक्ति प्राप्त होती है। राजा को विभिन्न माध्यमों से जो कर प्राप्त होता है, वह भी बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों के पास संगृहीत होने वाले धन से कोषों की स्थापना की जानी चाहिये।

व्यक्तिगत राशियों का सामूहिक रूप में रक्षण और उससे व्यापार संचालन आजकल की बैकिंग प्रणाली का आधार है। इसका प्रारम्भ भले ही आधुनिक काल में अर्थात् 19वीं या 20वीं सदी में हुआ होगा, किन्तु वेद के अध्ययन से इसका संकेत मिल जाता है। वेदमन्त्र में प्रार्थना की गई है–

निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे । यजु. 23.19

अर्थात् निधियों के निधिपति के रूप में हम तुमको स्वीकार करते हैं अथवा तुम्हारा आह्वान करते हैं। निधिपति शब्द स्पष्ट रूप से कोष का निर्देश दे रहा है। निधिपति-कोषाध्यक्ष बनने के लिए गणनकला में नदीष्णता होनी चाहिए। इसलिए वेद इसी मन्त्र में कहता है–

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे । यजु. 23.19

अर्थात् गणन विद्या में निपुण होने के कारण हम तुम्हें स्वीकार करते हैं। वेद में धन की सामूहिक प्रार्थनाएँ भी सामूहिक सम्पत्ति अर्थात् कोष की ओर संकेत करती हैं।

राज्य और प्रजा के कोष भिन्न-भिन्न होते हुए भी सब पर नियन्त्रण राजा का होना चाहिए। ताकि उसका दुरुपयोग न हो।

महाभारत में कोष को राज्य का मूल माना गया है। भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा अपने तथा शत्रु के राज्य से धन लेकर अपने खजाने को भरता रहे, क्योंकि कोष से ही धर्म की वृद्धि होती है और राज्य की जड़ें मज़बूत होती हैं। इसलिए राजा कोष का संग्रह करे, संग्रह करके आदरपूर्वक उसकी रक्षा करे और रक्षा करके निरन्तर उसको बढ़ाता रहे यही राजा का सदा से चला आने वाला धर्म है।[1]

यहाँ पर कोष संग्रह के विषय में यह भी कहा गया है कि विशुद्ध आचार-विचार से रहने वाला कभी कोष का संग्रह नहीं कर सकता और जो बहुत ही क्रूर है वह भी सफल नहीं हो सकता। अतः मध्यम मार्ग का आश्रय लेकर कोष-संग्रह करना चाहिए। यदि

---

1. स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राच्च कोषं संजनयेन् नृपः ।
कोषाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते ।
तस्मात् संजनयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेत् ।
परिपाल्यानुतनुयादेष धर्मः सनातनः ।। शान्तिपर्व 133.1, 2

राजा निर्बल हो तो भी उसके पास कोष नहीं रह सकता। जो कोष हीन है उसके पास सेना नहीं ठहर सकती, जिसके पास सेना नहीं है, उसका राज्य कैसे टिक सकता है, और राज्य से हीन हो गया उसके पास लक्ष्मी नहीं रह सकती।[1]

जिस राजा के पास धन का भण्डार नहीं है, उसकी साधारण मनुष्य भी अवहेलना करते हैं। उससे थोड़ा लेकर लोग संतुष्ट नहीं होते हैं, और न उसका कार्य करने में ही उत्साह दिखाते हैं।[2]

राजा का यह भी कर्त्तव्य बताया गया है कि वह प्रतिदिन अपने गणक-लेखकों द्वारा प्रस्तुत आय-व्यय के लेखे का निरीक्षण करे।

इस राज-कोष का उपयोग राजा अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति, तथा प्रजा के जनहितकारी कार्यों के लिए करता रहे। प्राचीन काल में इस राज-कोष में से विद्वान् ब्राह्मणों तथा दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्री आदि को अन्न-वस्त्र तथा औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ प्रदान की जाती थीं।[3]

कोषों का निर्माण राष्ट्र की आर्थिक प्रगति के लिए बहुत आवश्यक है।

❒

---

1. न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जातुचित् । मध्यं पदमास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥
   अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् । अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥ शान्तिपर्व, 133.3,4
2. हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
   न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च ॥ शान्तिपर्व 133.6
3. कृशानामथ वृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
   संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ शान्तिपर्व, 77.18

उ प सं हा र

गत आठ अध्यायों में प्रतिपादित वैदिक अर्थ व्यवस्था के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदरूपी गंगोत्री से प्रवाहित होने वाली भागीरथी की पावन ज्ञानधारा युगों-युगों से भारतीयों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय को सींचती हुई संस्कृति, सभ्यता रूपी वृक्ष को सदा हरा भरा रखती है।

वर्तमान मानव सृष्टि के सुदीर्घ कालखण्ड में अनेक विचारधाराओं ने जन्म लिया। कभी यह मानव सांसारिक भोगों की अधिकाधिक धनोपार्जन की दौड़ में आंख-बन्द कर सम्मिलित हुआ, तो कभी यह संसार नश्वर है, सब कुछ शून्य है, सांसारिक पदार्थ बन्धन के कारण हैं ऐसा विचार कर दुनियां से भागने लगा, पुरुषार्थ को छोड़ अकर्मण्यता में डूब गया। घर, परिवार त्यागकर अरण्याभिमुख हो गया। कभी इस विश्व ने पूंजीवाद के वृक्ष को फैलते हुए देखा तो कभी साम्यवाद का वृक्ष विशाल रूप धारण करता हुआ दिखाई दिया। संसार के महान् अर्थशास्त्रियों ने इन अर्थ-व्यवस्थाओं को मानवता के लिए वरदान के रूप में प्रस्तुत किया, किन्तु इनमें से कोई भी व्यवस्था संसार का पूर्ण कल्याण न कर सकी।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि व्यक्तियों से समाज एवं राष्ट्र का निर्माण होता है। व्यक्ति की उन्नति से समाज और राष्ट्र की उन्नति होती है। अतः अपनी उन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मनुष्य को स्वतन्त्रता न रही तो मानव व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो सकता।

पूंजीवादी व्यवस्था-

दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था है जिसमें पूंजीपति मजदूर से मजदूरी कराते हैं और स्वयं निठल्ले रह कर भी उसकी कमाई का बड़ा हिस्सा स्वयं खा जाते हैं। इस व्यवस्था के कारण भीषण आर्थिक विषमता फैलती जाती है। एक ओर वे लोग हैं जे गगनचुम्बी राज-प्रासादों में रहते हैं और दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिन्हें पौष की कड़कती सर्दी, ज्येष्ठ की तपती दोपहरी और सावन की झड़ी से सिर छिपाने के लिए फूस की झोपड़ी भी प्राप्त नहीं होती। एक ओर वे लाग हैं जो चांदी और सोने के बर्तनों में दिन में कई-कई बार राजसी आहार द्वारा अजीर्ण के शिकार हो जाते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिनको अपना पेट भरने के लिए मुट्ठी भर दाने भी प्राप्त नहीं होते। पूंजीवादी कहता है, उसने पूंजी लगायी है और इसलिए कमाई का वास्तविक स्वामी वह है। इस प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था मजदूर और पूंजीपति, दोनों की आत्मा का पतन करती है। इस व्यवस्था

में जहाँ करोड़ों लोग दरिद्रता के अवर्णनीय कष्ट भोगते हैं, वहाँ अनेक बार वे गरीबी से तंग आकर धर्म,नैतिकता व सत्य का मार्ग छोड़ कर चोरी, डाका, ठगी व लूटपाट का मार्ग अपना लेते हैं।

दूसरी ओर धनवान लोग अपनी पूंजी को निरन्तर बढ़ाने की इच्छा से वस्तुओं का संग्रह कर, बाजार में कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर देते हैं, और उन वस्तुओं की कीमतें मनमाने ढंग से बढ़ाते जाते हैं। धन-संग्रह की यह प्रवृति इतना विकृत रूप धारण कर लेती है कि धनाढ्य राष्ट्र जब यह देख लेते हैं कि अन्न की विपुल मात्रा में उपज से सबको भर-पेट भोजन मिलने लगा है और कीमतें घटने लगी हैं तो वे लाखों टन अनाज समुद्र में डुबो देते हैं, जिससे महंगाई बढ़े।

इस भौतिकवादी समाजव्यवस्था में धन के लोभी लोग राष्ट्र रूप में संगठित होकर दूसरे दुर्बल देशों पर आक्रमण करके उन्हें निरन्तर शोषण द्वारा सर्वथा पंगु बना देते हैं। विजेता राष्ट्रों द्वारा विजित राष्ट्रों पर किये गये अन्याय और अत्याचारों की दु:खभरी कहानी से इतिहास भरा पड़ा है।

▪ साम्यवादी व्यवस्था–

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के भीषण वैषम्य और अमानवीय अत्याचारों के विरुद्ध जर्मनी के महाचिन्तक **कार्ल मार्क्स** ने साम्यवादी व्यवस्था का सन्देश दिया।

साम्यवाद विश्व में कुटुम्बवादी व्यवस्था उत्पन्न करना चाहता है। जैसे परिवार में उसका स्वामी दिनभर अथक परिश्रम करके पैसा कमाता है उसकी पत्नी घर के कामों में दिन-रात लगी रहती है। बूढ़े मां-बाप से कुछ होता नहीं। छोटा बच्चा भी असमर्थ होने के कारण कुछ नहीं करता। कुटुम्ब के इस नियम को **'शक्त्यानुपाती श्रम'** कहते हैं अर्थात् हर व्यक्ति को उतना काम अवश्य करना चाहिए जितना करने की उसमें शक्ति है (From every body according to his capacity) आवश्यकतानुपाती उपभोग और शक्त्यानुपाती श्रम– (Enjoyment according to needs and work according to capacity) – ये दो भौतिक नियम हैं जिनपर कुटुम्ब की आधारशिला रखी गयी। कम्यूनिज्म कहता है कि यह बात संसार भर की मानवजाति पर लागू होनी चाहिए।

परिवार में तीसरी बात यह होती है कि कोई किसी पर शासन नहीं करता। परिवार में शासक और शासित दो भाग नहीं होते। परिवार में एक प्रबन्धक होता है, वह परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध करता है, किन्तु सम्पत्ति संपूर्ण परिवार की होती है, एक व्यक्ति की नहीं। इसी प्रकार हमारे मानव-समाज में कोई साम्राज्य या सम्राट् नहीं होना चाहिए। सम्पत्ति राष्ट्रभर की हो।

परिवार में चौथी बात यह होती है कि सब सदस्य काम तो अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार करते हैं, परन्तु उस काम का पारिश्रमिक समस्त कुटुम्ब का धन माना जाता है। कम्यूनिज्म भी यही कहता है कि आय समस्त देश की हो, किसी एक की नहीं। काम सब करें और उसका उपभोग भी सब करें। परन्तु सम्पत्ति का स्वामी कोई एक न हो।

साम्यवादी मानते हैं कि पूंजी सब बुराइयों की जड़ है। अत: यदि मनुष्य को

पाप-पंक से मुक्त करना है तो इसका एकमात्र उपाय यह है कि सम्पत्ति शून्य, सम्प्रदाय शून्य, वर्ग शून्य, साम्राज्य रहित, साम्यवादी समाज की स्थापना करनी चाहिए।

साम्यवाद की यह धारणा बाह्य रूप से बहुत उदात्त एवं सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु साम्यवाद के प्रतिबन्ध केवल भौतिक हैं। साम्यवाद का ध्यान केवल धन-सम्पत्ति पर है, मनुष्य की आत्मा पर नहीं।

साम्यवाद का व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार न करना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अव्यावहारिक है। इस व्यवस्था में काम कम होता है, समय अधिक लगता है तथा निर्माण भी निम्नस्तर का होता है।

साम्यवाद घोर प्रकृतिवादी है। इस जड़वाद ने आचारशास्त्र की जड़ ही काट दी। अहिंसा, दया, करुणा जैसी मानवीय संवेदनाएँ इस व्यवस्था में समाप्त हो गयी, फलतः रूस, चीन आदि साम्यवादी देशो में लाखों, करोड़ों को मौत के धाट उतार दिया गया। यही कारण है कि धीरे-धीरे संसार में साम्यवाद का उन्माद समाप्त हुआ जा रहा है।

वस्तुतः पूंजीवाद, समाजवाद ओर साम्यवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वे एक ही भौतिकवादी व्यवस्था के विभिन्न रूप हैं। इसके विपरीत वर्णाश्रम पद्धति पर आश्रित, मानवीय जीवन मूल्यों से परिपूर्ण वैदिक अर्थ-व्यवस्था व्यक्ति और समाज की भौतिक एवं आत्मिक दोनों प्रकार की भूख-प्यास शान्त करती है।

वैदिक संस्कृति भौतिक वाद का तिरस्कार नहीं करती, उसे विकास के मार्ग में अपना साधन समझती है। वह प्राकृतिक, भौतिक साधनों को लेकर, अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करती है। यह अभ्युदय और निःश्रेयस तथा व्यष्टि और समष्टि का पूर्ण विकास वैदिक चिन्तनधारा का प्राप्तव्य है। वेद सब मनुष्यों को उसी परम पिता परमेश्वर की सन्तान मानकर सबमें समदृष्टि रखने का उपदेश देता है।

वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना सबका प्रधान धर्म है। वेद व्यक्ति, समाज, परिवार, राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण का सन्देश देता है।

वैदिक अर्थ व्यवस्था का सिंहावलोकन

▪ त्यागमय संयमी जीवन–

संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग वैदिक व्यवस्था का प्रबल आधार है।[1] संसार के उपभोग दो प्रकार के हैं– एक तो उसमें लिप्त होकर और दूसरा उससे अलिप्त रह कर। संसार में लिप्त रहने से अन्त में दुःख और उससे अलिप्त रहने से सुख मिलता है। इसलिए वेद कहता है अलिप्त रह कर उपभोग करो।

वैदिक साहित्य त्यागमय जीवन के उपदेशों से भरा हुआ है। त्यागपूर्वक जीवन यापन करने वाला मानव दुराचार के पंक में नहीं डूबता, उसका जीवन संयमी, सरल और तपस्वी

---

1. ईशावास्यमिदं सर्व यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ यजु. 4.19

होता है। वेद सदाचार को बहुत महत्त्व प्रदान करता है। वेद कहता है– 'दुराचारी व्यक्ति ऋत के पथ को पार नहीं कर सकता– **'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।** स्वर्ग या ज्योति की ओर ले जाने वाला देवयान मार्ग सुकृति अथवा सदाचारी व्यक्ति के लिए ही है। – **'स्वर्यः पन्थाः सुकृते देवयानः'।** वेद में प्रार्थना की गई है कि हे सर्वाग्रणि देव! आप सबके नियन्ता है। मुझे दुश्चरित से पृथक् करो और सब ओर से सदाचार का भागी बनाओ। मैं अमर देवों का अनुकरण करूँ तथा दीर्घ आयुष्य, शोभन जीवन लेकर ऊपर उठ जाऊँ।[1]

▪ समता की भावना–

वेद कहता है कि ये सब मनुष्य भाई हैं, इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब ऐश्वर्य व उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं।[2]

एक अन्य मन्त्र में भी कहा है कि 'सब मनुष्य समान हैं उनमें कोई बड़ा छोटा नहीं, और कोई मध्यम भी नहीं। ये अपनी शक्तियों से ऊपर उठते हैं। ये महत्वाकांक्षा से आगे बढ़ते हैं। ये जन्म से कुलीन दिव्य मर्त्य हैं।[3] एक ऋचा में कहा है 'सब चलने वालों का मार्ग पर समान अधिकार है।'[4] अन्यत्र कहा है 'सबका कल्याण सोचो, चाहे शूद्र हो चाहे आर्य।'[5]

इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त (10.191) में समता का अत्यन्त प्रभावशाली उपदेश दिया गया है।

▪ प्राणिमात्र में समदृष्टि–

वेद में उद्घोषपूर्वक कहा गया है कि मैं मनुष्यों सहित सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।[6]

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गई है– **'स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः'**[7] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है– प्रभु हमारे दोपाये और चौपाये पशुओं के लिए कल्याणकारी और सुखदायी हों– **'शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।'**[8] अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर कामना की गयी है कि भगवन्!

---

1. परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां अनु ।। यजु. 4.28

2. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।। ऋग्. 5.60.5

3. ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः । ऋग्. 5.59.6

4. समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे । ऋग्. 2.13.2

5. प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये । अथर्व. 19.62.1

6. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। यजु. 36.18

7. अथर्व. 1.31.4

8. यजु. 32.8

ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ–

'.... यांश्च पश्यामि यांश्च न, तेषु मा सुमतिं कृधि ।'[1]

■ मानव कल्याण की भावना–

ऋग्वेद में कहा गया है कि मनुष्य को मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा और सहायता करनी चाहिए– **'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः'**।[2] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो– **'तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।'**[3] वेद कहता है मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है वैसा तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज बढ़ा– **'सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव'**।[4]

■ अकेला खाना पाप है–

वेद में सहभाव के लिए सहभोजन पर बहुत बल दिया गया है। अथर्ववेद में कहा है– **'सहभक्षाः स्याम।'**[5] अर्थात् हम मिलकर खान-पान करने वाले हो। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कहा है– **'सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे।'**[6] अर्थात् अपने साथियों से सहपान और सहभोज मुझे प्राप्त हो।

वेद कहता है **'केवलाघो भवति केवलादी'**[7] अर्थात् अकेला खाने वाला व्यक्ति पाप को ही भोगता है। संसार में जहाँ भोजन न प्राप्त होने से अनेक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होते हैं वहाँ अधिक भोजन से मरने वालों की संख्या भी कम नहीं है। इसलिए वेद में कहा गया है कि विद्वानों ने भूख को ही वध नहीं माना, क्योंकि खा चुके हुए मनुष्य के पास भी मृत्यु नाना रूपों में प्राप्त होती है। तथा दूसरे की तृप्ति या बुभुक्षा शान्त न करता हुआ व्यक्ति सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।[8] जो अन्न वाला होता हुआ भी दरिद्र या अपाहिज के लिए, रोग आदि के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के लिए, शरणागत कृश व्यक्ति के लिए तथा अन्न की कामना करते हुए विद्वान् भिक्षु के लिए अपने मन को ढीठ बनाये रखता है और स्वयं ही प्रथम अन्न का सेवन करता है वह सुखदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।[9] वेद कहता है कि वह मित्र नहीं, जो साथ रहने वाले सखा के लिए अन्न नहीं देता है। उसका मित्र उससे अलग हो जाता है और यह मानता है कि वह रहने का स्थान नहीं

1. *अथर्व. 17.1.7*
2. *ऋग्. 6.75.14*
3. *अथर्व. 3.30.4*
4. *ऋग्. 9.105.5*
5. *अथर्व. 6.47.1*
6. *यजु. 18.9*
7. *ऋग्. 10.117.6*
8. *ऋग्. 10.117.1*
9. *य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।*
   स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरो तो चित्स मर्डितारं न विन्दते ।। ऋग्. 10.117.2

है। वह अन्य सद्भाव से तृप्त करने वाले अपरिचित व्यक्ति तक को चाह सकता है।[1]

इस प्रकार संपूर्ण सूक्त में बलपूर्वक यह उपदेश दिया गया है कि मानव को धन अन्न आदि का उपभोग केवल अपने लिए न करके अन्यों के लिए अवश्य करना चाहिए अन्यथा वह अनर्थकारी होता है।

▪ भद्र भावना–

वैदिक चिन्तनधारा सर्वत्र भद्र का दर्शन, श्रवण करने का दिव्य संदेश देती है। यह भद्र भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही जान सकता है जिसने सत्य बोलना, संयत जीवन, विपत्तियों के आने पर भी विचलित न होना आदि सद्गुणों को अपने व्यक्तित्व का अंग बना लिया है। यजुर्वेद कहता है–

'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद् भद्रं तन्न आसुव'

यजु. 30.3

अर्थात् हे समग्र ऐश्वर्ययुक्त प्रभो! हमारे संपूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं वे सब हमें प्राप्त कराइये।

ऋग्वेद मंगलकामना करते हुए कहता है– हमें सब ओर से भद्र भावनाएँ प्राप्त हों। उनमें धोखा न हो, बाधा न हो। उनमें उन्नति ही उन्नति हो, उनसे देवता तुष्ट होकर दिन-दिन हमारी रक्षा करें, वृद्धि करें, हमारा सदा साथ दें। देवताओं की भद्र कल्याणकारी धारणा हमारे अनुकूल हो। देवताओं के दान का मुख हमारी ओर हो। हमने देवताओं की मित्रता प्राप्त की है। वे हमारी आयु बढ़ावें और हम पूर्ण जीवन प्राप्त करें।[2]

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में अपने और विश्व के कल्याण की तथा विश्वशान्ति की भावप्रवण प्रार्थना यह शिक्षा देती हैं कि वैदिक अर्थव्यवस्था अभद्र, पाप, दुरित आदि से बचाकर मानव को सबके कल्याण और विश्व-शांति हेतु अर्थप्राप्ति के लिए अभिप्रेरित करती है।

इस व्यवस्था में अर्थोपार्जन व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए न होकर जन-जन के कल्याण के लिए किया जाता है। वेद ने भूमि को बार-बार माता कहकर पुकारा है। अपने देश की भूमि को माता समझने वाला व्यक्ति कभी उसके साथ द्रोह नहीं करेगा, वह अपने देश का धन दूसरे देशों के बैंकों में जमा नहीं करायेगा, अपितु उसको अपने देश के व्यापार, उद्योग आदि में इस प्रकार विनियोजित करेगा, जिससे राष्ट्र का सर्वांगीण विकास हो।

वेदों में अर्थ-प्राप्ति के लिए सदैव शुभमार्ग से चलने की प्रेरणा दी गई है। वेद कहता

---

1. स इद् भोजो यो गृध्वे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ।। ऋग्. 10.117.3

2. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ।।
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।। ऋग्. 1.8.9.1, 2

है– **'अग्ने नय सुपथा राये।'**[1] अर्थात् हे स्वप्रकाशक ज्ञानस्वरूप प्रभो! हमें ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए अच्छे धर्मयुक्त, आप्त लोगों के मार्ग से ले चलिए।

▮ जुआ मत खेलो–

ऋग्वेद के अक्ष-सूक्त (10.34) में एक जुआरी के आत्म-प्रलाप का हृदयस्पर्शी वर्णन है। इसमें काव्यमयी भाषा में बताया गया है कि द्यूत आदि से मानव का व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन किस प्रकार नष्ट हो जाता है। वहाँ कहा गया है– जुआ मत खेलो, खेत में हल को जोत कर कृषि ही करो। उसी में धन्यता मानकर धन में रममाण हो जाओ। हे द्युतकार, उसी से गौओं और पत्नी दोनों का लाभ होता है।[2]

इस प्रकार चोरी, छलकपट, लूटपाट, बेईमानी से धन प्राप्ति की अनुमति वेद नहीं देता। जहाँ कहीं धन प्राप्ति की प्रार्थना की गई है वहाँ भद्रा आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

▮ यज्ञीय भावना–

वेद की संस्कृति को यज्ञीय संस्कृति के नाम से जाना जाता है। चारों वेदों में यज्ञ शब्द का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि भाष्यकारों ने वेदों का परम प्रयोजन यज्ञ ही मान लिया। आचार्य सायण की कर्मकाण्ड परक व्याख्या इसका स्पष्ट प्रमाण है। वस्तुतः यज्ञीय भावना सुखमय जीवन का सुन्दरतम सोपान है। यज्ञ केवल स्वाहा, स्वधाका तक सीमित नहीं है अपितु जीवन के प्रभात से लेकर अस्त तक मानव परोपकार करता रहे, यह भी यज्ञ है। यज्ञकर्ता अपनी बुद्धि, धन, वैभव, आयु, सन्तति, ओज, बल आदि समस्त ईश्वरीय वरदानों की सफलता यज्ञमय जीवन से ही मानता है। यजुर्वेद के 18वें अध्याय में यजमान प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है– मेरा धन और मेरी सम्पत्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे उड़द और मेरे तिल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे पोषण और मेरी पुष्टि यज्ञ के द्वारा सफल हो। मेरे चावल और मेरे जौ यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे उड़द और मेरे तिल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे मूंग और चने यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे श्यामाक (समा) और मेरे नीवार (पसाई के चावल) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे गेहूँ और मसूर यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।[3] जैसे यज्ञ में स्वाहा और **इदंन मम** की भावना सर्वोपरि होती है उसी प्रकार मानव को धन भी इसी भावना से व्यय करना चाहिए।

वेद कहता है– हे ब्रह्मणस्पते! उठो, देवताओं को यज्ञ का सन्देश सुनाओ। आयु बढ़ाओ, प्राण बढ़ाओ, प्रजा बढ़ाओ, पशु बढ़ाओ, कीर्ति बढ़ाओ, यज्ञ कर्ता को हर प्रकार से बढ़ाओ।[4]

---

1. *यजु. 40.16*
2. *अक्षैर्मा दिव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुत मन्यमानः ।*
   तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ।। ऋ. 10.34.13
3. *यजुर्वेद 18.11.12*
4. *उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।*
   आयुः प्राण प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ।। अथर्व. 19.13.1

■ **स्वदेशी की भावना–**

वेद का ज्ञान किसी देश विशेष अथवा वर्ग विशेष के लिए या किसी कालखण्ड के लिए न होकर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। इसलिए उसमें केवल भारतवासियों के लिए ही उपदेश नहीं है, अपितु सबके लिए है, पुनरपि वेदों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि जो व्यक्ति जिस देश में रहता है, उसे उसी भूमि को मातृभूमि मानकर उसकी अर्चना करनी चाहिए तथा वहां उत्पन्न पदार्थ का ही अधिकाधिक प्रयोग करना चाहिए।

वेद की ऋचाओं में **'सूत कातने'** का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है, जो यह दर्शाता है कि हमें अपनी भूमि से प्राप्त कपास आदि के द्वारा वस्त्र निर्माण कर उसी का प्रयोग करना चाहिए। यही कारण है कि वेदों के असाधारण विद्वान् महर्षि दयानन्द ने स्वदेशी को बहुत महत्त्व दिया। स्वदेशी आन्दोलन के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द थे। वेदों में छोटे-छोटे कुटीर उद्योग अथवा घरेलू, उद्योगों का वर्णन मिलता है, जो संकेत करता है कि उस समय बड़े उद्योगों को उतना प्रश्रय नहीं दिया जाता था, जितना छोटे उद्योगों को। इन लघु उद्योगों से प्रत्येक हाथ को कार्य मिलता है, बेरोजगारी की समस्या का यह बहुत बड़ा समाधान है।

■ **छात्रों को अर्थकरी विद्याओं की शिक्षा–**

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के प्रथम सूक्त में आचार्य को वाचस्पति और वसोष्पति इन दो नामों से सम्बोधित किया गया है। 'वाचस्पति' शब्द से आचार्य के वाणी से उपलक्षित होने वाले विद्या-विज्ञान के आधिपत्य की सूचना मिली है तो 'वसोष्पति' नाम यह सूचित करता है कि वह अपने विभिन्न विषयों के सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यावहारिक प्रयोग में लाकर उससे जीवनोपयोगी 'वसु' अर्थात् धनसम्पत्ति कमा सकता है। आचार्य के वसोष्पति नाम से वेद ने यह निर्देश दे दिया है कि छात्रों को उनकी आजीविका में सहायता देने के लिए अर्थकरी विद्याएं भी सिखाई जानी चाहिएं।

वैदिक शिक्षा प्रणाली में छात्रों से शारीरिक श्रम कराया जाता था, जिससे कि वे जीवनभर श्रमशील रहें, क्योंकि श्रम के बिना राष्ट्र का आर्थिक विकास हो नहीं सकता। वैदिक साहित्य श्रम की महिमा से भरा पड़ा है।

■ **अपरिग्रह वृत्ति–**

महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित योग के आठ अंगों में सबसे पहला स्थान **'पाँच यमों'** का है। इन पाँच यमों में एक है **'अपरिग्रह'**। इसका अर्थ है– धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना। यथासंभव कम से कम धन सम्पत्ति और सांसारिक सामान अपने पास रखना 'अपरिग्रह' है। परिग्रहशील व्यक्ति बहुत लालची होता है। वह अधिक से अधिक संग्रह करना चाहता है। उसकी आवश्यकताएं बहुत बढ़ जाती हैं। वह अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए छटपटाता रहता है। इस पूर्ति के लिए वह असत्य, अन्याय, अत्याचार, अधर्म आदि का आश्रय लेने में किञ्चिन्मात्र भी संकोच नहीं करता। ऐसे व्यक्तियों की

परिग्रही वृत्ति के कारण औरों को अपार कष्ट सहना पड़ता है, जबकि अपरिग्रहवृत्ति के आ जाने पर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को कम करता चला जाता है, जिससे सबको अनिवार्य वस्तुएं उपलब्ध हो जाती हैं। वैदिक अर्थ-व्यवस्था अपरिग्रही वृत्ति की प्रबल पक्षधर है।

▪ वर्णाश्रम व्यवस्था–

जीवन को सादा, तपस्वी और सच्चरित्र बनाने, धन-सम्पत्ति का बहुत संग्रह न करने, परोपकार में दान करते रहने के वेदों के इन उपदेशों के अतिरिक्त वेद प्रतिपादित वर्ण और आश्रम व्यवस्था भी अर्थव्यवस्था को सुनियन्त्रित करती है।

चार वर्णो में जो **ब्राह्मण** होंगे वे विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों की उन्नति, आविष्कार और प्रचार में, तथा जनता को सत्य और धर्म का उपदेश देने में अपने जीवन का अधिकांश भाग लगायेंगे। ये सांसारिक धन-सम्पत्ति के पीछे न पड़ समाज द्वारा उन्हें जो यश और आदर प्रदान किया जाता है उसे ही उत्तम धन मानकर त्याग और तपस्या का अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत करेंगे। जनता या राज्य से मिलने वाली जीवन-निर्वाहार्थ न्यूनतम आवश्यक दक्षिणा पर संतुष्ट रहना होगा।

जो **क्षत्रिय** वर्ण अपनायेंगे वे अपनी संपूर्ण शक्ति, अन्याय-अत्याचार से जनता को बचाने, तथा राष्ट्र की रक्षा में लगायेंगे। वे राष्ट्र के पुलिस सेना और प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य देखेंगे। इन्हें भी जीवननिर्वाह हेतु राज्य की ओर से जो वेतन आदि मिलेगा उसी में सन्तुष्ट रहना होगा। इस वर्ग को भी धन-अर्जन करने तथा उसके संग्रह में लगने का अवसर नहीं होगा। ऐसे वैदिक राष्ट्र में शूद्रों की संख्या कम होगी और वे भी बहुत धन-सम्पत्ति कमाने का काम न करेंगे।

इन तीनों के अतिरिक्त जो वैश्य वर्ण का चुनाव करेंगे वे ही विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति का संग्रह कर सकेंगे। इस प्रकार केवल वैश्यों का ध्यान विशेष रूप से अर्थोपार्जन की ओर रहेगा।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन तीन आश्रमों में भी धन-सम्पत्ति कमाने के कार्य से सर्वथा दूर रहना है। ब्रह्मचर्य के पश्चात् केवल गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा आश्रम है, जिसमें धन कमाने का कार्य करना है और वह भी मुख्य रूप से वैश्यवर्ण के लोगों को।

इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था में धन का महत्त्व बहुत कम हो जाने से समाज और राष्ट्र में सुख, शान्ति, प्रेम और सौहार्द का वास रहता है।

▪ सम्पत्ति हरण–

वैदिक अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति का व्यक्तिगत अधिकार होते हुए भी यदि कोई धनपति धन का दुरुपयोग करता है अथवा राष्ट्रहित में व्यय नहीं करता, अपने सेवकों को पर्याप्त वेतन नहीं देता, राज्य के करों की चोरी करता है, दान भी नहीं देता और समस्त सम्पत्ति को केवल भोग-विलास में व्यय करता है तो राज्य द्वारा उसकी सम्पत्ति का हरण

किया जा सकता है। वेद में कहा है– जो व्यक्ति नही देता है, सम्राट् उससे दिलवाता है।[1]

पूंजीवादी व्यवस्था में किसी की सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती, जबकि वैदिक व्यवस्था में दुरुपयोग होने पर यह संभव है।

▪ नि:शुल्क शिक्षा, चिकित्सा तथा न्याय व्यवस्था–

वेद के निर्देशानुसार सबको समान शिक्षा दी जानी चाहिए। किसी वर्ग के किसी बालक के साथ कभी कोई पक्षपात नहीं। वेद की इस व्यवस्था को महर्षि दयानन्द ने एक वाक्य में व्यक्त कर दिया– सबको तुल्य वस्त्र खान-पान आसन दिये जाएँ, चाहे वह राजकुमार व चाहे राजकुमारी हो चाहे दरिद्र की सन्तान हो।[2]

जीवन की प्रधान आवश्यकताएँ पाँच मानी गई हैं। भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा और शिक्षा। वेद में स्थान-स्थान पर प्रजाजन परमात्मा और अपने राजा से इनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

वेद में राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह अपनी प्रजाओं को इन पाँच पदार्थों की प्राप्ति कराये। इस प्रकारके वर्णनों से वेद भरा पड़ा है। आठवें अध्याय में विस्तार से इस पर विचार किया गया है। इन पाँच प्रधान आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के समान अवसर स्वत: प्राप्त हो जाते हैं।

संपूर्ण विश्व में विविध क्षेत्रों में अनुसन्धान की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। इस क्रम के चलते हुए जैसे विज्ञान ने नेत्र-दीपक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वैसे ही अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र में भी अर्थशास्त्रियों ने आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त की हैं। इस विषय पर अनेक उच्च-कोटि के ग्रन्थों का निर्माण आधुनिक काल में हुआ है। कृषि, उद्योग, व्यापार में मानव बहुत आगे पहुँच गया है।

बड़े-बड़े कृषि विश्वविद्यालयों में अहर्निश अनुसन्धान हो रहा है। अन्न की नई-नई जाति-प्रजातियाँ तैयार की जा रही है। प्रति एकड़ उत्पादन दर भी बढ़ रही है, गगनचुम्बी कारखानों में उर्वरक तैयार हो रहे हैं, फिर वैदिक कृषि का क्या महत्त्व है, यह प्रश्न उपस्थित होने पर सबसे बड़ा समाधान यही है कि वेद के अनुसार की जाने वाली कृषि प्रदूषणरहित अन्न उत्पादन का मार्ग प्रशस्त करती है जो शरीर के साथ-साथ मन, बुद्धि और इन्द्रियों को पूर्णत: स्वस्थ एवं प्रदूषण मुक्त रखें जिससे कि सर्वत्र शुभ संकल्पों का जागरण हो न कि विनाशकारी दुर्बुद्धि का प्रादुर्भाव।

वेद वर्णित कृषि सन्देश देती है कि कृषक का कार्य हेय नहीं है, इसका सब सम्मान करते हैं। कृषक क्षेत्रपति होता है। ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (4/57) में कृषि का वर्णन है, तथा वहाँ क्षेत्रपति अर्थात् क्षेत्र के स्वामी कृषक की स्तुति की गई है। ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त (10/101/3-6) में क्रान्तदर्शी विद्वान् लोगों को हल चलाकर बीज बोने की प्रेरणा दी गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विद्वान् ब्राह्मण लोग भी कृषि-कर्म में गौरव अनुभव करते थे।

---

1 सम्राट् अदित्सन्तं दापयति । मनु. 9.34

2. सत्यार्थप्रकाश

वेदों में खेती के उत्तमोत्तम उपकरणों की विस्तृत चर्चा है। खेतों की सिंचाई के लिए वर्षा के जल के अतिरिक्त नहर-कूप, तालाब आदि का विशद वर्णन है। **'खनित्रिमा आप:'** पदों से सिंचाई योग्य नहरों की सत्ता का स्पष्ट उल्लेख है। वर्षा न होने पर वर्षेष्टि यज्ञ आदि का निर्देश भी वेद में प्राप्त होता है।

वेदों के अनुसार कृषक मजदूर खूब परिश्रम करता है परन्तु खेत की सफलता के लिए परमात्मा से सहायता माँगता है। इस प्रकार वह सदैव अपनी भौतिक समृद्धि को आध्यात्मिकता का रंग देता है।[1]

अथर्ववेद के भूमि-सूक्त (12/1) में कृषियोग्य भूमि का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है, जिस पर कोई भी कृषक गर्व कर सकता है। बार-बार की बुआई से भूमि की उर्वरा शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है अत: अथर्ववेद के एक मन्त्र में वैज्ञानिकों और कृषकों को प्रेरणा दी गई है कि उन्हें भूमि की शक्ति पर विशेष ध्यान देना चाहिए।[2]

वेदों में अनेक प्रकार के अन्नों को उत्पन्न करने का उल्लेख है, कृषि में बहुत अधिक प्रगति होने पर भी आज हमें इतने अन्न उपलब्ध नहीं हैं। वैदिक साहित्य में अन्न को ब्रह्म और प्राण कहा गया है। यह अन्न ही आर्यों का विशेष आहार था। यह भोजन बलदायक, जीवन-वर्धक, तेजोवर्धक तथा पुष्टिकारक वस्तुओं से सम्पन्न होता था। अन्न, फल, दुग्ध, घृत आदि से युक्त सात्विक एवं पुष्ट भोजन ग्रहण करने से आर्यों के विचार भी अत्यन्त सात्विक और उदात्त होते थे। वे बल, बुद्धि, पराक्रम में सबसे अग्रणी थे।

■ पशुपालन–

वैदिक संस्कृति, कृषि संस्कृति होने के साथ-साथ पशुपालन को अत्यन्त महत्व प्रदान करती है। पशुओं के बिना उन्नत खेती नहीं हो सकती। वैदिक जीवन एवं आर्थिक विकास में पशुओं का महत्वपूर्ण स्थान था। वर्तमान समय में वैज्ञानिक आविष्कारों से बने यन्त्रों ने पशुओं का स्थान ले लिया है, किन्तु वैदिक ऋषियों का पशुपालन को महत्व प्रदान करना सिद्ध करता है कि उनके चिन्तन में बहुत अधिक यान्त्रिकीकरण श्रेयस्कर नहीं है।

वेदों में विविध प्रकार के पशुओं के पालन की शिक्षा देते हुए भी सर्वाधिक महत्व गौ को दिया गया है। जैसे पृथिवी को माता कह कर पुकारा वैसे ही गाय को भी माता कहा गया है। गौ को संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के केन्द्र बिन्दु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह ऐश्वर्य,उत्तम बुद्धि, बल-वीर्य, कान्ति सब कुछ प्रदान करने वाली है। वेद में अनेक स्थानों पर प्रभु-भक्त याचक द्वारा गृहस्थ के अभीष्ट ऐश्वर्य में गौओं की अभ्यर्थना की गयी है। वह कहता है–

''मैं अपने इस घर (अस्तकम्) में गौओं का दूध लाता हूँ (आहरामि), धान्य और रस लाता हूँ, यहाँ वीर (पुरुष) आये हुए हैं और उनकी पत्नियाँ आयी हुई हैं।''[1]

वैदिक गृहस्थ दूध-घी से भरा हुआ है। वह गौ-प्रिय वैदिक गृहस्थ जब अपने रहने

---

1. वैदिक संस्कृति - पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 92-93

2. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ।। अथर्व. 12.1.7

के लिए सुन्दरशाला (घर) का निर्माण करता है तो उसको और-और ऐश्वर्यों से भरने के साथ **'गोमती-घृतवती पयस्वती'** (अथर्व. 3.12.2) और **'घृतमुक्षमाणा'** भी बनाता है। वह इन्द्र से प्रार्थना करता है- सम्राट् मुझे गौएं देवें, गौएं धन हैं, गौएं उत्कृष्ट सोम का भक्षण हैं। हे मनुष्यो जो गौएं हैं वे परमैश्वर्य हैं, मैं हृदय और मन से इस परमैश्वर्य को ही चाहता हूँ।[2]

गौओं के अतिरिक्त वृषभ, अश्व, अजा आदि अन्य पशुओं का विस्तृत वर्णन वेद-कालीन पशुपालन के महत्व को व्याख्यायित करता है।

उद्योग एवं व्यापार-

वेद उद्योग-धन्धों और व्यापार को कृषि का पूरक, सहायक मानते हुए राष्ट्र के भौतिक विकास के लिए उसे अनिवार्य मानता है। कृषि के लिए और मानव समाज को अच्छी प्रकार चलाने के लिए विविध प्रकार के साधनों और वस्तुओं की आवश्यकता होती है। ये साधन और वस्तुएँ उद्योग धन्धों से ही प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद में प्रार्थना आती है- 'हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना।'[3]

वेद-मन्त्रों में हिरण्य शब्द का बार-बार उल्लेख यह बताता है कि वेदकालीन समाज बहुत ऐश्वर्यशाली था। वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार के शिल्पों और उद्योगों का वर्णन मिलता है। **महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे** ने अपने **'धर्मशास्त्र का इतिहास'** नामक ग्रन्थ में 62 प्रकार के शिल्प-व्यवसायों ओर उद्योगों का उल्लेख किया है।

उस समय चर्म, धातु और वस्त्र जैसे बड़े-बड़े उद्योगों के अतिरिक्त छोटे-छोटे गृह-शिल्पों एवं कुटीर-उद्योगों का समस्त वैदिक भारत में विस्तार हो चुका था। गृहनिर्माण, रथनिर्माण और काष्ठकला में बहुत प्रगति हो चुकी थी।

नाना प्रकार के सूती, रेशमी, ऊनी वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। घर-घर में सूत कातने का कार्य होता था, जो स्वदेशी की भावना का परिचायक है। वस्त्रनिर्माण कला तत्कालीन संस्कृति और सभ्यता को अभिव्यंजित करती है।

व्यापार का विशद एवं सुन्दर रूप हमें वेदों में दिखाई देता है। इसका विवेचन छठे अध्याय में किया जा चुका है। व्यापार स्थल और जल दोनों प्रकार के मार्गो से होता था। बैल, घोड़ा, गाड़ी, रथ आदि का आवागमन के लिए प्रयोग किया जाता था। छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की नौकाओं द्वारा सामद्रिक व्यापार चलता था। अनेक प्रकार के सिक्के और मुद्राएँ प्रचलित थीं। व्यापार में ईमानदारी को श्रेष्ठ माना जाता था। इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक हो। यदि आयात अधिक हो तो देश का कोष दूसरे देशों में चला जायेगा। वैदिक ऋषि इस सिद्धान्त से परिचित थे।

---

1. *आ हरामी गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् ।*
   आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् । अथर्व. 2.26.5
2. *गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।*
   इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ऋग्. 6.28.5
3. *चोदय धियमयसो न धाराम् । ऋग्. 6.47.10*

व्यापार के लिए राज्य सुन्दर-सुन्दर राजमार्गो का निर्माण करे, सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करे, मध्य-मध्य में विश्राम एवं भोजनादि की सुव्यवस्था हो ऐसा निर्देश वेद-मन्त्रों में दिया गया है। राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह अनेक उपायों का अवलम्बन करके लोगों की व्यापार में रुचि उत्पन्न करे। जिस राष्ट्र के व्यापारियों की रुचि व्यापार में नहीं रहेगी वह देश समृद्ध नहीं हो सकेगा।

कर-व्यवस्था–

सातवें अध्याय में वेदप्रतिपादित करव्यवस्था का अध्ययन किया गया है। किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था में राज्य संचालन के लिए व्यापारियों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा कर रूप में धन दिया जाना अनिवार्य है। वेद मे कर-ग्रहण का स्पष्ट विधान है। न केवल व्यापार, उद्योग की आय में से अपितु कृषि, पशुपालन अथवा अन्य किसी भी प्रकार से जो आय होती है उसमें से कर लिया जाना चाहिए। जिससे कि राजा जनहितकारी कार्यों को ठीक प्रकार से सम्पन्न करता रहे। वर्तमान कर-व्यवस्था के समान वैदिक कर प्रणाली जटिल नहीं थी। आवश्यकतानुसार कर लिया जाता था। किसी पर इतना कर नहीं लगाया जाता था कि वह उसके भार से दब जाये। जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं वैसे राजा, प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर ग्रहण करे।

अथर्ववेद के एक मन्त्र (3.29.1) में सोलहवाँ भाग कर रूप में ग्रहण करने का उल्लेख है। आगे चलकर स्मृतिग्रन्थों में तथा महाभारत एंव कालिदास आदि की रचनाओं में इसकी मात्रा बढ़कर छठा भाग हो गई थी। राजा को **'षष्ठांशवृत्ति'** कहा जाने लगा था।

दुष्यन्त के शकुन्तला के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कण्व-ऋषि के आश्रम में प्रवेश के लिए कोई निमित्त पूछने पर विदूषक ने जब यह कहा कि आश्रम में उत्पन्न होने वाले नीवारादि का षष्ठ भाग लेने आये हैं, यह कहकर प्रवेश किया जा सकता है, तब दुष्यन्त कहता है–

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम् ।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ।।[1]

इससे यह ध्वनित होता है कि प्रजा की प्रत्येक आय में से राजा को भाग प्राप्त होता था।

वेदों के विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय ब्राह्मणों से कर लेना निषिद्ध माना गया है।

वेद में कृषि, पशुपालन, सिंचाई आदि पर भी कर लगाने का विधान है। राज्य द्वारा प्रजा से कर ग्रहण प्रजा-पीड़न अथवा भोग-विलास के लिए न होकर राष्ट्ररक्षा एवं जनकल्याणकारी कार्यो के लिए था।

इस प्रकार वैदिक-अर्थतन्त्र में भौतिकता और आध्यात्मिकता का सुन्दर समन्वय है। इस व्यवस्था में राष्ट्र को ऐश्वर्य के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ करने की मंगल कामना होते हुए उसमें आसक्त न होने का उपदेश अन्तर्निहित है। मानव का जन्म केवल अर्थ के

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2.12

लिए न होकर पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए है। धर्म के द्वारा प्राप्त किये गए धन से जो काम का उपभोग करता है वह मोक्ष का अधिकारी बनता है।

■ वेद के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता–

आधुनिक काल में संपूर्ण संसार अर्थ चिन्तन में डूबा हुआ है। बड़े-बड़े उद्योग हैं, व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं। विज्ञान के साथ नाना प्रकार के उत्पादनों में वृद्धि होती जा रही है, पुनरपि संसार में अशान्ति है। धनवान् दिन-प्रतिदिन अधिक धनवान बनते जा रहे हैं, जबकि निर्धन और अधिक निर्धन हो रहे हैं। व्यक्तियों का एक सीमित समूह असीमित सम्पत्ति का स्वामी बनकर उसका अमर्यादित भोग कर रहा है, वहीं दूसरी ओर जनसंख्या का अधिकांश भाग रोटी, कपड़ा और मकान आदि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित हो रहा है।

आज अर्थप्राप्ति के साधनों की पवित्रता नष्ट होती जा रही है। ऐसे में नैतिकता, धर्म और श्रमनिष्ठा पर आधारित वैदिक अर्थ व्यवस्था अनेक प्रकार की विषमता, वैमनस्य, कटुता से संत्रस्त मानवता की रक्षा कर सकती है। वेद समाज में सुख-शान्ति एवं ऐश्वर्य की भागीरथी प्रवाहित करना चाहता है, विषमता रहित, शोषणमुक्त, मानवीय जीवनमूल्यों में निष्ठा रखने वाले आदर्श समाज की रचना वैदिकव्यवस्था की संकल्पना है। अत: देश के शासकों और अर्थशास्त्रियों को वर्तमान आर्थिक ढाँचे का निर्माण करते समय वैदिक अर्थव्यवस्था से मार्गदर्शन अवश्य प्राप्त करना चाहिए और यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जो प्राचीन है वही श्रेयस्कर नहीं है और जो अर्वाचीन है वहीं निर्दोष नहीं है। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों में ग्राह्यतत्व हो सकते हैं, इसलिए वैदिक और आधुनिक चिन्तन के मधुर समन्वय से देश का भाग्योदय हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कविकुलगुरु कालिदास ने ठीक ही कहा है–

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तःपरीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्यनेयबुद्धिः ।।[1]

मुझे पूर्ण विश्वास है कि वेद-प्रतिपादित एवं वाल्मीकि, व्यास, मनु, चाणक्य, दयानन्दानुमोदित वैदिक अर्थव्यवस्था मानवता का कल्याण अवश्य करेगी।

□□

1. मालविकाग्निमित्रम् 1.2

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

01. ऋग्वेद संहिता - वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
02. ऋग्वेद भाष्य - स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
03. ऋग्वेद भाष्य - सायण, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर
04. ऋग्वेद भाषा भाष्य - पं. जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
05. यजुर्वेद संहिता - वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
06. यजुर्वेद भाष्य - स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
07. यजुर्वेद भाषा भाष्य - पं. जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
08. सामवेद संहिता - वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
09. सामवेद भाष्य - डॉ. रामनाथ वेदालंकार, समपर्णानंद शोधसंस्थान, साहिबाबाद
10. सामवेद भाषा भाष्य - पं. जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य सदन, अजमेर
11. अथर्ववेद संहिता - वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
12. अथर्ववेद सुबोध भाष्य - पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
13. अथर्ववेद भाषा भाष्य - पं. जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
14. शतपथ ब्राह्मण - पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, मेहरचंद लक्ष्मणदास, दिल्ली
15. ऐतरेय ब्राह्मण - सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता
16. तैत्तिरीय ब्राह्मण - सत्यव्रत सामश्रमी, मैसूर
17. पंचविंश ब्राह्मण - आनन्दचन्द्र, कलकत्ता, 1870
18. गोपथ ब्राह्मण - ग्रास्ट्रा, लीडेन, 1919
19. एकादशोपनिषद् - प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, देहली
20. उपनिषद् रहस्य - नारायण स्वामी, सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली
21. निरुक्तम् (दुर्ग-वृत्ति) - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि
22. वेदार्थ-दीपक निरुक्त भाष्य - चन्द्रमणि विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी
23. निरुक्त सम्मर्श - स्वामी ब्रह्ममुनि
24. निरुक्तशास्त्रम् - भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत
25. रामायण - वाल्मीकि, गीताप्रेस, गोरखपुर
26. महाभारत - वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर
27. श्रीमद्भगवद्गीता - गीताप्रेस, गोरखपुर
28. मनुस्मृति - पं. तुलसीराम, स्वामी प्रेस, मेरठ
29. शुक्रनीति - शुक्राचार्य, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
30. कौटिल्य अर्थशास्त्र - वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा, वाराणसी
31. रघुवंशमहाकाव्य - कालिदास, चौखम्बा, वाराणसी
32. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - कालिदास, चौखम्बा, वाराणसी
33. मृच्छकटिकम् - शूद्रक, चौखम्बा वाराणसी
34. मुद्राराक्षस - विशाखदत्त, चौखम्बा, वाराणसी

वेद-विषयक सहायक ग्रन्थ

35. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - स्वामी दयानन्द, अजमेर
36. सत्यार्थ प्रकाश - स्वामी दयानन्द, अजमेर
37. गोकरुणानिधि - स्वामी दयानन्द, अजमेर
38. वेदों का यथार्थ स्वरूप - पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, दयानंद संस्थान, दिल्ली
39. वैदिक संस्कृति के मूल तत्व - प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

40. वैदिक सम्पत्ति - पं. रघुनन्दन शर्मा, बम्बई
41. वैदिक सम्पदा - पं. वीरसेन वेदश्रमी, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली
42. वैदिक इतिहास विमर्श - आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
43. वेदकालीन समाज - डॉ. शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्बा, वाराणसी
44. वैदिक संस्कृति - पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
45. वेद का राष्ट्रिय गीत - आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी
46. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त - आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
47. वेद और उसकी वैज्ञानिकता - आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
48. वैदिक साहित्य और संस्कृति - बलदेव उपाध्याय, वाराणसी
49. वैदिक वाङ्मय का इतिहास - पं. भगवद्दत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत
50. वैदिक कोश - डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री, मेहरचन्द लछमन दास, दिल्ली
51. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था - डॉ. श्यामलाल पाण्डेय, हिन्दी समिति, लखनऊ
52. आर्ष-ज्योति - डॉ. रामनाथ वेदालंकार, समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद
53. वैदिक मधुवृष्टि - डॉ. रामनाथ वेदालंकार, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली
54. वेदों में मानववाद - डॉ. दिलीप वेदालंकार, बडोदरा
55. वैदिक स्वराज्य की शासन पद्धति - डॉ. कान्तिकिशोर भरतिया, कानपुर
56. अथर्ववेद-कालीन संस्कृति - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी
57. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिकयुग - डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, देहली
58. हिन्दू संस्कार - राजबली पाण्डेय, वाराणसी
59. वैदिक साहित्य और संस्कृति - वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा, देहली
60. वैदिक युग के भारतीय आभूषण - राय गोविन्द चन्द, चौखम्बा
61. वेदों में भारतीय संस्कृति - आद्यादत्त ठाकुर, हिन्दी समिति, लखनऊ
62. धर्मशास्त्र का इतिहास - डॉ. पी.वी. काणे
63. स्वामी दयानन्द का आर्थिक चिन्तन - डॉ. रामकृष्ण आर्य, कोटा
64. भारतीय अर्थशास्त्र - डी.एस. कुशवाहा, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद
65. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति - अनन्त सदाशिव अल्तेकर, इलाहाबाद
66. संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय, वाराणसी
67. संस्कृतसाहित्य का समीक्षात्मक इतिहास - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद
68. वैदिक समाजवाद - पं. वीरसेन वेदश्रमी, दयानन्द संस्थान, दिल्ली
69. वैदिक कोष - राजबीर शास्त्री, देहली
70. नवजागरण के पुरोधा महर्षि दयानन्द - डॉ. भवानीलाल भारतीय, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
71. आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व - सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, देहरादून
72. कायाकल्प - स्वामी समर्पणानन्द, आर्योदय विशेषांक, दिल्ली
73. Dayanand and Veda - Shri Aurobindo
74. Hindu Polity - K.P. Jasiwsal] Bangalore
75. India : What it can - Prof. Maxmuller Teach us
76. The Vedic Age - Itihas Samiti, Bhartiya Vidya Bhawan
77. Vedic Index - Prof. Macdonnel and A.B. Keith
78. Vedic Concordance - Bloom Field